निबन्ध-निचय

लेखक :

पं० कल्याणविजयजी गणि

श्री मांडवला निवासी श्रीमान् कुन्दनमलजी तलाजी तथा

श्रीमान् छगनराजजी तलाजी दांतेवाड़िया की

आर्थिक सहायता से

श्री कल्याणविजय शास्त्र-संग्रह समिति, जालोर के

व्यवस्थापकों ने छपवाकर प्रकाशित किया।

वीर संवत् २४९१ वि० सं० २०२१ ईसवी सन् १९६५

प्रथमावृत्ति कॉपी १०००

मूल्य रु० ३)

लेखक का प्रास्ताविक वक्तव्य :

"निबन्ध-निचय" वास्तव में हमारे प्रकीर्णक छोटे-बड़े लेखों का संग्रह है। इसमें के लेख नं० ७-८-९-११-१७ ये निबन्ध विस्तृत साहित्य-समालोचनात्मक हैं। नं० १०वां १२-१३-१४-१५-१६-१८ ये लेख जैन श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य के समालोचनात्मक लघु लेख हैं तब निबन्ध १९वां श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्रतिक्रमण सूत्रों में चिरकाल से रूढ़ और आधुनिक सम्पादकों के अनाभोग से प्रविष्ट अशुद्धियों की चर्चा और स्पष्टीकरण करने वाला विस्तृत लेख है।

प्रारम्भ के १ से ६ तक के लेख भी श्वेताम्बर प्राचीन जैन साहित्य के अवलोकनात्मक लेख हैं। "प्राचीन जैन तीर्थ" नामक निबन्ध में जैन-सूत्रोक्त १० तीर्थों का शास्त्रीय ऐतिहासिक निरूपण है।

२१वां निबन्ध "मारवाड़ की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ" ता० १५-८-१९३९ का लिखा हुआ, २२वां प्रतिष्ठाचार्य निबन्ध ता० १९-८-५५ का लिखा हुआ और निबन्ध २३वां ता० २७-७-४१ का लिखा हुआ है। ये तीनों लेख समालोचनात्मक और विस्तृत हैं।

२४ और २५वां ये दोनों निबन्ध समालोचनात्मक और खास पाठनीय हैं। निबन्ध २७वां तिथि-चर्चा सम्बन्धी गुप्त रहस्य प्रकट करने वाला है।

निबन्ध २७ से लेकर ३९ तक के १३ दिगम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य की मीमांसा सम्बन्धी है। इनमें से अनेक निबन्ध ऐतिहासिक ऊहापोहात्मक होने से विशेष उपयोगी हैं। षट्खण्डागम, कषायपाहुड, कषायपाहुडचूर्णि, भगवती आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थों के कर्ता तथा इनके निर्माणकाल का ऊहापोह और निर्णय करने का यत्न किया है।

"निचय" के निबन्ध ४०, ४१, ४२, ४३, ४४ में क्रमशः कौटिल्य अर्थशास्त्र, सांख्यकारिका, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, स्मृतिसमुच्चय और आह्निकसूत्रावली का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन लिखा है।

आशा है पाठकगण "निबन्ध-निचय" के पढ़ने से अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, यही नहीं बल्कि ऐतिहासिक ग्रन्थियों को सुलझाने की शक्ति भी शनैः शनैः प्राप्त करेंगे।

कल्याणविजय

धन्यवाद :

मांडवला नगरनिवासी श्रीमान् कुन्दनमलजी, छगनराजजी, भँवरलालजी, जीतमलजी, पारसमलजी, गरणपतराजजी, थानमलजी, भंवर-लालजी, रमेशकुमारजी पुत्र पौत्र श्री तलाजी दांतेवाड़िया योग्य :

आप श्रीमान् समय २ पर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते है, ज्ञान-प्रचार के लिए भी आप अपने द्रव्य का व्यय करने में पीछे नहीं रहते। दो वर्ष पहिले पू० पन्यासजी महाराज श्री कल्याणविजयजी गरिण, श्री सौभाग्यविजयजी, मुनि श्री मुक्तिविजयजी का मांडवला में चातुर्मास्य हुआ तब पन्यासजी महाराज को ग्रन्थ तैयार करते देखकर ग्रन्थ का नाम पूछा। महाराज ने कहा—३ ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं। आपने ग्रन्थों के नाम पूछे, तब महाराज ने कहा : १ पट्टावली पराग, २ प्रबन्धपारिजात और ३ निबन्ध-निचय नामक ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं। आपने तीनों ग्रन्थों के नाम नोट कर लिये और कहा : ये तीनों ग्रन्थ हमारी तरफ से छपने चाहिये। महाराज ने वचनबद्ध न होने के लिए बहुत इन्कार किया पर आप सज्जनों के अत्याग्रह से पन्यासजी महाराज को वचनबद्ध होना पड़ा। आपकी इस उदारता और ज्ञान-भक्ति को सुनकर हमको बहुत आनन्दाश्चर्य हुआ। आपकी इस उदारता के बदले में हम आपको धन्यवाद देने में गौरव का अनुभव करते हैं।

हम हैं आपके प्रशंसक।
शाह मुनिलाल थानमलजी
एवं समिति के अन्य सदस्य।

निबन्धों में मीमांसित अन्तर्गत ग्रन्थों और
: : : विषयों की नामावली : : :

२०वें निबन्ध में :

२१वें निबन्ध में :

२२वें निबन्ध में :

* *

श्री हरिभद्रीय सटीक अनेकान्तजयपताका में
: : : ऐतिहासिक नाम : : :

पृष्ठ ६ सर्वज्ञ-सिद्धि-टीका।
" ८ कुक्काचार्यादिभिरस्मद्वंशजै०।
" ४२ कुक्काचार्यादिचोदितं।
" ५८ मल्लवादिना सम्मतौ।
" १०५ उक्तं च = धर्मकीर्तिना इति वार्तिके।
" ११६ उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ॥ विशेषस्तु सर्वज्ञ-सिद्धिटीकातोऽवसेयः॥
" १३५ उक्तं च धर्मकीर्तिना।
" २०० धर्मकीर्तिर्वार्तिके।
" २२६ एतेन यदाह न्यायवादी = धर्मकीर्तिर्वार्तिके।
" ३३४ आह च न्यायवादी = धर्मकीर्तिः॥ (मू०)—वः पूर्वाचार्यैः भदन्त-दिन्नप्रभृतिभिः॥
" ३३७ (मू०) यथोक्तम्—भदन्त दिन्नेन॥ यथोक्तम् = वार्तिकानुसारिणा शुभगुप्तेन॥
" ३४७ उक्तं च न्यायवादिना = धर्मकीर्तिना॥
" ३५७ तथा चाहुर्वृद्धाः = वृद्धाः = शब्दार्थव्यवहारविदः पाणिनीयाः॥
" ३६६ आह च शब्दार्थतत्त्ववित् = भर्तृहरिः॥
" ३६८ यदाह = भाष्यकारः॥
" ३७५ आह च वादिमुख्यः = समन्तभद्रः॥
" ३८५ आह च भाष्यकारः = पतञ्जलिः॥
" ३८७ उक्तं भर्तृहरिणा॥
" ३८८ भाष्यकारः = पतञ्जलिः॥

पृष्ठ ३८२ एवं शब्दब्रह्मपरिवर्तमात्रं जगत् इति प्रलापमात्रम् ॥
,, ३३ पूर्वाचार्यैः = अजितयशःप्रभृतिभिः ॥
,, ३६ पूर्वाचार्यैः = धर्मपाल–धर्मकीर्त्यादिभिः ॥
,, ३६ न्यायवादो = धर्मकीर्तिः ॥
,, ४६ सर्वज्ञसिद्धौ ॥
,, ६८ निर्णीतमेतद् गुरुभिः प्रमाणमीमांसादिषु ॥
,, ६६ न्यायवादी = धर्मकीर्तिः ॥
,, १२६ उक्तं च धर्मकीर्तिना ॥
,, १३० धर्मकीर्तिना = भवत्तार्किकचूडामणिना ॥
,, १३१ स्वयूथ्यैः = दिवाकरादिभिः सन्मत्यादिषु इति ॥
,, १७४ धर्मकीर्तिनाऽप्यभ्युपगतत्वात्, हेतुबिन्दौ ॥
,, २२० तथा चार्षम्–"सो हु तवो कायव्वो०" ॥

निबन्धों की नामावली :

क्रम संख्या	नाम	पृष्ठ संख्या
२४	जैन संघ के बंधारण की अशास्त्रीयता	२३४
२५	बंधारणीय शिस्त के हिमायतिओं को	२४८
२६	तिथिचर्चा पर सिंहावलोकन	२५२
२७	षट्खण्डागम	२७१
२८	धवला की प्रशस्ति	२७४
२९	मूलाचार सटीक	२८०
३०	पंचसंग्रहग्रन्थ	२८६
३१	अकलंकग्रन्थत्रय	२८८
३२	प्रमाणसंग्रह	२८९
३३	श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	२९०
३४	आप्तपरीक्षा और पत्रपरीक्षा	२९२
३५	आप्तमीमांसा	२९३
३६	प्रमाणपरीक्षा	२९४
३७	प्रमेयकमलमार्तण्ड	२९५
३८	भद्रबाहुसंहिता	२९७
३९	हरिवंशपुराण और आचार्य जिनसेन	२९८
४०	श्री कौटिलीय-अर्थशास्त्र	३१९
४१	सांख्य-कारिका	३२२
४२	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	३२४
४३	स्मृतिसमुच्चय	३२७
४४	आह्निक सूत्रावली	३३१

卐 श्री 卐

निबन्ध-निचय

प्रथम खण्ड

卐 卐

श्वेताम्बर जैन साहित्य

का

अवलोकन

卐

: १ :

हरिभद्रसूरिकृता स्वोपज्ञटीका सहिता

अनेकान्तजयपताका
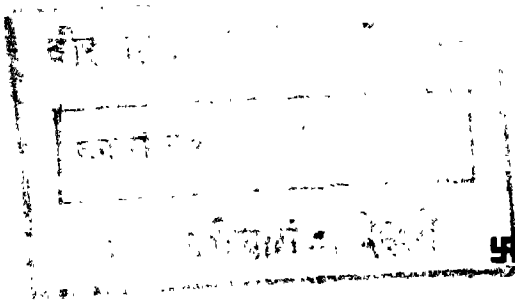
[प्रथम भाग]

पृ० ६. "सर्वज्ञसिद्धिटीका," पूर्वगुरुभिः = चिरन्तनवृद्धैः,

,, ८. पूर्वसूरिभिः = पूर्वाचार्यैः सिद्धसेनदिवाकरादिभिः । ह्यनिन्द्यो मार्गः पूर्वगुरुभिश्च कुक्काचार्यादिभिरस्मद्वंशजैराचरित इति ॥

,, ६. स्वशास्त्रेषु = (सम्मत्यादिषु) ॥

,, १०. निष्कलंकमतयः = बौद्धाः ॥

,, ४२. कुक्काचार्यादिचोदितं प्रत्युक्तं—निराकृतम् इति सूक्ष्मधिया भावनीयम् ॥

,, ५८. (मू०—) उक्तं च वादिमुख्येन = मल्लवादिना सम्म (न्य) तौ—स्वपरेत्यादि ॥

,, १०५. (मू० च) उक्तं च = धर्मकीर्तिना इति वार्तिके ॥

,, ११६. (मू०) उक्तं च वादिमुख्येन, = श्रीमल्लवादिना सम्मतौ ॥ विशेषस्तु सर्वज्ञसिद्धिटीकातोऽवसेयः ॥ टीकायाम् ॥

,, १३५. उक्तं च धर्मकीर्तिना ॥

,, २००. (मू०) आह च न्यायवादी = धर्मकीर्तिर्वार्तिके ॥

,, २२६. (मू०) एतेन यदाह न्यायवादी = धर्मकीर्तिर्वार्तिके ॥

,, ३३४. (मू०) आह च न्यायवादी = धर्मकीर्तिः ॥ (मू०)–वः पूर्वाचार्यैः भदन्तदिन्नप्रभृतिभिः ॥

,, ३३७. (मू०) यथोक्तम्—भदन्तदिन्नेन ॥ (मू०) यथोक्तम् = वार्तिकानुसारिणा शुभगुप्तेन ॥

,, ३४७. (मू०) उक्तं च न्यायवादिना = धर्मकीर्तिना ॥

पृ० ३५७. (मू०) तथा चाहुर्वृद्धाः, = वृद्धाः = शब्दार्थव्यवहारविदः पाणिनीयाः ॥
,, ३६६. (मू०) आह च शब्दार्थतत्त्ववित् = भर्तृहरिः ॥
,, ३६८. (मू०) यदाह, = भाष्यकारः ॥
,, ३७५. (मू०) आह च वादिमुख्यः, = समन्तभद्रः ॥
,, ३८५. (मू०) आह च भाष्यकारः—पतञ्जलिः ॥
,, ३८७. उक्तं भर्तृहरिणा ॥
,, ३८८. भाष्यकारः = पतञ्जलिः ॥
,, ३८२. एवं शब्दब्रह्मपरिवर्तमात्रं जगत् इति प्रलापमात्रम् ॥ (मू०)

[दूसरा भाग]

पृ० ३३. पूर्वाचार्यैः = अजितयशःप्रभृतिभिः ॥
,, ३६. पूर्वाचार्यैः = धर्मपाल–धर्मकीर्त्यादिभिः ॥
,, ३९. (मू०) न्यायवादी = धर्मकीर्तिः ॥
,, ४९. (मू०) सर्वज्ञसिद्धौ ॥
,, ६२. विंशिकोक्तवचनसमर्थनात् ॥
,, ६८. (मू०) निर्णीतमेतद् गुरुभिः प्रमाणमीमांसादिषु ॥
,, ९९. (मू०) न्यायवादी = धर्मकीर्तिः ॥
,, ११५. (मू०) इत्यादि वार्तिककारेणोक्तं तदुक्तिमात्रमेव ॥
,, १२६. उक्तं च धर्मकीर्तिना ॥
,, १३०. (मू०) धर्मकीर्तिना = भवत्तार्किकचूडामणिना ॥
,, १३१. (मू०) स्वयूथ्यैः = दिवाकरादिभिः सन्मत्यादिषु इति ॥
,, १७४. (मू०) धर्मकीर्तिनाऽप्यभ्युपगतत्वात्, हेतुबिन्दौ ॥
,, १७६. (मू०) यथाऽऽह न्यायवादी = धर्मकीर्तिः ॥
,, २२०. तथा चार्षम्—"सो हु तवो कायव्वो०" ॥
,, २२०. "कायो न केवलमयं परितापनीयो,
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः ।
चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु,
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम्" ॥
,, २४१. सितपटहरिभद्रग्रन्थसन्दर्भगर्भं,
विदितमभयदेवं निष्कलङ्काकलङ्कम् ।

सुगतमतमथालंकार पर्यन्तमुच्चै--
स्त्रिविधमपि च तर्कं वेत्ति यः साङ्ख्य-भट्टौ ॥४॥
श्रीमत्संगमसिंहसूरिसुकवेस्तस्यांघ्रिसेवापरः,
शिष्यः श्रीजयसिंहसूरिविदुषस्त्रैलोक्यचूडामणेः ।
यः श्री 'नागपुर' प्रसिद्धसुपुरस्थायी श्रुतायाऽऽगतः,
श्लोकान् पंच चकार सारजडिमाऽसौ यक्षदेवो मुनिः ॥५॥
मूलश्लोकपुराण ग्र० ३७५० ॥

आचार्य हरिभद्र के आगमिक दार्शनिक साहित्यिक आदि अनेक विषय के ग्रन्थ पढ़े, लेकिन अनेकान्तजयपताका में तथा उसकी स्वोपज्ञ टीका में जितने जैन जैनेतर ग्रन्थकारों के नामनिर्देश मिले, उतने अन्यत्र कही नहीं, आचार्य श्री ने अपने पूर्वज कुक्काचार्य का दो स्थान पर नामनिर्देश किया, वादिमुख्य के नाम से सम्मतिटीकाकार मल्लवादी का दो जगह पर नाम निर्देश किया है, वादिमुख्य इस नाम से समन्तभद्र को भी याद किया है। अजितयशः प्रभृति से श्वेताम्बर आचार्य का नामोल्लेख किया है, सम्मतिकार के रूप में सिद्धसेन दिवाकर को भी याद किया है। "प्रमाण-मीमांसा", "सर्वज्ञसिद्धि" और "सर्वज्ञसिद्धि टीका" का भी अनेक बार उल्लेख किया है, इनमें से सर्वज्ञसिद्धि, तथा सर्वज्ञसिद्धि टीका—ये दो ग्रन्थ इनके खुद के मालूम होते हैं। तब "प्रमाण-मीमांसा" इनके गुरु अथवा प्रगुरु की होगी ऐसा उल्लेख से पता लगता है, जैनेतर विद्वानों में महाभाष्यकार पतञ्जलि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और महर्षि पाणिनि, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शुभगुप्त, भदन्तदिन्न, इन नामों का उल्लेख किया है। वसुबन्धु की विंशिका तथा असंग के ग्रन्थ के अवतरण दिये हैं, धर्मकीर्ति का तथा उसके प्रमाण-वार्तिक का बार-बार उल्लेख किया है, परन्तु प्रमाण-वार्तिक के भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त, जो विक्रम की अष्टमी शती के ग्रन्थकार हैं, इनके अथवा इनके ग्रन्थ का कहीं नाम निर्देश नहीं किया, इससे ज्ञात होता है, कि आचार्य हरिभद्र की सत्ता विक्रम की अष्टम शती के मध्य भाग तक रही होगी, जब कि प्रज्ञाकर गुप्त की कारकीर्दी शुरु नहीं हुई थी।

卐 卐

: २ :

योग-बिन्दु सटीक

श्रीहरिभद्र सूरि रचित

❖

योगबिन्दु-ग्रन्थ में कुल ५२६ कारिकाएं हैं। दो स्थलों पर मूल कारिका में "अविद्या" शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि अविद्या शब्द बौद्धों के विज्ञानवाद में भी आया करता है, परन्तु कारिका ५१२ वी में पुरुषाद्वैत तथा कारिका ५१५ वीं में समुद्र तथा उर्मियों के एकत्व का आचार्य ने खण्डन किया है, इससे ज्ञात होता है, आचार्य हरिभद्रसूरि के समय में उपनिषदों का वेदान्तवाद प्रचलित हो चुका था।

ग्रन्थ की उपान्त्य कारिका में आचार्य ने अपना स्पष्ट रूप से नाम उल्लेख किया है और अन्तिम कारिका ५२६ वीं में "भवान्ध्य-विरहात्" इस प्रकार अपना नियत अंक भी लिख दिया है, परन्तु इसकी टीका स्वोपज्ञ होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। टीका का प्रारम्भिक मंगल भी हरिभद्र के मंगल की पद्धति के अनुसार नहीं है। टीका में "पडिसिद्धाणं करणे०" यह गाथा आगम के नाम से उद्धृत की है, जब कि आचार्य हरिभद्र सूरिजी के जीवनकाल के पूर्व "वन्दित्तु" सूत्र निर्मित होना प्रमाणित नहीं होता, इसके अतिरिक्त टीका में बहुत से उल्लेख ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जो इसकी प्राचीनता के बाधक है, अन्त में टीकाकार ने "भगवतो हरिभद्रसूरेः" यह जो शब्दप्रयोग किया है इससे टीका हरिभद्र कृत नहीं, यही साबित होता है।

पुस्तक-सम्पादक डा० स्वेली बे टीकाकार का नाम निर्देश नहीं किया, इससे भी यही ज्ञात होता है, वे इस टीका को हरिभद्रकृत नहीं मानते थे।

卐 卐

: ३ :

योग दृष्टि समुच्चय-सटीक

❖

"योगदृष्टिसमुच्चय" भी आचार्य हरिभद्र की कृति है, जो १२६ कारिकाओं में पूरी होती है।

इसकी टीका को सम्पादक सुएली ने स्वोपज्ञ माना है, क्योंकि इसके अन्त में "कृतिः श्री श्वेतभिक्षोराचार्यश्रीहरिभद्रस्येति" यह वाक्य लिखा मिलता है, परन्तु यह वाक्य टीका के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, यह सूचना मूल कृति के लिए ही है।

योगदृष्टिसमुच्चय की १२८ वीं कारिका में "सदाशिवः परं ब्रह्म" इस प्रकार उपनिषदों के "पर ब्रह्म" का उल्लेख भी मिलता है।

टीका में अर्वाचीनता-साधक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता, फिर भी टीका का प्रारंभिक आडम्बर हरिभद्र की कृति होने में शंका उत्पन्न करता है।

卐 卐

: ४ :

जैन तर्क वार्तिक

❖

श्री शान्त्याचार्य विरचितवृत्ति सहितम्

"जैनतर्कवार्तिक" शान्त्याचार्य की कृति है, ग्रन्थकार ने अपने सत्ता-समय का कुछ भी सूचन नहीं किया, वृत्ति की प्रशस्ति में आपने अपने को चन्द्रकुलीन आचार्य वर्द्धमान का शिष्य बताया है, और अपने गुरु को रत्नांबुधि बतलाया है, इससे इतना तो सिद्ध होता है कि प्रस्तुत शान्तिसूरि तथा इनके गुरु वर्द्धमानाचार्य संविग्न विहारी थे, जिनेश्वरसूरि के गुरु वर्द्धमान सूरि तथा नवांगीवृत्तिकार अभयदेव सूरि के मुख्य शिष्य का नाम भी वर्द्धमान सूरि था, ये भी संविग्न विहारी थे, इस परिस्थिति में जैनतर्कवार्तिककार कौन से वर्द्धमान सूरि के शिष्य होंगे, यह कहना कठिन है, परन्तु प्रथम वर्द्धमान सूरि के अनेक शिष्यों प्रशिष्यों का जिनदत्त सूरि ने अपने गणधरसार्द्धशतक में नाम निर्देश किया है, परन्तु उसमें शान्त्याचार्य का नाम नहीं मिलता, परिशेषात् द्वितीय वर्धमान सूरि के शिष्य ही शान्त्याचार्य होंगे, ऐसा अनुमान करना पडता है, यद्यपि प्रथम वर्द्धमान सूरि के समकालीन एक और भी शान्तिसूरि हुए हैं, परन्तु यह कृति उनकी होने में हमें विश्वास नहीं बैठता, एक तो ये थारापद्र गच्छ के थे, दूसरा इनके गुरु का नाम वर्द्धमान सूरि नहीं था, तीसरा वे बड़े प्रौढ़ तार्किक विद्वान् थे। जैनतर्कवार्तिक उनकी कृति होती तो इस का विस्तार तथा स्वरूप और ही होता, जो कि प्रस्तुत वार्तिक भी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है, फिर भी इसका कलेवर बहुत छोटा है, बौद्धों, जैन विद्वानों, नैयायिकों और मीमांसक विद्वानों ने वार्तिक नाम से जो ग्रन्थ बनाये हैं, वे सभी गम्भीर और आकर ग्रन्थ हैं, इससे मानना पडता है, इस प्रस्तुत न्यायवार्तिक के कर्त्ता थारापद्र गच्छीय शान्तिसूरि नहीं हो सकते।

मुद्रित जैनतर्कवार्तिक के सम्पादकीय वक्तव्य में सम्पादक पं० विट्ठल **शास्त्री लिखते हैं—"शान्त्याचार्य** ने सिद्धसेन के जैनतर्कवार्तिक पर यह वृत्ति लिखी है," परन्तु वास्तव में यह बात नहीं हैं, जैनतर्कवार्तिक के चारों परिच्छेदों की मूल कारिकाएं भी शान्त्याचार्य की रचना है,—

"तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि, सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ १ ॥"

इस वाक्य में उल्लिखित "सिद्धसेनार्क-सूत्रितम्" इन शब्दों से सम्पादक को सिद्धसेनकृति होने का भ्रम हो गया है। वास्तव में इन शब्दों का अर्थ यह है कि "सिद्धसेन के ग्रन्थों में जिस प्रमाण का सूत्रण हुआ है उसी का भाव लेकर मैं जैनतर्कवार्तिक को कह रहा हूं। ऐसा **शान्त्याचार्य** का कथन है।

प्रत्यक्ष परिच्छेद के अन्त में शान्त्याचार्य स्वयं कहते हैं—सिद्धसेन निर्मित ग्रन्थों की वाणी रूपी सिद्धशलाका को पाकर मैं ने इस प्रकरण को निर्मल बनाया, इस कथन से स्पष्ट हो जाता है, कि जैनतर्कवार्तिक शान्त्याचार्य की खुद की कृति है।

शान्त्याचार्य अपने स्वोपज्ञ जैनतर्कवार्तिक की वृत्ति में कहते हैं—चूडामणि, केवलि-प्रमुख अर्हत्प्रणीत है, वे उसी स्थल पर "सर्वज्ञवाद टीका" में आई हुई प्रमाण परिच्छेद की एक मूल कारिका में आए हुए "एके" इस शब्द का परिचय देते हुए लिखते हैं कि "एके" "अनन्तवीर्यादयः" इससे निश्चित हो जाता है, जैनतर्कवार्तिक मूल शान्त्याचार्य की कृति है, सिद्धसेन की नहीं। अनन्तवीर्य का समय दिगम्बर विद्वान् ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास होने का अनुमान करते हैं, जब कि सिद्धसेन संभवतः पंचम शताब्दी से पहले के हैं, इस दशा में सिद्धसेन के ग्रन्थ में अनन्तवीर्य के मन्तव्य का उल्लेख नहीं हो सकता। शान्त्याचार्य ने अपनी वार्तिक वृत्ति में विन्ध्यवासी, धर्मकीर्ति, नयचक्रकार के नामों का भी उल्लेख किया है।

卐 卐

: ५ :

जयसिंह सूरि विरचित

धर्मोपदेश माला-प्रकरण

इस माला में मूल ६८ गाथाएं हैं जिनमें १५८ दृष्टान्तों का सूचन किया गया है और इसके विवरणकार स्वयं ग्रन्थकार हैं। विवरण में कुछ विस्तार से, कुछ मध्यम विस्तार से दृष्टान्त वर्णन किये हैं, तब कुछ दृष्टान्तों के नाम मात्र निर्दिष्ट किये हैं। दृष्टान्त सर्व प्राकृत भाषा में हैं, केवल गाथा की व्याख्या संस्कृत भाषा में है। बहुत से दृष्टान्तों का विशेष विवरण जानने के लिए "उपदेशमाला का विवरण" देखने की सूचना की हैं, इससे जाना जाता है कि जयसिंह सूरि ने धर्मदास गणि की उपदेशमाला पर विस्तृत टीका लिखी होगी।

ग्रन्थ के अन्त में जम्बू से देववाचक तक स्थविरावली और अपनी गुरु-परम्परा गाथाओं में दी है। ग्रन्थ की समाप्ति सं० ६१५ के भाद्रपद शुक्ला पंचमी के बुधवार को की है।

ग्रन्थ में ऐतिहासिक नाम-स्थविरावलियों के अतिरिक्त श्री वंदिकाचाय, सिद्धसेन दिवाकर तथा वाचकमुख्य (उमास्वाति) ये तीन आये हैं।

जातक का नामकरण करने के सम्बन्ध में एक स्थान पर बारहवें दिन और अन्यत्र मास के बाद करने का लिखा है।

ज्योतिष के सम्बन्ध में निर्देश करते हुए "लग्न" का निर्देश कहीं नहीं किया, किन्तु 'वार' का निर्देश ग्रन्थ की समाप्ति में अवश्य किया है।

卐 卐

: ६ :

सुपासनाहचरिय

श्री लक्ष्मण गणि विरचित

❖

संपादक तथा छायालेखक : पं० हरगोविन्ददास

यह चरित्र हर्षपुरीय गच्छ के विद्वान् लक्ष्मण गणि ने वि० सं० ११९९ के माघ शुक्ल दशमी गुरुवार के दिन मंडली (मांडल) नगर में रचा है।

चरित्र का गाथा-प्रमाण लगभग सात हजार से अधिक है जिसका अनुष्टुप श्लोक प्रमाण १०१३८ है।

चरित्र की प्राकृत भाषा प्रासादिक तथा प्रांजल है, बीच-बीच प्राकृत तथा संस्कृत भाषा में चुभने वाले सुभाषित पद्य भी उपलब्ध होते हैं।

चरित्र में सातवें तीर्थङ्कर श्री सुपार्श्वनाथ का जीवनचरित्र, उनके चतुर्विध संघ के वृतान्त के साथ दिया है, चरित्र के कुल ५०२ पानों में से ८२ पानों में भगवान् का जीवन-चरित्र सम्पूर्ण हुआ है, तब शेष ४२१ पानों में केवल औपदेशिक कथानक हैं। सम्यक्त्व से लेकर बारह व्रत और उनके प्रत्येक अतिचार पर एक एक तथा एकाधिक दृष्टान्त लिखे गए हैं जिनमें अधिकांश ग्रन्थ पूरा हुआ है।

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने अपना परिचय देने वाली एक प्रशस्ति भी दी है, जिसके आधार से आपके पूर्व गुरुओं का तथा गच्छ का परिचय इस प्रकार मिलता है—आपने अपने आदि गुरु का नाम 'जयसिंह सूरि' उनके शिष्य का नाम 'अभयदेव सूरि' और उनके शिष्य का नाम 'हेमचन्द्र सूरि' बताया है। प्रश्नवाहन कुल और हर्षपुरीय-गच्छ के आदि

पुरुष 'जयसिंह सूरि', 'अभयदेव सूरिजी' और 'हेमचन्द्र सूरि' ये महान् विद्वान् होने के अतिरिक्त महान् त्यागी तथा राज-मान्य भी थे।

आचार्य हेमचन्द्र के चार विद्वान् शिष्य थे, पहले श्रीचन्द्र सूरि, दूसरे विबुधचन्द्र सूरि, तीसरे पद्मचन्द्र उपाध्याय और चौथे श्री लक्ष्मण गणि।

श्री लक्ष्मण गणि ने अपने उपर्युक्त तीन गुरु-भ्राताओं की प्रेरणा से प्रस्तुत "सुपार्श्वनाथचरित्र" का निर्माण किया है, ग्रन्थकर्ता ने इसमें रही हुई क्षतियों को सुधारने के लिए प्रार्थना की है जो एक शिष्टाचार रूप है, क्योंकि आपकी यह कृति निर्दोष और विद्वद्भोग्य है, प्राकृत के अभ्यासियों को इसके पढ़ने से आनन्द आने के साथ, प्राकृत भाषा का ज्ञान विशद होने का भी लाभ मिल सकता है।

卐 卐

: ७ :

श्री पिण्डनिर्युक्ति और पिण्डविशुद्धि

❖

(१) अवचूरि-क्षमारत्न कृता
(२) टीका-वीरगणि कृता (त्रुटिता)
(३) दीपिका-माणिक्यशेखर कृता (त्रुटिता)

पिण्डनिर्युक्ति जैन श्रमण श्रमणियों के ग्राह्य भोग्य पेय आहार पानी का निरूपण करने वाला एक प्राचीन निबन्ध है, इस पर अनेक पूर्वाचार्यों ने टीकाएँ लिखी थीं, परन्तु अब वे सब पूर्ण रूप से नहीं मिलती, आचार्य श्री मलयगिरिजी ने पिण्डनिर्युक्ति पर टीका लिखी है और वह छप भी गई है, परन्तु इस टीका का अवलोकन पृथक् लिखा गया है, इसलिए यहाँ इसकी चर्चा नहीं करेंगे, यहाँ पर अंचल-गच्छीय विद्वान् क्षमारत्न की अवचूरि, सरवाल-गच्छीय वीरगणि की शिष्यहिता नामक टीका और अंचल-गच्छीय मेरुतुंगाचार्य के शिष्य माणिक्यशेखर की दीपिका; इन तीन टीकाओं के सम्बन्ध में कुछ लिखेंगे।

सामान्य रूप से टीकाकार पिण्डनिर्युक्ति को श्रुतधर श्री भद्रबाहुस्वामी की कृति मानते हैं, परन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं है, क्योंकि इसमें भद्रबाहु के परवर्ती आचार्य आर्यसमित, तथा नागहस्ती के शिष्य आचार्य श्री पादलिप्त सूरि के वृत्तान्त आते हैं, इससे हमारी मान्यता के अनुसार यह निर्युक्ति विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के बाद की हो सकती है।

(१) पिण्डनिर्युक्ति की अवचूरि के कर्त्ता श्री क्षमारत्नजी श्री विधिपक्ष गच्छ (अंचलगच्छ) के आचार्य श्री जयकीर्ति सूरिजी के शिष्य थे,

अवचूरिकार ने अपनी कृति का निर्माणसमय सूचित नहीं किया, फिर भी वे विक्रम की पन्द्रहवीं शती के व्यक्ति हो सकते हैं, क्योंकि इनके गुरु श्री-जयकीर्ति सूरि का भी यही समय है।

यह अवचूरि निर्युक्ति की बृहद् वृत्ति को देख कर उसे गम्भीरार्थ जानकर इन्होंने निर्युक्ति पर प्रस्तुत प्रकटार्था अवचूरि लिखी है, और इसमें कोई असंगत बात लिखी गई हो तो उसका संशोधन करने की प्रार्थना की है।

अवचूरि का श्लोकपरिमाण लगभग तीन हजार होने का अन्त में सूचन किया है।

(२) पिण्डनिर्युक्ति टीकाकार सरवालगच्छीय श्री वीरगणी :

आचार्य वीरगणि ने पंचपरमेष्ठी की स्तुति करने के उपरान्त पिण्ड-निर्युक्ति की शिष्यहिता वृत्ति बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है, 'पंचाशक आदि शास्त्रसमूह के बनाने वाले आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने इस निर्युक्ति पर विवरण बनाना प्रारम्भ किया था, परन्तु "स्थापना-दोष" पर्यन्त इसका विवरण बनाने के बाद वे स्वर्गवासी हो गए थे, इसलिये उसके आगे की विवृत्ति वीराचार्य नामक किन्हीं आचार्य ने समाप्त की है, परन्तु उसमें अनेक गाथाएं "सुगमा" कह कर छोड़ दी हैं और जिन पर विवरण किया है, उन्हें भी वर्तमानकालीन मन्दमति पाठकों के लिए समझना कठिन है। अतः सारी पिण्डनिर्युक्ति की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए मेरा यह प्रयास है।

उपर्युक्त आशय वाले लेख में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी के निर्युक्ति पर की विवृति समाप्त करने के पूर्व ही स्वर्गवासी होने की जो बात लिखी है वह ठीक नहीं जान पड़ती, पिण्डनिर्युक्ति की विवृति ही नहीं तत्त्वार्थ-वृत्ति आदि अन्य भी हरिभद्रसूरि कृत ग्रन्थ आज अपूर्ण अवस्था में मिलते हैं, इसका कारण यह नहीं कि वे समाप्त हुए ही नहीं थे, किन्तु इस अपूर्णता का खरा कारण तो ग्रन्थभण्डार सम्हालने वाले गृहस्थों की बेदरकारी है,

उपदेहिका आदि कीटों के खा जाने से, पढ़ने को ले जाने वाले व्यक्ति के पास रह जाने से, अथवा तो अन्य किसी कारण से पुस्तक का अमुक भाग खण्डित हो जाता है। ग्रन्थनिर्माता दो चार ग्रन्थों को एक साथ बनाना प्रारम्भ करता हो, तो उसका आयुष्य समाप्त होने पर वे सभी प्रारब्ध ग्रन्थ अपूर्ण रह सकते हैं, परन्तु विद्वान् ग्रन्थकारों की प्रायः ऐसी पद्धति नहीं होती, वे एक कृति के समाप्त होने पर ही दूसरी कृति का निर्माण प्रारम्भ करते हैं। आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने सैंकड़ों ग्रन्थ बनाए थे. परन्तु आज अमुक ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं, इसका भी कारण यही है कि अनुपलब्ध ग्रन्थों में से अधिकांश ग्रन्थ काल का ग्रास बन चुके हैं। आचार्य हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थों को बने तो सैकड़ों वर्ष हो चुके हैं, परन्तु स्वयं श्री वीरगणि की शिष्यहिता टीका भी वर्षों पहले नष्टप्रायः हो चुकी है, आज उसका आदि तथा अन्त का थोड़ा-थोड़ा भाग शेष रहा है, यही दशा हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थों की हुई है।

टीका के उपोद्घात में श्री वीरगणिजी लिखते हैं : 'दशवैकालिक श्रुतस्कन्ध पर श्री भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति बनाई है, उसमें पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन का ग्रन्थ अधिक होने से उसका "पिण्डनिर्युक्ति" यह नाम देकर शेष ग्रन्थ से इसे पृथक् किया, वास्तव में पिण्डनिर्युक्ति ही दशवैकालिक निर्युक्ति है।

विद्वान् आचार्य वीरगणि की प्रस्तुत शिष्यहिता टीका बड़े महत्त्व की कृति थी, परन्तु दुर्भाग्य-योग से आज वह नष्टप्रायः हो चुकी है, यह यदि सम्पूर्ण विद्यमान होती तो क्षमारत्नजी को अवचूरि और माणिक्यशेखर को दीपिका लिखने का साहस ही पहीं होता, ऐसी वीरगणि की शिष्यहिता विशद विवरण करने वाली टीका थी। इसके विशद विवरण के सम्बन्ध में हम एक उदाहरण उपस्थित करेंगे। सूत्रों में आने वाले "पायपुंछरण और रयहरण" नामक जैन श्रमणों के दो उपकरणों के विवरण के सम्बन्ध में जैन टीकाकारों में बड़ा भ्रम फैला हुआ है, श्री अभयदेवसूरि जैसे टीकाकार "पायपुंछरण" और "रयहरण" को एक दूसरे का पर्याय मानते थे, जहां

"पायपुंछरण" शब्द आया है वहां सर्वत्र "पादप्रोञ्छनकं–रजोहरणं" यह अर्थ किया है, कल्पसूत्र की सामाचारी में आने वाले इन दो शब्दों की भी यही व्याख्या की गई है। पाक्षिक सूत्र में आने वाले "क्षामरणक पाठ" में भी हस्तलिखित प्रतियों में "पायपुंछरणं वा, रयहरणं वा" इस प्रकार का अब भी पाठ विद्यमान है, परन्तु साहित्य का प्रकाशन होने के बाद संशोधक-सम्पादकों ने "रयहरणं" शब्द को निकालकर केवल "पायपुंछरणं" शब्द रख छोड़ा है, यह एक प्रकार की महत्त्वपूर्ण भूल प्रचलित की है, कल्प टीका-कारों ने भी जहां कहीं "पायपुंछरणं" शब्द आया वहां "रजोहरण" अर्थ लिख दिया, परन्तु यह नहीं सोचा कि भिक्षु, कहीं भी कार्य निमित्त बाहर जाता है, वहां अपनी "उपधि" वस्त्र, पात्र, पादप्रोञ्छन" आदि दूसरे श्रमण को सम्भालने के लिए सौंप कर जाता है, यदि "पादप्रोञ्छन–रजोहरण होता तो साधु दूसरों को सौंप कर कैसे जाता? क्योंकि "रजोहरण" तो प्रति साधु व्यक्ति के पास एक ही होता है, और वह प्रत्येक के पास रहता है, किसी को सौंपा नहीं जाता। इस सम्बन्ध में हमने जो निर्णय किया था कि "पादप्रोंछन" रजोहरण नहीं किन्तु उसके ऊपर बान्धे जाने वाले ऊनी वस्त्रखण्ड का नाम होना चाहिए, जो आजकल "निसिथिया" कहलाता है, इसका खरा नाम "निषद्या" है, जिसका अर्थ बैठने के समय बिछाने का आसन होता है, क्योंकि इसका प्रमाण भी शास्त्र में एक हाथ चार अंगुल का बताया है। पूर्वकाल में जब बिछाने के ऊनी आसन आजकल की तरह जुदा नहीं रखते थे, तब प्रसंग आने पर इस वस्त्रखण्ड को जुदा पाड़ कर पग पोंछे जाते थे और बैठने के प्रसंग पर जमीन पर बिछाया भी जाता था, परन्तु मध्यकालीन टीकाकारों ने इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया था, जैसा कि आचार्य वीरगणी ने अपनी शिष्यहिता टीका में किया है। साधुओं के उपकरणों का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं :

"पात्रस्य–भाजनस्य प्रत्यवतारः–परिकरः– "पत्तगवज्जोयत्ति" पात्रक वर्ज्जक एव – पतद्गृहरहित एव पात्रनिर्योगः–पात्रकबन्धादिकं षड्विधं भाजनोपकरणं तथा द्वे-द्विसंख्ये निषद्ये, पुना रजोहरणः–उपकरणविशेष-रूपः–पुनः ज्ञेय इति शेषः अब्भितरत्ति अब्भितरा-मध्यवर्तिनी, तथा बाह्या-

बहिर्वर्तिनी, चंवेति समुच्चये, इह सम्प्रति या दशिकादिभिः सह दण्डिका क्रियते सा आगमविधिना केवलैव स्यात्तस्या निषद्यात्रयं, स्यात्तन्मीलितं रजोहरणं भण्यते तत्रैका दण्डिका यास्तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वैकहस्तदीर्घोर्ण्णा-मयादिकंबलीखण्डरूपा स्यात्तस्याश्चाग्रे दशिकाः स्युः, तां च सदशिकामग्रे-रजोहरणशब्देन भणिष्यतीत्यसौ नात्र ग्राह्या, द्वितीया त्वेनामेव तिर्यग् बहिर्वेष्टकैराच्छादयन्त्येकहस्तविस्तरादि किंचिदधिकैकहस्तदीर्घा वस्त्रमयी स्यात्, साऽत्राऽभ्यन्तरेति ग्राह्या, तृतीया त्वेतस्या एव बहिस्तिर्यग् वेष्टकान् कुर्वती चतुरंगुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्र कंबलमयी स्यात्, सा चाधुनो-पवेशनोपकारित्वात्पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, दण्डिका तूपकरणसंख्यायां न गण्यते, रजोहरस्योपष्टम्भिका मात्रत्वेन विवक्षितत्वादिति।"

'पात्र का प्रत्यवतार, उसके परिकर को कहते हैं, और पात्रपरिकर जो पात्रबन्धादिक छः प्रकार का होता है, जिसमें पात्र शामिल नहीं होता; उसे 'पात्रनिर्योग' भी कहते हैं, तथा दो निषद्याएं और रजोहरण जो उपकरण विशेष होता है उसका स्वरूप इस प्रकार का होता है, ऊपर जो दो निषद्याएं कहीं हैं, उनमें से एक अभ्यन्तर वर्तिनी तथा दूसरी बाह्य निषद्या सूती कपड़े की होती है, आजकल दशी आदि के साथ डांड़ी रखी जाती है, वह आगम विधि के अनुसार या अकेली होती है, इस दशी युक्त कम्बलखण्ड के साथ दो निषद्याएँ मिलाने से रजोहरण बनता है। तात्पर्य यह है कि रजोहरण में डांड़ी पर बीटने का कम्बलखण्ड, जो विस्तार में तीन आंटे आए उतना और लम्बाई में हाथ भर लम्बा होता है, उसके आगे दशियां रहती हैं, उसी ऊर्णा वस्त्रखण्ड को जिसके आगे दशियां संलग्न हैं, रजोहरण कहते हैं, इसको दो निषद्याओं में न समझना चाहिए, इसके ऊपर बीटा जाने वाला सूती वस्त्रखण्ड जो विस्तार में एक हाथ के लगभग होता है और लम्बाई में एक हाथ से कुछ अधिक, इसको वस्त्रमयी निषद्या कहते हैं, इसको अभ्यन्तर निषद्या समझना चाहिए। तीसरी इसी के ऊपर बींटी जाने वाली कम्बलमयी निषद्या होती है, जो एक हाथ चार अंगुल समचौरस होती है और तीसरी यह निषद्या आजकल बैठने के काम में ली जाती है, इसलिए यह "पादप्रोञ्छनक" इस नाम से प्रसिद्ध

है, रजोहरण के भीतर की दंडी उपकरण में परिगणित नहीं है, इसको रजोहरण की उपष्टम्भिका मात्र माना जाता है ।

आचार्य श्री वीरगणी वसतिवासी और वैहारिक चन्द्रगच्छ में चन्द्र समान श्री समुद्रघोष सूरि के शिष्य श्री ईश्वरगणी के शिष्य थे। आपका सरबालक गच्छ था । पिण्डनिर्युक्ति की यह वृत्ति आचार्य श्री वीरगणी ने कर्करोणिका पार्श्ववर्ति वटपद्र ग्राम (बड़ोदा) में रहकर विक्रम सं० ११६० में निर्मित की । इसके निर्माण में ईश्वरगणी के शिष्य आचार्य श्री महेन्द्र-सूरि, श्री देवचन्द्र गणी और द्वितीय देवचन्द्र गणी इन तीनों ने आपको अन्य कार्यप्रवृत्तियों से निवृत्त रखकर सहायता की है और अणहिल पाटक नगर में आचार्य श्री नेमिचन्द्रसूरि श्री जिनदत्तसूरि आदि आचार्यों ने उपयोग-पूर्वक इसका संशोधन किया है। इस पर भी किसी को इसमें कोई दोष दृष्टिगोचर हो तो मेरे पर कृपा कर सुधार दें, ऐसी आपने प्रार्थना की है। इस वृत्ति में ग्रन्थ-प्रमाण ७६७१ श्लोक है ।

(३) पिण्डनिर्युक्ति–दीपिका :

माणिक्यशेखरीय दीपिका के उपोद्घात में टीकाकार लिखते हैं कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पहला और दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन पिण्डैषणा का निरूपण करता है । इसकी निर्युक्ति महार्थक होने से श्री भद्रबाहु ने पृथग् बनाई जो "पिण्डनिर्युक्ति" के नाम से ही प्रसिद्ध है। दशवैकालिक सूत्र के पंचम अध्ययन की निर्युक्ति संक्षिप्तार्थिका है, तब यह विस्तृतार्था है, इन कारणों से भी इसका पृथक्करण उपयोगी माना जा सकता है ।

दीपिका का बहुत ही अल्प भाग प्राप्त हुआ है, अतः इसके सम्बन्ध में अधिक लिखना अप्रासंगिक है ।

दीपिका की समाप्ति करते हुए श्री माणिक्यशेखर ने निर्युक्ति के निर्माता श्री भद्रबाहु स्वामी को और इसका विवरण करने वाले श्री मलयगिरिसूरिजी को नमस्कार किया है और लिखा है–आचार्य मलय-

गिरिजी की टीका के विषमार्थ का मैंने विवेचन किया है। अन्त में आपने अपने गच्छपति और गुरु मेरुतुंग सूरिजी को याद किया है, ग्रन्थ के निर्माण-समय आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है तथापि आचार्य श्री मेरुतुंगसूरि के शिष्य होने के नाते आप विक्रम की पन्द्रहवीं शती के ग्रन्थकार हैं इसमें कोई शंका नहीं रहती। आपके गुरु मेरुतुंगसूरि का समय विक्रमीय पन्द्रहवीं शती का मध्य भाग होने के कारण आपका भी सत्ता समय पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्ध है, इसमें शंका को स्थान नहीं है।

पिण्डविशुद्धि : श्री जिनवल्लभ गणिकृता विवरणकार श्री चन्द्रसूरि।

पिण्डविशुद्धिप्रकरण पिण्डनिर्युक्ति का ही संक्षिप्त रूप है। पिण्ड-निर्युक्ति का गाथापरिमाण ६७१ है, तब उसका सारांश लेकर पिण्ड-विशुद्धि प्रकरण श्री जिनवल्लभ गणीजी ने केवल एक सौ तीन गाथाओं में समाप्त किया है। पिण्डविशुद्धि के ऊपर तीन चार टीकाएं हैं, जिनमें से प्रस्तुत टीका के निर्माता आचार्य श्री चन्द्रसूरि हैं, जो वैहारिक आचार्य श्री शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और धनेश्वरसूरिजी के शिष्य थे। प्रस्तुत टीका का निर्माण आपने सौराष्ट्र के वेलाकुल नगर देवपाटक अर्थात् प्रभासपाटण में रहते हुए विक्रम संवत् ११७८ के वर्ष में किया है।

पिण्डविशुद्धिकार श्री जिनवल्लभगणि के सम्बन्ध में जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दो मत हैं—खरतर गच्छ के अनुयायी विद्वान् इनको नवांगवृत्तिकार आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का पट्टधर शिष्य मानते हैं, तब तपागच्छादि अन्य गच्छों के विद्वान् इनको खरतर गच्छ वालों के जिनवल्लभसूरि से भिन्न मानते हैं। उनका कहना है कि खरतर गच्छ वालों के कथनानुसार प्रस्तुत जिनवल्लभ महावीर के षट्कल्याणक मानने वाले तथा विधिचैत्य आदि नयी परम्पराओं का आविष्कार करने वाले जिनवल्लभ होते, तो इनके ग्रन्थों पर अन्य सुविहित आचार्य टीका विवरण आदि नहीं बनाते।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की मान्यताओं से हमारा मतभेद है। हमारा मत है कि प्रस्तुत पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभ श्री अभय-

देवसूरिजी के चारित्रोपसम्पन्न शिष्य नहीं, किन्तु ज्ञानोपसम्पन्न शिष्य थे। जब तक वे अभयदेवसूरि के पास श्रुतोपसम्पदा लेकर पढ़ते रहे तब तक वे अभयदेवसूरिजी के प्रतीच्छक शिष्य के रूप में रहे और आगम-वाचना पूरी करके अभयदेवसूरिजी की आज्ञा से वे अपने मूल गुरु के पास गए तब से वे अपने पूर्व गुरु कूर्चपुरीय गच्छ के आचार्य श्री जिनेश्वरसूरिजी के ही शिष्य बने रहे। इतना जरूर हुआ कि अभयदेवसूरि तथा उनके शिष्यों के साथ रहने के कारण वे वैहारिक अवश्य बने थे और अन्त तक उसी स्थिति में रहे।

खरतर गच्छ के पट्टावलीलेखक जिनवल्लभगणी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की एक दूसरी से विरुद्ध बातें लिखते हैं। कोई कहते हैं—वे अपने मूल गुरु को मिलकर वापस पाटन आए, और श्री अभयदेव-सूरिजी से उपसम्पदा लेकर उनके शिष्य बने। तब कोई लिखते हैं कि वे प्रथम से ही चैत्यवास से निर्विण्ण थे और अभयदेवसूरिजी के पास आकर उनके शिष्य बने, और आगम सिद्धान्त का अध्ययन किया। खरतर गच्छीय लेखकों का एक ही लक्ष्य है कि जिनवल्लभ को श्री अभयदेवसूरि का पट्टधर बनाकर अपने सम्प्रदाय का सम्बन्ध श्री अभयदेव-सूरि से जोड़ देना। कुछ भी हो, परन्तु श्री जिनवल्लभगणी के कथनानुसार वे अन्त तक कूर्चपुरीय आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि के ही शिष्य बने रहे हैं, ऐसा इनके खुद के उल्लेखों से प्रमाणित होता है। विक्रम सं० ११३८ में लिखे हुए कोट्याचार्य की टीका वाले विशेषावश्यक भाष्य की पोथी के अन्त में जिनवल्लभगणी स्वयं लिखते हैं—

यह (१) पुस्तक प्रसिद्ध श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ गणी की है।

इसी प्रकार जिनवल्लभ गणी प्रश्नोत्तरशतक नामक अपनी कृति में लिखते हैं कि "जिनेश्वराचार्यजी मेरे गुरु हैं," यह प्रश्नोत्तरशतक काव्य जिनवल्लभ गणी ने श्री अभयदेव सूरिजी के पास से वापस जाने के बाद

बनाया था, ऐसा उसी कृति से जाना जाता है क्योंकि उसी काव्य में एक भिन्न पद्य में श्री अभयदेव सूरिजी की भी प्रशंसा की है।

जिनवल्लभ गणी के "रामदेव" नामक एक विद्वान् शिष्य थे, जिन्होंने वि० सं० ११७३ में जिनवल्लभ सूरि कृत "षडशीति-प्रकरण," की चूर्णि बनाई है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि जिनवल्लभ गणीजी ने अपने तमाम चित्र काव्य सं० ११६६ में चित्रकूट के श्री महावीर मन्दिर में शिलाओं पर खुदवाए थे और मन्दिर के द्वार की दोनों तरफ उन्होंने धर्म-शिक्षा और संघ-पट्टक शिलाओं पर खुदवाए थे, ऐसा पं० हीरालाल हंसराज कृत "जैन धर्मनो प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक के ३८ वें तथा ३६ वें पृष्ठ में लिखा है।

उपाध्याय धर्मसागरजी ने जिनवल्लभ गणी कृत "अष्टसप्ततिका" नामक काव्य के कुछ पद्य "प्रवचन परीक्षा" में उद्धृत किए हैं, उनमें से एक पद्य में श्री अभयदेव सूरिजी के चार प्रमुख शिष्यों की प्रशंसा की है और एक पद्य में उन्होंने श्री अभयदेव सूरिजी के पास श्रुत सम्पदा लेकर अपने शास्त्राध्ययन की सूचना की है। इत्यादि बातों से यही सिद्ध होता है कि जिनवल्लभ गणी जो कूर्चपुरीय गच्छ के आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे, वे अपने गुरु की आज्ञा से अपने गुरु भाई जिनशेखर मुनि के साथ आगमों का अध्ययन करने के लिए, पाटन श्री अभयदेव सूरिजी के पास गए थे और उनके पास ज्ञानोपसंपदा ग्रहण करके सूत्रों का अध्ययन किया था। खरतर गच्छ के पट्टावलीलेखक शायद उपसम्पदा का अर्थ ही नहीं समझे, इसलिए कोई उनके पास दीक्षा लेने का लिखते हैं तो कोई "आज से हमारी आज्ञा में रहना" ऐसा उपसम्पदा का अर्थ करते हैं, जो वास्तविक नहीं है। उपसम्पदा अनेक प्रकार की होती है—ज्ञानोपसम्पदा, दर्शनोपसम्पदा, चारित्रोपसम्पदा, मार्गोपसम्पदा आदि। इनमें प्रत्येक उपसम्पदा जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट प्रकार से तीन तरह की होती है, ज्ञान तथा दर्शन प्रभावक शास्त्र पढ़ने के लिये ज्ञानोपसम्पदा तथा दर्शनोपसम्पदा दी-ली जाती है, चारित्रोपसम्पदा चारित्र को शुद्ध पालने के भाव से बहुधा ली जाती है और वह प्रायः यावज्जीव रहती है, ज्ञानोपसम्पदा तथा दर्शनोपसम्पदा कम से कम ६ मास

की और अधिक से अधिक १२ बारह वर्ष की होती थी। मार्गोपसम्पदा लम्बे विहार में मार्ग जानने वाले आचार्य से ली जाती थी और मार्ग का पार करने तक रहती थी। उपसम्पदा स्वीकार करने के बाद उपसम्पन्न साधु को अपने गच्छ के आचार्य तथा उपाध्याय का दिग्बन्ध छोड़कर उपसम्पदा देने वाले गच्छ के आचार्य तथा उपाध्याय का दिग्बन्धन करना होता था और उपसम्पदा के दर्म्यान उपसम्पन्न श्रमण अपने गच्छ तथा आचार्य उपाध्याय की आज्ञा न पालकर उपसम्पदा प्रदायक गच्छ के आचार्य उपाध्याय की आज्ञा में रहते थे और उन्हीं के गच्छ की सामाचारी का अनुसरण करते थे, इत्वर (सावधिक) उपसम्पदा की अवधि समाप्त होने के उपरान्त उपसम्पन्न व्यक्ति उपसम्पदा देने वाले आचार्य की आज्ञा लेकर अपने मूल गुरु के पास जाता था, और उनके दिग्बन्धन में रहता था।

श्री जिनवल्लभ गणी ने इसी प्रकार ज्ञानोपसम्पदा लेकर अभयदेव सूरिजी से आगमों की वाचना ली थी और बाद में वे अपने मूल गुरु जिनेश्वर सूरिजी के पास गए थे। जिनेश्वर सूरि चैत्यवासी होने से शिथिलाचारी थे, तब जिनवल्लभ वैहारिक श्रमण समुदाय के साथ रहने से स्वयं चैत्यवासी न बनकर वैहारिक रहना चाहते थे, इसीलिये अपने मूल गुरु से मिलकर वे वापस पाटण चले गए थे। उनके दुबारा पाटण जाने तक श्री अभयदेव सूरिजी पाटण में थे या विहार करके चले गये थे, यह कहना कठिन है, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि नवांगी वृत्तियों के समाप्त होने तक वे पाटण में अवश्य रहे होंगे, क्योंकि तत्कालीन पाटण के जैन श्रमण संघ के प्रमुख आचार्य श्री द्रोण के नेतृत्व में विद्वानों की समिति ने अभयदेव सूरि निर्मित सूत्रवृत्तियों का संशोधन किया था, आगमों की वृत्तियां विक्रम संवत् ११२८ तक में बनकर पूरी हो चुकी थी, इसलिए इसके बाद श्री अभयदेव सूरिजी पाटण में अधिक नहीं रहे होंगे, ११२८ के बाद में बनी हुई इनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं होती, लगभग इसी अर्से में हरिभद्रसूरीय पंचाशक प्रकरण की टीका आपने "धवलका" में बनाई है, इससे भी यही सूचित होता है, कि आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी ने ११२८ में ही पाटण छोड़ दिया था। इस समय

के बाद का इनका कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं हुआ, इससे हमारा अनुमान है कि आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी ने अपने जीवन के अन्तिम दशक में शारीरिक अस्वास्थ्य अथवा अन्य किसी प्रतिबन्धक कारण से साहित्य के क्षेत्र में कोई कार्य नहीं किया। आपका स्वर्गवास भी पाटण से दूर "कपड-वंज" में हुआ था, आपके स्वर्गवास का निश्चित वर्ष भी श्री अभयदेव सूरि के अनुयायी होने का दावा करने वालों को मालूम नहीं है, इस परिस्थिति में यही मानना चाहिये कि श्री अभयदेव सूरिजी विक्रम संवत् ११२८ के बाद गुजरात के मध्य प्रदेश में ही विचरे हैं। खरतर गच्छ के अर्वाचीन किसी किसी लेखक ने इनके स्वर्गवास का समय सं० ११५१ लिखा है, तब किसी ने जिनवल्लभ गणी को सं० ११६७ में अभयदेव सूरि के हाथ से सूरि-मन्त्र प्रदान करने का लिखकर अपने अज्ञान का प्रदर्शन किया है। अभयदेव सूरिजी ११५१ अथवा ११६७ तक जीवित नहीं रहे थे, अनेक अन्यगच्छीय पट्टावलियों में इनका स्वर्गवास ११३५ में और मतान्तर से ११३६ में लिखा है, जो ठीक प्रतीत होता है, आचार्य जिनदत्त कृत "गणधर-सार्धशतक" की वृत्तियों में श्री सुमति गणि तथा सर्वराज गणि ने भी अभयदेव सूरिजी के स्वर्गवास के समय की कुछ भी सूचना नहीं की, इसलिए "बृहद् पौषध-शालिक" आदि गच्छों की पट्टावलियों में लिखा हुआ अभयदेव सूरिजी का निर्वाण समय ही सही मान लेना चाहिए।

अभयदेव सूरि का स्वर्गवास मतान्तर के हिसाब से संवत् ११३६ में मान लें तो भी संवत् ११६७ का अन्तर २८ वर्ष का होता है। खरतर गच्छ के तमाम लेखकों का ऐकमत्य है कि संवत् ११६७ में जिनवल्लभ गणि को देवभद्र सूरि ने आचार्य अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर प्रतिष्ठित कर उन्हें आचार्य बनाया था। खरतर गच्छ के लगभग सभी लेखकों का कथन है, कि अभयदेव सूरिजी स्वयं जिनवल्लभ को अपना पट्टधर बनाना चाहते थे, परन्तु चैत्यवासि-शिष्य होने के कारण गच्छ इसमें सम्मत नहीं होगा, इस भय से उन्होंने जिनवल्लभ को आचार्य नहीं बनाया, परन्तु अपने शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य को कह गये

थे कि समय पाकर जिनवल्लभ गणि को आचार्य पद प्रदान कर देना। प्रसन्नचन्द्र सूरि को भी अपने जीवन दर्मियान जिनवल्लभ को आचार्य पद देने का अनुकूल समय नहीं मिला और अपने अन्तिम समय में इस कार्य को सफल करने की सूचना देवभद्र सूरि को कर गए थे और संवत् ११६७ में आचार्य देवभद्र ने कतिपय साधुओं के साथ चित्तौड़ जाकर जिनवल्लभ गणि को आचार्य पद से विभूषित किया।

उपर्युक्त वृत्तान्त पर गहराई से सोचने पर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला तो यह कि यदि अभयदेव सूरिजी ने जिनवल्लभ गणि को अपना शिष्य बना लिया था और विद्वत्ता आदि विशिष्ट गुणों से युक्त होने के कारण उसे आचार्य बनाना चाहते थे, तो गच्छ को पूछकर उसे आचार्य बना सकते थे। वर्धमान आदि अपने चार शिष्यों को आचार्य बना लिया था और गच्छ का विरोध नहीं हुआ, तो जिनवल्लभ के लिये विरोध क्यों होता ? जिनवल्लभ चैत्यवासी शिष्य होने से उसके आचार्य पद का विरोध होने की बात कही जाती है, जो थोथी दलील है, अभयदेव सूरिजी का शिष्य हो जाने के बाद वह चैत्यवासियों का शिष्य कैसे कहलाता, यह समझ में नहीं आता। मान लिया जाय कि जिनवल्लभ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने के कार्य में श्री अभयदेव सूरिजी के शिष्य-परिवार में दो मत थे, तो चौवीस वर्ष के बाद उन्हें आचार्य कैसे बनाया ? क्या उस समय अभयदेव सूरिजी का शिष्यसमुदाय एकमत हो गया था ? अथवा समुदाय में दो भाग पाड़कर आचार्य देवभद्र ने यह कार्य किया था ? जहां तक हमें इस प्रकरण का अनुभव है उक्त प्रकरण में कुछ और ही रहस्य छिपा हुआ था, जिसे खरतर गच्छ के निकटवर्ती आचार्यों ने प्रकट नहीं किया और पिछले लेखक इस रहस्य को खोलने में असमर्थ रहे हैं। खरतर गच्छ के प्राचीन ग्रन्थों के अवगाहन और इतर प्राचीन साहित्य का मनन करने से हमको प्रस्तुत प्रकरण का जो स्पष्ट दर्शन मिला है, उसे पाठक गण के ज्ञानार्थ नीचे उपस्थित करते हैं—

जिनवल्लभ वर्षों तक अभयदेव सूरि के शिष्यसमुदाय के साथ रहे थे, वे स्वयं विद्वान् एवं क्रियारुचि आत्मा थे, वह समय अधिकांश

शिथिलाचारी साधुओं का था। उनका शैथिल्य देखकर जिनवल्लभ के हृदय में दुःख होता था। अच्छे वक्ता होने के कारण वे शिथिलाचार के विरुद्ध बोला करते थे। देवभद्र आदि कतिपय अभयदेव सूरि के शिष्य भी उन्हें उभाड़ते और चैत्यवासियों के विरुद्ध बोलने को उत्तेजित किया करते थे। धीरे धीरे जिनवल्लभ गणी का हृदय निर्भीक होता गया और चैत्यवासियों के विरोध के प्रचार के साथ अपने वैहारिक साधुओं के पालने के नियम बनाने तथा अपने नये मन्दिर बनाने के प्रचार को खूब बढ़ाया, राज्य से अपने विधि चैत्य के लिए जमीन मांगी गई। स्थानिक संघ के विरोध करने पर भी जमीन राज्य की तरफ से दे दी गई। बस फिर क्या था, जिनवल्लभ गणी तथा इनके पृष्ठपोषक साधु तथा गृहस्थों के दिमाग को गर्मी हद से ऊपर उठ गई और जिनवल्लभ तो खुल्ले आम अपनी सफलता और स्थानिक चैत्यवासियों की बुराइयों के ढोल पीटने लगे। कहावत है कि ज्यादा घिसने से चन्दन से भी आग प्रकट हो जाती है, पाटन में ऐसा ही हुआ। जिनवल्लभ गणी के निरंकुश लेक्चरों से स्थानिक जैन संघ क्षुब्ध हो उठा, सभी गच्छों के आचार्यों तथा गृहस्थों ने संघ की सभा बुलाई और जिनवल्लभ गणी को संघ से बहिष्कृत कर पाटन में ढिंढोरा पिटवाया कि—

"जिनवल्लभ के साथ कोई भी पाटणवासी आचार्य और श्रमण-सघ, किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खे, इस पर भी कोई साधु इसके साथ व्यवहार रखेगा तो वह भी जिनवल्लभ की तरह संघ से बहिष्कृत समझा जायगा।"

पाटण के जैन सघ की तरफ से उपर्युक्त जाहिर होने के बाद जिनवल्लभ गणिजी की तूती सर्वथा बन्द हो गई, उनके लेक्चर सुनने के लिए सभाओं का होना बन्द हो गया। उनके अनुयायियों ने उन्हें सलाह दी कि पाटण में तो आपके व्याख्यानों से अब कोई लाभ न होगा, अब बाहर गांवों में प्रचार करना लाभदायक होगा। गणीजी पाटण छोड़कर उसके परिसर के गांवों में चले गए और प्रचार करने लगे, परन्तु उनके संघ बाहर होने की बात उनके पहले ही पवन के साथ गाँवों में पहुंच

चुकी थी, वहाँ भी इनके व्याख्यानों में आने से लोग हिचकिचाते थे। थोड़े समय के बाद गणीजी वापस पाटण आए और अपने हितचिन्तकों से कहा—गुजरात में फिरने से तो अब विशेष लाभ न होगा। गुजरात को छोड़कर अब किसी दूसरे देश में विहार करने का निर्णय किया, उनके समर्थकों ने बात का समर्थन किया, आचार्य देवभद्र ने जिनशेखर को, जो जिनवल्लभ का गुरु भाई था, जिनवल्लभ के साथ जाने की आज्ञा दी। परन्तु जिनशेखर ने संघ बाहर होने के भय से जिनवल्लभ गणी के साथ जाने से इन्कार कर दिया, आचार्य देवभद्र जिनशेखर के इस व्यवहार से बहुत ही नाराज हुए तथापि जिनशेखर ने अपना निर्णय नहीं बदला और जिनवल्लभ गणी को गुजरात छोड़कर उत्तर की तरफ अकेले विहार करना पड़ा। मरुकोट होते हुए वे चातुर्मास्य आने के पहले चित्तौड़ पहुंचे। यद्यपि बीच में मारवाड़ जैसा लम्बा-चौड़ा देश था और कई बड़े २ नगर भी थे, परन्तु जिनवल्लभ गणी का पाटण में जो अपमान हुआ था, उसकी हवा सर्वत्र पहुंच चुकी थी। चित्तौड़ में भी जैनों की पर्याप्त बस्ती थी और अनेक उपाश्रय भी थे, इसपर भी उन्हें चातुर्मास्य के योग्य कोई स्थान नहीं मिला। खरतरगच्छ के लेखक उपाश्रय आदि न मिलने का कारण चैत्यवासियों का प्राबल्य बताते हैं, जो कल्पना मात्र है। चैत्यवासी अपनी पौषधशालाओं में रहते थे और चैत्यों की देखभाल अवश्य करते थे, फिर भी वैहारिक साधु वहाँ जाते तो उन्हें गृहस्थों के अतिरिक्त मकान उतरने के लिए मिल ही जाते थे। वर्धमान सूरि का समुदाय वैहारिक था और सर्वत्र विहार करता था फिर भी उसको उतरने के लिए मकान न मिलने की शिकायत नहीं थी, तब जिनवल्लभ गणी के लिए ही मकान न मिलने की नौबत कैसे आई? खरी बात तो यह है कि जिनवल्लभ गणी के पाटण में संघ से बहिष्कृत होने की बात सर्वत्र प्रचलित हो चुकी थी, इसी कारण से उन्हें मकान देने तथा उनका व्याख्यान सुनने में लोग हिचकिचाते थे। इसीलिए जिनवल्लभ गणी को चित्तौड़ में "चामुण्डा" के मठ में रहना पड़ा था। यह सब कुछ होने पर भी जिन-वल्लभ गणी ने अपनी हिम्मत नहीं हारी। चित्तौड़ से प्रारम्भ कर बागड़ तथा उत्तर मारवाड़ के खास-खास स्थानों में विहार कर अपना प्रचार

जारी रक्खा। भिन्न-भिन्न विषयों पर निबन्धों के रूप में प्राकृत भाषा में "कुलक" लिखकर अपने परिचित स्थानों में उनके द्वारा धार्मिक प्रचार करते ही रहे। कुलकों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस प्रदेश में जाने के बाद जिनवल्लभ गणि ने अपने उपदेशों की भाषा साधारण रूप से बदल दी थी, पाटण में चैत्यवासियों का खण्डन करने में जो उग्रता थी, वह बदल चुकी थी। इतना ही नहीं "समय देखकर लिंगमात्र धारियों का भी सन्मान करने की सलाह देते थे"। विद्वत्ता तो थी ही, चारित्रमार्ग अच्छा पालते थे और उपदेशभक्ति भी अच्छी थी, परिणाम स्वरूप बागड़ आदि प्रदेशों में आपने अनेक गृहस्थों को धर्ममार्ग में जोड़ा।

उधर आचार्य देवभद्र और उनकी पार्टी के मन में जिनवल्लभ का आचार्य बनाने की धुन लगी हुई थी। पाटण के जैन संघ में भी पौर्णमिक तथा आंचलिक गच्छों की उत्पत्ति तथा नई प्ररूपणाओं के कारण अव्यवस्था बढ़ गई थी, परिणाम स्वरूप आचार्य देवभद्र की जिनवल्लभ को चित्तौड़ जाकर आचार्य बनाने की इच्छा उग्र बनी। कतिपय साधुओं को, जो उनकी पार्टी में शामिल थे, साथ में लेकर मारवाड़ की तरफ विहार किया और जिनवल्लभ गणी, जो उस समय नागोर की तरफ विचर रहे थे, उन्हें चित्तौड़ आने की सूचना दी और स्वयं भी मारवाड़ में होते हुए चित्तौड़ पहुंचे और उन्हें आचार्य पद देकर आचार्य अभयदेव सूरि के पट्टधर होने की उद्घोषणा की। इस प्रकार आचार्य देवभद्र की मण्डली ने अपनी चिरसंचित अभिलाषा को पूर्ण किया।

श्री जिनवल्लभ गणी को आचार्य बनाकर अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर स्थापित करने का वृत्तान्त ऊपर दिया गया है। यह वृत्त खरतर गच्छ की पट्टावलियों के आधार से लिखा है। अब देखना यह है कि अभयदेव सूरिजी को स्वर्गवासी हुए अट्ठाईस वर्ष से भी अधिक समय हो चुका था, श्री अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर श्री वर्धमान सूरि, श्री हरिभद्र सूरि, श्री प्रसन्नचन्द्र सूरि और श्री देवभद्र सूरि नामक चार आचार्य बन चुके थे, फिर अट्ठाईस वर्ष के बाद जिनवल्लभ गणी को उनके पट्ट पर

स्थापित करने का क्या अर्थ हो सकता है ? इस पर पाठकगण स्वयं विचार कर सकते हैं। शास्त्र के आधार से तो कोई भी आचार्य अपनी जीवित अवस्था में ही अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियत कर देते थे। कदाचित् किसी आचार्य की अकस्मात् मृत्यु हो जाती तो उसकी जाहिरात होने के पहले ही गच्छ के गीतार्थ अपनी परीक्षानुसार किसी योग्य व्यक्ति को आचार्य के नाम से उद्घोषित करने के बाद मूल आचार्य के मरण को प्रकट करते थे। कभी कभी आचार्य द्वारा अपनी जीवित अवस्था में नियत किये हुए उत्तराधिकारी के योग्यता प्राप्त करने के पहले ही मूल आचार्य स्वर्गवासी हो जाते तो गच्छ किसी अधिकारी योग्य गीतार्थ व्यक्ति को सौंपा जाता था। जिनवल्लभ गणी के पीछे न परिवार था न गच्छ की व्यवस्था, फिर इतने लम्बे समय के बाद उन्हें आचार्य बनाकर अभयदेव सूरिजी का पट्टधर क्यों उद्घोपित किया गया ? इसका खरा रहस्य तो आचार्य श्री देवभद्र जानें, परन्तु हमारा अनुमान तो यही है कि जिनवल्लभ गणी की पीठ थपथपाकर उनके द्वारा पाटण में उत्तेजना फैलाकर वहां के संघ द्वारा गणिजी को संघ से बहिष्कृत करने का देवभद्र निमित्त बने थे, उसी के प्रायश्चित्त स्वरूप देवभद्र की यह प्रवृत्ति थी।

अब रही जिनवल्लभ गणी के खरतर-गच्छीय होने की बात, सो यह बात भी निराधार है। जिनवल्लभ के जीवन पर्यन्त "खरतर" यह नाम किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय के लिए प्रचलित नहीं हुआ था। आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि, उनके गुरु-भाई बुद्धिसागर सूरि तथा उनके शिष्य जिनचन्द्र सूरि तथा अभयदेव सूरि आदि की यथोपलब्ध कृतियाँ हमने पढ़ी हैं। किसी ने भी अपनी कृतियों में खरतर शब्द का प्रयोग नहीं किया। श्री जिनदत्त सूरि ने, जो जिनवल्लभ सूरि के पट्टधर माने जाते हैं, अपनी "गणधरसार्द्धशतक" नामक कृति में पूर्ववर्ती तथा अपने समीपवर्ती आचार्यों की खुलकर प्रशंसा की है, परन्तु किसी भी आचार्य को **खरतर पद** प्राप्त होने की सूचना तक नहीं की। जिनदत्त सूरि के "गणधर सार्द्ध-शतक" की बृहद्वृत्ति में, जो विक्रम सं० १२९५ में श्री सुमति गणि द्वारा बनाई गई है, उसमें श्री वर्धमान सूरि से लेकर आचार्य श्री जिनदत्त

सूरि तक के विस्तृत चरित्र दिए हैं, परन्तु किसी आचार्य को "खरतर" बिरुद प्राप्त होने की बात नहीं लिखी। सुमति गणिजी ने आचार्य जिनदत्त सूरि के वृत्तान्त में ऐसा जरूर लिखा है कि जिनदत्त सूरि स्वभाव के बहुत कड़क थे, वे हर किसी को कड़ा जवाब दे दिया करते थे। इसलिए लोगों में उनके स्वभाव की टीका-टिप्पणियां हुआ करती थीं। लोग बहुधा उन्हें 'खरतर' अर्थात् कठोर स्वभाव का होने की शिकायत किया करते थे। परन्तु जिनदत्त जन-समाज की इन बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। धीरे धीरे जिनदत्त सूरिजी के लिए "खरतर" यह शब्द प्रचलित हुआ था, ऐसा सुमतिगणि कृत "गणधरसार्द्धशतक" की टीका पढ़ने वालों की मान्यता है❀ यद्यपि "खरतर" शब्द का खास सम्बन्ध जिनदत्त सूरिजी से था, फिर भी इन्होंने स्वयं अपने लिये किसी भी ग्रन्थ में "खरतर" यह विशेषण नहीं लिखा। जिनदत्त सूरिजी तो क्या इनके पट्टधर श्री जिनचन्द्र, इनके शिष्य श्री जिनपति सूरि, जिनपति के पट्टधर जिनेश्वर सूरि और जिनेश्वर के पट्टधर जिनप्रबोध सूरि तक के किसी भी आचार्य ने "खरतर" शब्द का प्रयोग अपने नाम के साथ नहीं किया। वस्तुस्थिति यह है कि विक्रम की चउदहवीं शती के प्रारम्भ से खरतर शब्द का प्रचार होने लगा था। शुरु शुरु में वे अपने को "चन्द्र-गच्छीय" कहते थे, फिर इसके साथ "खरतर" शब्द भी जोड़ने लगे। इसके प्रमाण में हम आबू देलवाड़ा के जैन मन्दिर का एक शिला-लेख उद्धृत करते हैं।

❀ "The Kharatara seet then arose according to on old gatha in samavat 1204 Jinadatta was a proud man, and even in his pert answer to others mentioned by Sumatigani pride can be clearly datected. He was therefore, called Kharatara by the people, but he glaried in the new appellation and willingly accepted it."

"सं० १३०८ वर्षे फाल्गुन वदि ११ शुक्रे श्री जावालिपुरवास्तव्य चन्द्र-गच्छीय खरतर सा० दूलह सुत संघीरण तत्सुत सा० बीजा तत्पुत्र सा० सलखरणेन पितामही राजू, माता साऊ, भार्या माल्हणदेवि सहितेन श्री आदिनाथ सत्क सर्वांगाभरणस्य साउ० श्रेयोऽर्थं जीर्णोद्धारः कृतः ॥"

उपर्युक्त लेख जालौर के एक सद्गृहस्थ का है, जिसका नाम सलखरण था। वह अपने को चन्द्र-गच्छीय खरतर मानता था। उसने आबू पर के विमलवसहि के श्री आदिनाथजी को पहनाने के आभूषणों का जीर्णोद्धार सं० १३०८ के फाल्गुन वदि एकादशी शुक्रवार के दिन करवाया था, जिसकी याद में उपर्युक्त लेख खुदवाया था।

हमारे पढ़े हुए "खरतर" नाम के प्रयोग वाले लेखों में ऊपर का लेख सब से प्राचीन है।

उक्त लेख में "खरतर" शब्द ही उल्लिखित है, परन्तु इसके बाद ५० वर्ष के उपरान्त "खरतर" शब्द के साथ "गच्छ" शब्द लिखने का भी प्रारम्भ हो गया था। श्री जिनप्रबोध सूरिजी के शिष्य श्री दिवाकराचार्य अपने परिवार के साथ आबू तीर्थ की यात्रार्थ गए। तब निम्न लेख अपनी यात्रा के स्मरणार्थ लिखवाकर गए थे, जो नीचे दिया जाता है—

"संवत् १३६० आषाढ़ वदि ४ श्री खरतर गच्छे श्री जिनेश्वर सूरि पट्टनायक श्री जिनप्रबोध सूरि शिष्य श्री दिवाकराचार्याः पंडि० लक्ष्मीनिवास गरिण—हेमतिलक गरिण—मतिकलश मुनि—मुनि चन्द्रमुनि—अमररत्न गरिण—यशःकीर्ति मुनि—साधु-साध्वी चतुर्विध श्री विधिसंघ-सहिताः श्री आदिनाथ श्री नेमिनाथ देवाधिदेवौ नित्यं प्रणमंति ॥"

संवत् १३०८ के लेख में एक गृहस्थ के नाम के आगे "चन्द्रगच्छीय खरतर" ये शब्द लिखे थे, परन्तु लगभग ५० वर्ष में "चन्द्रकुल, चन्द्रगच्छ" जो पहले सार्वत्रिक रूप से लिखे जाते थे उनका प्रचार कम हुआ और "खरतर" शब्द के आगे "गच्छ" शब्द लिखा जाने लगा और आचार्य तथा श्रमणों के नामों के साथ उसका प्रयोग होने लगा।

संवत् १३७८ तक के जिनकुशल सूरिजी के किसी भी लेख में 'खरतर' अथवा "खरतर गच्छ" शब्द दृष्टिगोचर नहीं होते। हमारे पास श्री जिनचन्द्र सूरि शिष्य श्री जिनकुशल सूरि द्वारा पाटण के श्री शान्तिनाथ–विधिचैत्य में संवत् १३७० में प्रतिष्ठित श्री महावीर तथा श्री पद्मप्रभ जिनबिम्बों प्रतिष्ठालेख उपस्थित हैं। परन्तु उनमें अथवा उनके पूर्ववर्ती श्री जिनकुशल सूरिजी के किसी भी शिला-लेख में अपने नाम के साथ "खरतर गच्छ" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। परन्तु सं० १३८१ से आपने भी प्राचीन परिपाटी बदलकर अपने नाम के साथ "खरतर-गच्छीय" विशेषण लिखने की परिपाटी प्रचलित कर दी थी, जो शत्रुंजय के एक शिललेख से ज्ञात होता है। वह शिलालेख नीचे उद्‌धृत किया है—

"संवत् १३८१ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ वारे खरतर-गच्छीय श्री जिनकुशल सूरिभिः श्री नमिनाथबिबं प्रतिष्ठितं········कारितं········ देवकुल········श्री मद्‌देवगुर्वाज्ञाचिंतामणिविभूषितमस्तकेन········" ॥

ऊपर के शिलालेखों से सिद्ध होता है, कि "खरतर" शब्द प्रारम्भ में केवल श्री जिनदत्त सूरिजी का विशेषण मात्र था, परन्तु धीरे धीरे उनके अनुयायिओं ने भी उसे अपनाया। पहले वे अपने को "चन्द्रकुलीन" अथवा "चन्द्र-गच्छीय" मानते थे, परन्तु चन्द्रकुल अथवा चन्द्रगच्छ साधारण व्यापक नाम थे। लगभग सभी गच्छ वाले अपने को चन्द्रकुलीन कहते थे। उस समय विशेष महत्त्व गच्छ शब्द का था, कुल शब्द केवल दिग्बन्ध के समय याद किया जाता था। प्राचीन चैत्यवासी और पौर्णमिक, आंचलिक, नवीन सुधारक श्रमण सम्प्रदाय अपने अपने समूह को गच्छ के नाम से प्रसिद्ध करते थे। इस परिस्थिति में श्री जिनदत्त सूरि के अनुयायियों ने भी अपने सम्प्रदाय को "खरतर-गच्छ" के नाम से प्रकाश में लाना ठीक समझा और विक्रम के पन्द्रहवें शतक के अन्त तक "खरतर-गच्छ" नाम सर्वव्यापक हो गया।

ऊपर के विवरण से पाठकगण समझ सकते हैं कि श्री जिनवल्लभ गरिण के समय में "खरतर" शब्द व्यवहार में भी नहीं आया था, तब तत्कालीन अपने पूर्वज आचार्यों को खरतर कहने वाले लेखक कहां तक सत्यवादी हो सकते हैं ?

अब रही जिनवल्लभ गरिणजी के ग्रन्थों की बात, हमारे कतिपय विद्वान् लेखक शिकायत करते हैं कि जिनवल्लभ गरिण ने कई बातों में उत्सूत्र प्ररूपणा की है, परन्तु इस विषय में हम सहमत नहीं हो सकते। यथोपलब्ध जिनवल्लभ गरिण के ग्रन्थों को हमने पढ़ा है, परन्तु उनमें उत्सूत्र प्ररूपणा जैसी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं हुई। "संघपट्टक" में जिनवल्लभ ने कटु शब्दों में तत्कालीन पाटन के जैन संघ की आलोचना की है अवश्य। संघ बहिष्कृत होने के बाद इन्होंने सर्वप्रथम "संघपट्टक" ही बनाया है और पट्टक के अन्तिम—

"सम्प्रत्यप्रतिमे कुसंघवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक—
म्लेच्छातुच्छ बले दुरन्त दशमाश्चर्ये च विस्फूर्जति।
प्रौढिं जग्मुषि मोहराजकटके लोकैस्तदाज्ञापरै—
रेकीभूय सदागमस्य कथयाऽपीत्थं कदर्थ्यामहे ॥४०॥

इस पद्य के चतुर्थ चरण में विन्यस्त शब्द "कदर्थ्यामहे" उनको संघ बहिष्कृति द्वारा कदर्थित करने की सूचना करता है, और कदर्थित मनुष्य उत्तेजित होकर जो कुछ बोले-लिखे उसे क्षन्तव्य मानना चाहिए। "संघ-पट्टक" में लिखी हुई अधिकांश बातें सत्य हैं, फिर भी पर्युषणा तिथि के सम्बन्ध में उन्होंने जो अपना अभिप्राय व्यक्त किया है, वह उत्तेजना का फल मात्र है। उत्तेजित मनुष्य सत्य बातों के साथ कुछ अयोग्य बातें भी कह देता है। जिनवल्लभ गरिण के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ है। जब तक वे पाटण में थे और धार्मिक संस्थाओं में होने वाली अविधियों तथा मठमति शिथिलाचारी साधुओं के शिथिलाचार की टीका-टिप्पणियां करते रहे, परन्तु जब उन्हें संघ से बहिष्कृत किया गया और गुजरात की सीमा तक छोड़नी पड़ी तब उन्होंने क्रोधावेश में "संघ-पट्टक" में कुछ

विरुद्ध बातें भी लिखीं और चित्तौड़ में जाकर महावीर के गर्भापहार की घटना को कल्याणक माना। चतुष्पट मुखवस्त्रिका रखने की कल्पना भी उसके बाद की है। फिर भी जिनवल्लभ ने विशेष प्रचलित परम्पराओं में रद्दोबदल नहीं किया, यह बात उनके ग्रन्थों से जानी जा सकती है।

संघ-पट्टक, षडशीतिक प्रकरण जिसका दूसरा नाम "आगमिक वस्तुविचारसार" है और जिस पर संवत् ११७३ में आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने एक वृत्ति लिखी है, जिसका श्लोकप्रमाण ८५० है। सार्द्धशतक अपरनाम "सूक्ष्मार्थ विचारसार" है इस पर भी सं० ११७२ के वर्ष में आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने एक वृत्ति बनाई है और उसका श्लोकपरिमाण भी ८५० है। सार्द्धशतक पर दूसरी टीका आचार्य धनेश्वर सूरि की है जिसका श्लोकपरिमाण ३७०० है और इसका निर्माण ११७१ में हुआ है। द्वादश कुलक, भावारिवारणस्तोत्र आदि जिनवल्लभीय ग्रन्थों में केवल "संघ-पट्टक" में ही कुछ कटु और प्रचलित परम्परा का विरोध करने वाली बातें मिली हैं, शेष ग्रन्थों में आगम-विरुद्ध कोई बात दृष्टिगोचर नहीं हुई। इनके एक प्रकरण में "संहनन" की "संघयणं सत्ति विसेसो" इन शब्दों में जिनवल्लभ गणि ने व्याख्या की है, इसका कई विद्वान् विरोध करते हैं, कि यह व्याख्या शास्त्रविरुद्ध है, क्योंकि शास्त्र में "संहनन" को "अस्थि-रचनाविशेष" बताया है, शक्ति विशेष नहीं, यह बात हम मानते हैं कि शास्त्र में अस्थिरचनाविशेष को ही "संहनन" लिखा है, परन्तु "जिनवल्लभ" का संहनन सम्बन्धी उल्लेख भी निराधार नहीं है।

प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्र सूरिजी ने भी अपने एक ग्रन्थ में देवताओं को लक्ष्य करके संहनन का अर्थ "शक्तिविशेष" किया है। उनका कथन है कि भले ही देव अस्थिर स्नायु की अपेक्षा से असंहननी हों, परन्तु शक्ति-रूप संहनन उनमें भी है। अन्यथा उनके शरीर से कोई भी प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? श्री जिनवल्लभ गणि ने श्री हरिभद्र सूरिजी के कथन का ही अनुसरण करके उपर्युक्त "संहनन" की व्याख्या की है, अतः इस उल्लेख से जिनवल्लभ गणि को उत्सूत्रभाषी नहीं कह सकते। वस्तुतः **श्री जिनवल्लभ गणि ने प्रचलित जैन परम्पराओं में इतनी तोड़फोड़**

नहीं की है जितनी कि आजकल के हमारे विद्वान् समझते हैं। जिनवल्लभ गणि पर पिछले खरतर-गच्छीय लेखकों ने अनेक बातें थोपकर जितना अन्य-गच्छीय विद्वानों की दृष्टि से गिराया है उतना और किसी ने नहीं, इसलिए हम विद्वान् लेखकों को सावधान कर देना चाहते हैं कि जिनवल्लभ सूरि को क्रान्तिकार समझ कर उनसे डरने की कोई आवश्यकता नही है। उनके ग्रन्थों पर अन्य-गच्छीय विद्वानों ने टीका-विवरण आदि लिखे हैं। इसका कारण भी यही है कि वे ऐसे नहीं थे जैसा कि आजकल हम लोग मान बैठे हैं।

"**पिण्डविशुद्धि**" की अन्त्य गाथा में जिनवल्लभजी ने अपने नाम के साथ गणि शब्द लिखा है, इसमे निश्चित है कि उनको देवभद्र की तरफ से आचार्य पदवी प्राप्त होने के पहले की यह कृति है।

पिण्डविशुद्धि के टीकाकर्त्ता आचार्य श्री चन्द्र सूरि ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। निशीथ सूत्र के बीसवें उद्देशक की व्याख्या, सुबोधा-सामाचारी, निरयावलिकासूत्र की व्याख्या आदि आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अन्य ग्रन्थों की भाषा की अपेक्षा से इस टीका में आपने कुछ सुगमता की तरफ लक्ष्य रखा है। इसी के परिणामस्वरूप आपकी टीका में कई जगह देश्य शब्दों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। टीका विषय का स्पष्टीकरण करने में बहुत ही उपयोगी बनी है। ग्रन्थ का श्लोकप्रमाण ४४०० जितना विस्तृत है। कई स्थानों पर मौलिक दृष्टान्त भी दिए गए हैं। खास करके प्रसिद्ध आचार्य श्री पादलिप्त सूरि का वृत्तान्त प्राकृत भाषा में दिया है, जो मौलिक वस्तु प्रतीत होती है।

卐 卐

: ८ :

श्री श्रीपाल-कथा अवलोकन

❖

लेo : पंo कल्याणविजय गरिग

(१) कथाभूमिका और कथापीठ :

श्वेताम्बर जैन परम्परा में "सिद्धचक्र" की आराधना का फलप्रदर्शक श्रीपाल राजा का कथानक सबसे प्राचीन है। यों तो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्पराओं में संस्कृत में तथा प्राचीन हिन्दी, गुजराती भाषाओं में निर्मित अनेक श्रीपालचरित्र उपलब्ध होते हैं, परन्तु वे सभी सोलहवीं शताब्दी के अथवा बाद के हैं। प्रस्तुत श्रीपाल-कथा विक्रम की पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ में बनी हुई प्राकृत-कथा है। इसमें कुल १३४२ गाथाएँ हैं। इसकी रचना नागोरी तपागच्छीय आचार्य श्री रत्नशेखर सूरिजी ने १४२५ के लगभग में की है।

इस कथा का सर्वप्रथम उपदेश भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य श्री गौतम गणधर से करवाया है और कथा की समाप्ति के समय भगवान् महावीर राजगृह के निकटवर्ती किसी गांव से राजगृह के उद्यान में पधार कर गौतम द्वारा उपदिष्ट "नवपदात्मक सिद्धचक्र" के स्वरूप को निश्चय नय के अनुसार प्रतिपादन करते हैं।

इस कथानक की भूमिका में दो बातें विचारणीय हैं—एक तो जब कभी भगवान् महावीर राजगृह के परिसर में पधारते, अपने संघ के परिवार के साथ ही पधारते। गौतम अथवा अन्य किसी गणधर को आगे भेजकर बाद में स्वयं जाना इसका उदाहरण इस कथा के अतिरिक्त अन्य किसी अर्वाचीन या प्राचीन चरित्रों तथा सूत्रों में दृष्टिगोचर नहीं

होता। कथालेखक कहते हैं—लाभ विशेष जानकर भगवान् ने गौतम को आगे भेजा, परन्तु किस लाभ की दृष्टि से आगे भेजा, इसका तो सूचन तक भी नहीं करते। न सारा कथानक पढ़ लेने पर भी ऐसा कोई लाभ दृष्टिगोचर होता है, जो गौतम के आगे न जाने पर न होता। दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर जब कभी राजगृह पधारते, गुणशिलक चैत्य में जो राजगृह के ईशान दिग्-विभाग में था—ठहरते थे, तब इस कथा की भूमिका में गुणशिलक का नाम-निर्देश नही है और राजगृह के परिसर में विपुलाचल और वैभारगिरि नामक दो पर्वत होना लिखा है। इससे मैं अनुमान करता हूं कि कथा की प्रस्तावित भूमिका की पसन्दगी श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् को न होकर किसी दिगम्बर जैन विद्वान् की होने का विशेष सम्भव है क्योंकि अनेक दिगम्बरीय ग्रन्थों में भगवान् महावीर के वैभार अथवा विपुलाचल पर्वत पर रहते हुए उपदेश देने का वर्णन मिलता है, तब गुणशिलक वन में समवसरण होने का उनमें वर्णन नही आता।

गौतम स्वामी को पहले भेजना और भगवान् के पीछे जाने की बात कहना, इसमें भी हमें तो एक रहस्य प्रतीत होता है। वह यह कि श्वेताम्बर-परम्परा के आगमों में, मध्यकालीन इतर साहित्य में और दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य में श्रीपाल कथा उपलब्ध नहीं होती, इससे कथानिर्माता ने यह कथानक आगमों में न होने पर भी गणधरभाषित और तीर्थङ्करअनुमोदित है, ऐसा प्रमाणित करने के लिए इसका उपदेश गौतम गणधर के मुख से करवाया है।

कथापीठ में लेखक ने मगध देश को जैनों के लिए विशेष तीर्थ-भूमि होना लिखा है। यह बात भी श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुकूल नहीं है, ऐसा मेरा मन्तव्य है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी प्राचीन साहित्य में किसी भी देश को विशेष तीर्थ रूप में नहीं माना है। यद्यपि भगवान् महावीर का अधिक विहार मगध देश में हुआ है और अधिक वर्षाकाल भी इसी देश में व्यतीत हुआ है, फिर भी श्वेताम्बरीय जैन परिभाषा के अनुसार मगध को विशेष तीर्थ कहना योग्य नहीं।

कथापीठ में ही लेखक ने गौतम गणधर के मुख से दान शीलादि चतुर्विध धर्म तीर्थङ्करभाषित हैं, कहलाकर अन्त में भाव-धर्म की प्रधानता बतलाई है और वे भाव को स्थिर रखने के लिए उसका आलम्बन "नवपदात्मक-सिद्धचक्र" को बताते हैं। कहते हैं—भाव का क्षेत्र मन है और मन दुर्जेय है, अतः उसको स्थिर करने के लिए ध्यान की आवश्यकता है। ध्यान के आलम्बन से मन को स्थिर करके भाव की वृद्धि करना चाहिए। यद्यपि जगत् में ध्यान के आलम्बन अनेक हैं, तथापि तीर्थङ्कर भगवान् ने नवपदों को ध्यान का प्रधान आलम्बन बताया है। इस प्रकार लेखक कथापीठ बनाकर श्रीपाल कथा का आरम्भ करते हैं। कथा-भूमिका और कथापीठ के पढ़ने से तो पाठक को यही आभास मिलता है कि लेखक किसी अच्छे आध्यात्मिक ग्रन्थ का प्रारम्भ कर रहे हैं, परन्तु कथा प्रारम्भ होने के बाद थोड़े ही समय में उन्हें तथा श्रोताओं को ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थ आध्यात्मिक नहीं किन्तु कर्मसिद्धान्त का महत्त्व प्रतिपादन करने वाली एक आख्यायिका है। आरम्भिक वक्तव्य का उद्देश्य अन्त तक निभाना यह अच्छे लेखक का लक्षण है। इस कथा में ऐसा प्रतिज्ञा-निर्वाह नहीं हुआ, इससे कथा का आदि लेखक अच्छा विद्वान् नहीं जान पड़ता।

(२) सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार :

कथानायिका मदनसुन्दरी और उसका पति श्रीपाल जैन उपाश्रय में धर्मश्रवणार्थ जाते हैं। धर्मकथा के अन्त में उपदेशक श्री मुनिचन्द्र सूरि मदना को पहिचानते हैं और उसके पास बैठे हुए श्रीपाल के सम्बन्ध में पूछते हैं। गुरु का प्रश्न सुनकर मदना गद्गद कण्ठ से कहती है—भगवन् ! मुझे तो धर्म और कर्म पर विश्वास है, परन्तु अनजान लोग मेरे इन पति की प्राप्ति में जैन धर्म की निन्दा करते हैं। इस बात का मुझे बड़ा दुःख है। कुष्ट-रोगग्रस्त श्रीपाल को देखकर आचार्य मदना के मनोभाव को समझ गए और बोले—बहन ! मन्त्र तन्त्र तथा औषध-भैषज्य करना कराना जैन श्रमण के आचार से विरुद्ध है, इसलिए मैं तुम्हें एक निर्दोष यन्त्र बताता हूं, जो इस लोक तथा परलोक के सुखों का मूल है। जो अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान,

सम्यक्-चरित्र और सम्यक्-तप इन नवपदों से बनता है। इन नवपदों से बने हुए यन्त्र को पूर्वाचार्य "सिद्ध-चक्र" कहते हैं—

"एएहिं नवपएहिं, सिद्धं सिरिसिद्धचक्कमेयं जं ।
तस्सुद्धारो एसो, पुव्वायरिएहिं निद्दिट्ठो ॥६५॥"

उपर्युक्त गाथा में कथालेखक मुनिचन्द्र सूरि के मुख से कहलाते हैं—मैं तुझे जो यन्त्र दे रहा हूं, इसका उद्धार पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार किया है—

मुनिचन्द्र सूरि जो श्रीपाल तथा मदना के समय विद्यमान थे, पूर्वाचार्यों द्वारा यन्त्रोद्धार होना बताते हैं। कथालेखक कथा के अन्त में श्रीपाल का आयुष्य ९०० वर्ष से अधिक होना बताते हैं, इससे ज्ञात होता है कि श्रीपाल आयुष्य के लिहाज से श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर के बाद के होने चाहिए, जब कि "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि" के सम्पादक इन्हें ११ लाख वर्ष पहले के मानते हैं। यहाँ पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि ११ लाख वर्ष पहले अथवा नेमिनाथ के तीर्थकाल में भारतवर्ष में यन्त्र-मन्त्र की चर्चा तक नहीं थी। उस समय तो क्या, भगवान् महावीर के शासन में भी, जैनों में आज से १५०० वर्ष पहले मन्त्र-तन्त्रादि की चर्चा नहीं थी। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय में विक्रम की चौथी पाँचवीं शती में तान्त्रिक मान्यताओं का प्रचार चल पड़ा था, तथापि जैन समाज उससे सैंकड़ों वर्षों तक बचा रहा। जैन सूत्रों में से केवल "महानिशीथ" में कुछ देवताओं के यन्त्रों के संकेत मिलते हैं, परन्तु महानिशीथ विक्रम की नवमी अथवा दशवीं शताब्दी का सन्दर्भ है। जैन-श्रमणों में इसी समय के बाद धीरे धीरे मन्त्रवाद का प्रचार हुआ है। इस स्थिति में श्रीपाल के समकालीन मुनिचन्द्र मुनि के मुख से पूर्वाचार्यों द्वारा यन्त्रोद्धार होने की बात कहलाना कहां तक ठीक है, इसका निर्णय मैं अपने पाठकों पर छोड़ता हूं।

१—"सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार" बताते हुए कथाकार कहते हैं—"सर्वप्रथम वलय में बीजाक्षरों के साथ 'अर्हं' पद का न्यास कर उसका ध्यान करो, यह सिद्धचक यन्त्र का पीठ है। इसको परिवेष्टित करते हुए द्वितीय वलय में पूर्वादि दिशाओं में सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन चार पदों

को और आग्नेयादि चार विदिशाओं में सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तप इन चार पदों का विन्यास करो और इसी द्वितीय वलय में अष्टवर्गात्मक वर्ण-मातृका को लिखो और आठों स्थानों में 'अनाहतों' का आलेख कर इन आठ पदों का भी ध्यान करो। द्वितीय वलय के बाहर तीसरा वृत्त खींचो और उसमें ४८ (अड़तालीस) लब्धियों के नाम लिखकर उनका चिन्तन करो। उन लब्धि-पदों के आदि में "ॐ अर्हं नमो चिनेभ्यः" ऐसा लिखना चाहिए और लब्धियों के नाम गुरुगम से जानने योग्य हैं। तीसरे वलय को ह्रींकार से त्रिवेष्टित कर उसकी परिधि के बाहर गुरुपादुकाओं को नमन करो।

(२)—चक्र को रेखाद्वय मे कलशाकृति बनाकर अमृत मंडल की भावना से स्मरण करो, और इसके बाद विजया जम्भादि आठ देवियों तथा विमलेश्वर प्रमुख अधिष्ठायक सकल देवों का विन्यास कर ध्यान करो। उसको १६ विद्या-देवियों, शासन-देवियों द्वारा सेवित पार्श्वद्वय बताकर मूल भाग में नवग्रहों का, कंठ भाग में नवनिधियों का विन्यास करके चार प्रतिहारों तथा चार वीरों से युक्त तथा दिक्पाल क्षेत्रपालादि से सेवित दिखाकर माहेन्द्र मण्डल पर प्रतिष्ठित बनाओ। यह सिद्धचक्र यन्त्र विद्याप्रवाद पूर्व का सार है। इसके जानने से महती सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस श्वेत उज्ज्वल वर्णमय सिद्धचक्र यन्त्र का जो भाव से ध्यान करता है, वह विपुल कर्म जिर्जरा को प्राप्त करता है।"

(३)—कथाकार ने "सिद्धचक्र यन्त्र" के तीन वलयों का निरूपण कर यन्त्र को ह्रींकार के ईकार द्वारा त्रिवेष्टित करके समाप्त कर दिया है, क्योंकि 'यन्त्र' के 'ह्रींकार वेष्टित' हो जाने के बाद उसके बाहर कोई भी वलय लगाया नहीं जाता। कहीं-कहीं चार कोणों में चार गुरु पादुकाएँ तो कहीं-कहीं चार महेन्द्रादि मंडल आलेखे हुए अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इनके लिए वलय नहीं बनाया जाता। कथालेखक ने भी गुरुपादुकादि के बाहर वृत्त खींचने का नहीं लिखा। इस स्थिति में कथालेखक ने यन्त्र बाहर जयाजम्भादि, रोहिणी-प्रज्ञप्त्यादि, विमलेश्वरादि अधिष्ठायकशासन देव-देवी, द्वारपाल वीर क्षेत्रपाल दिक्पाल ग्रह आदि देवों का सम्मेलन क्यों

किया, यह एक अज्ञेय समस्या है। सिद्धचक्र का स्थान-स्थान पर ध्यान करने का लिखा है। कथा की भूमिका में भी गौतम स्वामी के मुख से सिद्धचक्र का ध्यान करने का उपदेश दिलाया है। इस परिस्थिति में "सिद्धचक्र" यन्त्र के साथ देव-देवियों का जमघट कितना असंगत और अप्रस्तावित है, इस बात को पाठक स्वयं समझ सकेंगे।

"सिद्धचक्र-यन्त्र" के सम्बन्ध में हमारा तो मन्तव्य यह है कि कथाकार श्री रत्नशेखर सूरि को किसी दिगम्बर विद्वान् की यन्त्रोद्धार-विषयक कृति हाथ लगी है कि जिसके आधार से उक्त यन्त्रोद्धार विधि और आगे दी जाने वाली, उद्यापन विधि अपनी कथा में दाखिल कर गुड़गोबर कर दिया है, क्योंकि यन्त्र में निदिष्ट अड़तालीस लब्धियाँ श्वेताम्बर जैनों की नहीं, किन्तु दिगम्बरों के घर की चीज हैं। चार द्वारपाल तथा कपिल और पिंगल ये वीर भी श्वेताम्बर जैन-शास्त्र में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

(३) सिद्धचक्राराधन-तप का उद्यापन :

कथालेखक श्री रत्नशेखर सूरि श्रीपाल को पैत्रिक राज्य प्राप्त हो जाने के बाद फिर नवपद का तपोविधान करवा के साढ़े चार वर्ष में तप पूरा होने पर अपने वैभव के अनुसार विस्तार पूर्वक तप का उद्यापन करवाते हैं, जिसका संक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

"उसके बाद राजा ने अपनी राज्य-शक्ति और वैभव के अनुसार विस्तार पूर्वक तप-उद्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। एक विस्तीर्ण भूमि भाग वाले जिनमन्दिर में तीन वेदिकायुक्त विशाल पीठ बनवाया, उस पीठ पर मन्त्रपवित्रित शालिप्रमुख पंचवर्ण वाले धान्यों से "सिद्धचक्र" का मण्डल निर्माण कराया और सामान्य रूप से अरिहन्तादि नवपदों के स्थान पर घृत खांड युक्त नारियल के नव गोले रखें। फिर राजा श्रीपाल ने अपने वैभव के अनुरूप उन स्थानों पर विशेष प्रकार से गोलक चढ़ाये, जिन में अरिहन्त के पद पर चन्दन कपूर से विलिप्त आठ कर्केतन रत्न तथा,

३४ हीरक सहित गोला चढ़ाया। सिद्ध के पद पर केसर रंग से रंजित तथा ८ माणिक्य और ३४ प्रवालों से जड़ित गोला स्थापित किया। आचार्य के पद पर केसर–चन्दन से विलिप्त और ५ गोमेद तथा ३६ सुवर्ण-पुष्पों के साथ गोलक चढ़ाया। चौथे उपाध्याय पद पर नागवल्लीपत्र के समान नीलवर्ण का गोला, चार इन्द्रनील मणियों और २५ मरकत मणियों के साथ स्थापित किया। पांचवें श्याम रंग के साधु पद पर कस्तूरी-रञ्जित गोलक पाँच राज - पट्ट रत्न और २७ अरिष्ट रत्नों के साथ स्थापित किया। शेष दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप इन चार श्वेत पदों पर चन्दन-विलिप्त गोलक क्रमशः सड़सठ, इक्कावन, सत्तर और पचास मौक्तिकों के साथ स्थापित किये। इसके अतिरिक्त नवपद के उद्देश्य से पदों के वर्णानुसार मेरु सहित माला वस्त्रादि वहाँ चढ़ाये। सोलह अनाहतों में एक-एक खड़ी-शाकर के अनेक रत्नों से युक्त लिङ्ग रखे। आठ वर्गों के ऊपर एक-एक सोने की कचोली रखकर उनमें क्रमशः छः तक १६-१६ और सातवें आठवें वर्ग की कचोली में ३२-३२ सुन्दर द्राक्षाओं को रखा और वर्गान्तरगत आठ परमेष्ठी पदों पर खारकों का एक-एक पुंज किया, और आठ गुरुपादुकाओं पर अनार चढ़ाये। जया जम्भादि आठ देवियों के स्थानों पर नारंगियां चढ़ाई। सिद्धचक्र के चार अधिष्ठायकों के पद पर कूष्मांड फल चढ़ाये। १६ विद्या देवियों, २४ यक्षों, और यक्षिणियों को सुपारियाँ चढ़ाई। चार द्वारपालों के पदों पर पीतवर्ण के नैवेद्य के ढेर किये और चार वीरों के पदों पर चार कृष्णवर्ण नैवेद्य के ढेर किये। नव निधियों के स्थानों पर विचित्र रत्नों से परिपूर्ण सुवर्णमय नव कलश धरे और नवग्रह, दिक्पालादि को उनके वर्णानुसार फल पुष्पादि चढ़ाये।

उक्त प्रकार से उद्यापन की स्थापना कराने के उपरान्त राजा ने स्नान-महोत्सव प्रारम्भ किया। स्नानविलेपनादि अष्टप्रकार की पूजा-विधि पूरी करके आरात्रिक-मंगल के अवसर पर संघ ने श्रीपाल को मंगल-तिलक किया और माला पहिनाई। इसके बाद श्रीपाल ने " जो धुरि—सिरि—अरिहन्त इत्यादि चैत्यवन्दन कर नवपद का स्तवन किया।

ऊपर मैं ने श्रीपालकथा में लिखे हुए नवपद आराधन तप के उद्यापन का प्रायः शब्दशः सारांश दिया है। घी खाण्ड के साथ नारियल के गोलों का चढ़ाना अथवा भिन्न-भिन्न मणिरत्न मोतियों के साथ गोलों का चढ़ाना श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुरूप है या नहीं, इसका निश्चित निर्णय तो नहीं दिया जा सकता परन्तु जहाँ तक मैंने श्वेताम्बर सम्प्रदायमान्य विविध तपों के विधानों और उनके उद्यापनों की विधियाँ पढ़ी हैं उनमें उक्त उद्यापन के समान अन्य किसी तप की उद्यापनविधि में घी खांड तथा विविध रत्नों के चढ़ाने का पाठ नहीं पढ़ा। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण उद्यापन में रखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक उपकरण रत्नत्रयी की वृद्धि के लिए रखे जाते हैं। फल-मेवा नैवेद्य पूजोत्सव में रखे जाते हैं, उद्यापन में नहीं। विविध मणिरत्नों का तो क्या, रुपया पैसा भी तीर्थंकरों की पूजा—प्रतिष्ठा में चढ़ाने का हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने विधान नहीं किया, सुगन्धी.गन्धों पुष्पों, धूपों, दीपों, नैवेद्यों, अक्षतों, और जल पदार्थों से ही परमेष्ठी पदों की पूजा-भक्ति करने का हमारा प्राचीन साहित्य प्रतिपादन करता है। पूजा-प्रतिष्ठा उद्यापनों में कीमती धातुओं के पदार्थ अथवा रुपया पैसा चढाने की पद्धति शास्त्रीय अथवा संविग्न गीतार्थाचरित नहीं, किन्तु चैत्यों की व्यवस्था करने वाले शिथिलाचारी साधुओं, परिग्रह धारी श्री-पूज्यों, यतियों तथा दिगम्बर भट्टारकों की है। 'आचारदिनकर' ग्रन्थ, जो दिगम्बर भट्टारकों तथा चैत्यवासी श्वेताम्बर शिथिल साधुओं की मान्यताओं का विक्रमीय १५ वीं सदी का संग्रह है, इसमें प्रतिष्ठा तथा अन्य विधानीय स्थापन पूजन में मुद्रा अर्थात् रुपया—पैसा चढ़ाने का सर्व प्रथम विधान मिलता है। इसके पूर्ववर्ती किसी भी प्रतिष्ठा-विधि में पूजा-पदार्थों के साथ मुद्रा चढ़ाने का उल्लेख देखा नहीं जाता। इससे प्रमाणित होता है कि "सिरिसिरिवाल कथा" में लिखी हुई नवपद-पूजा विधि तथा उद्यापन विधि विक्रम की १५ वीं शती के पूर्व की नहीं है। या तो रत्न-शेखर सूरि को किसी दिगम्बर भट्टारकजी का "सिद्धचक्रपूजा" विषयक कोई विधान हाथ लगा है, जिसके सहारे से कुछ दिगम्बरीयता और कुछ श्वेताम्बरीयता प्रतिपादक बातों का सम्मिश्रण करके यन्त्रोद्धार तथा उद्यापनविधि की यह

खीचड़ी पकाली है क्योंकि इसमें से बहुत सी बातें दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नहीं हैं। तब कुछ बातें श्वेताम्बर मान्यता से भी विरुद्ध पड़ती हैं। सिद्धचक्र के अधिष्ठायकों को कूष्माण्ड फल चढ़ाने की बात पौराणिक पद्धति से ली गई है, जो दोनों परम्पराओं को मान्य होने में शंका है।

उद्यापन की समाप्ति में श्रीपालकथा-लेखक श्रीपाल द्वारा सार्धमिक वात्सल्य तथा संघपूजा करवाते हैं। वे लिखते हैं—

"वज्जंतएहिं मंगल-तूरेहिं सासणं पभावंतो ।
साहम्मियवच्छल्लं, करेइ वरसंघपूयं च ॥ १२११ ॥"

उपर्युक्त गाथोक्त वादित्रवादन सार्धमिकवात्सल्य संघपूजा १४-१५ वीं शताब्दी के विशेष प्रसिद्ध कर्तव्य हैं। इससे जाना-जाता है कि इस कथा का मूल आधार ग्रन्थ दो सम्प्रदायों में से किसी एक सम्प्रदाय का रहा भी हो तो भी वह अर्वाचीन था, प्राचीन नहीं।

लेखक राजा श्रीपाल की राज्यऋद्धि का विस्तार बताते हुए कहते हैं—

" गय–रह-सहस्सनवगं नव लक्खाइं च जच्चतुरयाणं ।
पत्तीणं नव कोडी, तस्स नरिंदस्स रज्जंमि ॥ १२१४ ॥"

अर्थात्—राजा श्रीपाल की सेना में ९००० हाथी, ९००० रथ, नव लाख जात्य घोड़े और नव करोड़ पैदल सैनिक थे।

उपर्युक्त कथन में कितनी अतिशयोक्ति है इसके सम्बन्ध में मैं अपना अभिप्राय न देकर इतना ही कहूंगा कि श्रीपाल को लेखक ने अंग देश का राजा बताया है। उसने अपना राज्य प्राप्त करने के उपरान्त अन्य किसी भी देश अथवा मंडल पर चढ़ाई कर विजय करने का लेखक ने नहीं लिखा। इस दशा में श्रीपाल के पत्ति-सैन्य की संख्या नव करोड़ थी तो उसके देश अंग में कुल जनसंख्या कितनी थी, यह भी कथा-लेखक ने बता दिया होता तो इस कथा की वास्तविक सत्यता पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ जाता।

कथाकार ने श्रीपाल का राजत्व-काल सम्पूर्ण ९०० वर्ष का बताया है। उक्त समय के उपरान्त श्रीपाल अपनी प्रथम रानी मदनसुन्दरी की कोख से

जन्मे त्रिभुवनपाल नामक अपने पुत्र को राज्यासन पर बैठाकर स्वयं "सिद्धचक्र" की स्तवना में लीन हुआ। लेखक ने "सिद्धचक्र" के प्रत्येक पद की नव-नव गाथाओं में स्तवना कराई है। उसके बाद नव पद के ही ध्यान में लीन होकर आयुष्य पूर्ण कर श्रीपाल नवम देवलोक में देवगति को प्राप्त हुआ। राज्यप्राप्ति के समय श्रीपाल की कितनी उम्र हुई थी और राज्य-त्याग के उपरान्त वह कितने वर्षों तक जीवित रहा, इसका कुछ भी सूचन नहीं किया। वर्तमान चतुर्विंशति तीर्थङ्करों में से किस तीर्थङ्कर के धर्म-शासन-काल में यह राजा हुआ इस विषय में भी कथालेखक ने कहीं भी निर्देश नहीं किया। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि "श्रीपालकथा" तपोमाहात्म्यसूचक औपदेशिक कथा है, चरित्र नहीं।

कथाकार ने श्रीपाल के मुख से उद्यापन के देव-वन्दन के प्रसंग पर जो नवपद की स्तवना कराई, राज्यत्याग के बाद प्रत्येक पद की नव-नव गाथाओं से जो स्तवना कराई और भगवान् महावीर के मुख से नवपद का जो स्वरूप प्रतिपादन कराया, उन सभी गाथाओं को सामने रखकर उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने नवपद की पूजा का अपने समय की भाषा में निर्माण किया है, जो श्वेताम्बर परम्परा में अति प्रसिद्ध है।

श्रीश्रीपाल-कथा को पढ़कर उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने योग्य बातें ऊपर के अवलोकन में लिखी हैं। हमारी इच्छा "सिद्धचक्र" की पूजा तथा नव पद की तपस्या में विशुद्धता आए ऐसी है, न कि इसको किसी प्रकार की हानि पहुंचाने की। आजकल इस कथा के नाम को आगे रखकर "*सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार पूजन विधि*" जैसे नये नये अनुष्ठानों की सृष्टि हो रही है, जो सिद्धचक्र के पवित्र पूजन तथा तद्विषयक तप को कलंकित करने वाली है। आशा की जाती है कि इस अवलोकन को पढ़कर नवीन पूजन विधियों का प्रचार करने वाले सज्जन इनका वास्तविक स्वरूप समझेंगे और इसके प्रचार को रोकेंगे।

> **" सिरिवज्जसेण गणहर-पट्टप्पहु हेमतिलयसूरीणं।**
> **सीसेहिं रयणसेहर-सूरीहिं इमा हु संकलिया ॥ १३४० ॥**
> **तस्सीसहेमचंदेण, साहुणाविक्कमस्स वरिसंमि।**
> **चउदस अट्ठावीसे लिहिया गुरु-भत्तिकलिएण ॥ १३४१ ॥"**

: ६ :

"सिद्धचक्र महापूजा"

"अर्थात्"

सिद्धचक्रयन्त्रोद्धार पूजन-विधि

(एक अवलोकन)

ले॰ पं॰ कल्याणविजय गणी

पिछले कितनेक वर्षों से हमारे श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में एक नया पूजन–विधान प्रचलित हुआ है, जिसे साधारण जनता "सिद्धचक्र महापूजा" इस नाम से पहिचानती है। इस विधान को बतलाने वाली पुस्तक की अब तक दो आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं। प्रथमावृत्ति वाली पुस्तक की पट्टड़ियों पर "श्रीसिद्धचक्र-बृहत्-पूजन-विधि" इस प्रकार नाम छपा है और पुस्तक के टाइटिल पेज पर "श्रीसिद्धचक्र–यन्त्रोद्धार–पूजन विधि" यह नाम मुद्रित है। दूसरी आवृत्ति वाली पुस्तक की पट्टड़ियों पर "श्रीसिद्धचक्र–यन्त्रोद्धार पूजन विधिः" यह नाम मुद्रित है, और टाइटिल पेज पर भी यही नाम कायम रखा है। इस प्रकार ग्रन्थ के नाम परिवर्तन से यह मालूम होता है कि ग्रन्थ का नाम प्राचीन नहीं बल्कि नव-निर्मित है। यह पूजन-विधि का ग्रन्थ सम्पादकों को यथार्थ रूप में प्राप्त नहीं हुआ है, प्रकाशकीय निवेदन से भी इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि इस का प्रथम–पत्र प्रथमावृत्ति के समय उपलब्ध नहीं हुआ था। इसी कारण से प्रथमावृत्ति में प्रथम चतुर्विंशति के प्रथम के कतिपय श्लोक नहीं छप सके हैं, द्वितीयावृत्ति में प्रथम चतुर्विंशतिका पूरी मुद्रित है, परन्तु इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता कि ये प्राथमिक श्लोक पुस्तक के प्रथम पत्र के उपलब्ध होने से मिले हैं, अथवा संशोधक ने इन्हें बनाकर पूर्ति की है ?

उपर्युक्त असंगतियों के उपरान्त इसमें कुछ ऐसे भी उद्धरण दृष्टि गोचर होते हैं, जो प्रस्तुत पूजन विधि के मूल लेखक के न होकर इस विधि

के सम्पादकों द्वारा प्रक्षिप्त किये गए हैं। इस पूजा विधान को ध्यान पूर्वक पढने से मुझे जो विचार स्फुरित हुए वे नीचे दिए जाते हैं—

(१) मेरी दृष्टि में यह पूजा-विधि सर्वांश में न श्वेताम्बर जैन परम्परा की है न दिगम्बर जैन परम्परा की, किन्तु इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर जैन मान्यताओं के अतिरिक्त पौराणिक पद्धति का भी पुट लगा हुआ है, इस बात की सत्यता सिद्ध करने के लिए नीचे कतिपय प्रमाणों का उल्लेख किया जाता है।

ग्रन्थ को श्वेताम्बर साबित करने वाले उल्लेख—

१. पूजन विधि के प्रारम्भ में दिया हुआ "अर्हन्तो भगवन्त इन्द्र-महिताः" इत्यादि पद्य इस पूजन विधि का न होकर एक खरतर गच्छ के आचार्य द्वारा निर्मित मंगल स्तुति है।

२. "आश्विनस्य सिताष्टम्यां, निर्दोषायां यथाविधि ।
कृत्वा श्रीसिद्धचक्रार्चामाद्याचाम्लो विधीयते ॥ २ ॥

इस श्लोक में सिद्धचक्र की तपस्या का आरम्भ आश्विन शुक्ला अष्टमी से प्रारम्भ करने का विधान किया है और पूर्णिमा के बाद नवम आयम्बिल करने का विधान किया है और इसके बाद के दो श्लोकों में साढ़े चार वर्षों में इक्यासी आयम्बिल पूरे करके तप का उद्यापन करने का उपदेश किया है, तथा उद्यापन में जमीन पर पांच रंग के धान्यों से "सिद्धचक्र" के मण्डल के आलेखन की बात कही है।

उपर्युक्त विधान "सिरि सिरिवालकहा" का संस्कृत रूपान्तर मात्र है, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आज कल प्रचलित "सिद्धचक्र तपो-विधान" से हूबहू मिलता है। फरक इतना ही है कि आज कल "सिद्धचक्र आयम्बिल" तप आश्विन शुक्ला सप्तमी से शुरू होते हैं। उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा प्रारब्ध और यशोविजयजी द्वारा पूरित "सिद्धचक्र रास" निर्माण के समय में अर्थात् विक्रम की १८ वीं शताब्दी के द्वितीय चरण में सप्तमी का दिन आयंबिल तप में सम्मिलित हो चुका था। इन बातों से ज्ञात होता है कि इस पूजन विधि की प्राथमिक तीन पद्य चतुर्विशतियाँ किसी श्वेता-

म्बर जैन विद्वान् की कृतियां हैं। जो "सिरि सिरि वालकहा" की प्राकृत गाथाओं के आधार से बनाई गई हैं।

वीरविजयजी कृत "स्नात्र-पूजा" पढ़ाने की सूचना आदि ये सभी प्रमाण निश्चित रूप से इस विधान की आधुनिकता और श्वेताम्बरीयता प्रमाणित करते हैं।

३. तृतीय चतुर्विशतिका के पद्य १५ वें तथा १६ वें में क्रमशः "सिद्ध-चक्र" के प्रथम तथा द्वितीय पद के आराधकों के नामोल्लेख किये हैं। वे नाम भी "सिरि सिरिवाल कहा" की मान्यता के ही अनुरूप हैं, इससे चतुर्विशतियों के श्वेताम्बर प्रणीत होने की हमारी मान्यता विशेष दृढ़ हो जाती है।

४. पूजा के बाद दी हुई देववन्दन विधि आधुनिक श्वेताम्बरीय विधि है, और देव वन्दन के प्रारम्भ में चैत्य वन्दन के स्थान पर बोलने के लिए "जो धुरि सिरि अरिहन्त मूल दढ पीठ पइट्ठियु०" एक अपभ्रंश भाषा का पद्य लिखा है, वह भी "सिरि सिरिवाल कहा" का ही है।

५. "सिद्धचक्र महापूजा" में दिया हुआ पूजा-विधान विक्रम की १६ वीं सदी के पहले का नहीं, अष्टप्रकारी पूजा के जो अष्टप्रकार बताये हैं वे निश्चित रूप से सोलहवीं शती के हैं, क्यों कि इसके पूर्ववर्ती काल में अष्ट-प्रकारी पूजा में जल-पूजा का नम्बर आठवां था, तब प्रस्तुत पूजन में जल-पूजा को सर्व प्रथम रखा है, इससे स्पष्ट हो जाता है, कि यह पूजा-विधान १७ वीं सदी के पहले का नहीं हो सकता।

६. "ॐ असि आ उ सा द ज्ञा चा ते भ्यो नमः" विधान लेखक ने इसको "सिद्धचक्र" का मूल-मन्त्र बतलाया है, कोई ४००-५०० वर्षों से पंच परमेष्ठी के नामों के आद्याक्षरों को लेकर श्वेताम्बर तथा दिगम्बर शिथिलाचारी आचार्यों ने "असि आ उ स य नमः" इस प्रकार का मन्त्र बनाकर लोगों को दिया था तब "सिद्धचक्रमहापूजा" विधान लेखक ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शब्दों के आद्याक्षरों को उक्त संक्षिप्त मंत्र के पीछे जोडकर "सिद्धचक्र"

का मूल मन्त्र बना डाला, मैं समझता हूं कि लेखक इस प्रकार के कार्य में अपना समय लगाने के बदले किसी उपयोगी कार्य में लगाता तो विशेष लाभ के भागी होते।

७. "सिद्धचक्र" के मण्डल की रचना में जो पंचवर्णधान्य का उल्लेख है, वह भी इस विधान की अर्वाचीनता को ही सिद्ध करता है, धान्यों द्वारा "सिद्धचक्र" का मण्डल बनाने की पद्धति "सिरि सिरि वालकहा" के सिवाय पूर्वकालीन किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती, प्रतिष्ठा-कल्पों में भी उपाध्याय सकलचन्द्रजी गणी का "प्रतिष्ठा-कल्प" जो विक्रम की १७ वीं शती की कृति है, प्रतिष्ठा में "सिद्धचक्र" का पूजा-विधान बताया है। इसके अतिरिक्त, किसी प्राचीन प्रतिष्ठा विधि में "सिद्धचक्र" का पूजा-विधान नहीं बताया। उस समय केवल नन्द्यावर्त के अन्तर्गत ही सिद्धचक्र के पदों का पूजन होता था।

८. पूजन विधि में दिये स्तोत्रों में "वज्रपञ्जर-स्तोत्र" निश्चित रूप से श्वेताम्बरीय है और "शान्ति-दण्डक" के अन्त में दिए हुए "शिवमस्तु सर्व-जगतः" इत्यादि दो पद्य भी निश्चित रूप से श्वेताम्बर जैन परम्परा के हैं।

९. विधान के प्रारम्भ में "वज्रपञ्जर" करने का जो विधान बताया है, वह निश्चित रूप से आधुनिक श्वेताम्बरीय विधान है। "वज्रपञ्जर" के बाद दिग्-बन्धन का "किरिटी किरिटी" इत्यादि जो मन्त्र दिया है, वह पादलिप्त "प्रतिष्ठा-पद्धति" का है, जो प्रतिष्ठा पद्धति श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठा पद्धतियों में सब से प्राचीन पद्धति है।

१०. यन्त्रोद्धार के छठवें सातवें वलय की जया, जम्भादि आठ और रोहिणी-प्रज्ञप्ति आदि सोलह देवियां भी "पादलिप्त-प्रतिष्ठा-पद्धति" के नन्द्यावर्त के दो वलयों की देवियाँ हैं, जो श्वेताम्बरीय पद्धति का प्रतिपादन करती हैं।

(२)—अब "पूजा-विधि" की दिगम्बरीयता सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण दिए जाते हैं—

१. प्रथम चतुर्विंशतिका के प्रारम्भ में ही दूसरे वलय में वर्गों को "अनाहत" के साथ स्थापन करने की बात लिखी है, तृतीय वलय में आठ "अनाहत" स्थापन की बात है।

"सिद्धचक्र-स्तोत्र" में भी कोई तीन बार "अनाहत" शब्द आता है। चतुर्थ वलय के पादुका-पूजन के चतुर्थ वलय में "अनाहत" शब्द का प्रयोग हुआ है। देव वन्दन के अन्त में बोले जाने वाले स्तवन में भी अनाहत शब्द का प्रयोग हुआ है। अष्ट प्रकार की पूजा के आठों पद्यों में "श्रीसिद्धचक्र" को अनाहत कहकर-उसका यजन करने का कहा है। चैत्यवन्दन का स्तवन पूरा होने के बाद प्रार्थनात्मक एक स्तोत्र दिया है, जिसमें चार जगह 'अनाहत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रार्थना स्तोत्र के बाद आनेवाले "शान्तिदण्डक" में भी 'अनाहत' शब्द का दो बार उल्लेख आया है।

इस प्रकार बार-बार अनाहत शब्द के प्रयोगों से प्रस्तुत अनुष्ठान थोडी बार के लिए "शैव सम्प्रदाय के योगियों का अनुष्ठान" सा भासता है, क्यों कि "अनाहत" शब्द शैव योगियों का परिभाषिक शब्द है, जैन परिभाषा का नहीं, प्रचीन जैन सूत्रों तथा मध्यकालीन जैन प्रकरण-ग्रन्थों तथा चरित्रों में इस शब्द की कहीं चर्चा नहीं। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी ने अपने योग-शास्त्र के अन्तिम प्रकाश में सिर्फ एक स्थान पर 'अनाहत' शब्द का प्रयोग देव के रूप में किया है, जो योगियों की परिभाषा है, लगभग १४वीं सदी में योगियों के अनाहत-शब्द को "तान्त्रिकों" ने अपने मन्त्रों तथा स्तोत्रों में प्रयुक्त करना शुरू किया, रहते-रहते जैन साधुओं ने भी इसे अपना लिया। "सिरि सिरि बाल कहा" में भी ,अनाहत' शब्द अनेक स्थान पर आया है, जैनों में भी श्वेताम्बरों से दिगम्बर भट्टारक इस विषय में अग्रेसर थे, अनाहत शब्द को ही नहीं; अन्य भी अनेक श्रौत-स्मार्त तथा पौराणिक पद्धतियों को लेकर अपने ग्रन्थ के ग्रन्थ भर दिये थे, कुछ बातें श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने भी अपनायी अवश्य हैं, इस परिस्थिति पर विचार करने से हमें यही प्रतीत होता है कि अनाहत शब्दों की भर मार वाला यह "सिद्धचक्र-पूजन-विधान" मूल में दिगम्बर कृति होनी चाहिए जिसके आधार पर "सिरि सिरिवाल कहा" तथा प्रस्तुत पूजा-विधान तय्यार किया गया है।

२. यन्त्र-निर्माण की विधि में लब्धियों की चर्चा करने वाला निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

"अष्टावनाहता स्थाप्यास्तृतीये वलये क्रमात् ।
मध्येऽनाहतमष्टाढ्याश्चत्वारिंशच्च लब्धयः ।।७।।

उपर्युक्त श्लोक में ४८ लब्धियों का सूचन है, ये ४८ लब्धियाँ भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों की चीज है, श्वेताम्बर आगमों तथा प्रामाणिक ग्रन्थों में २८ लब्धियों का निरूपण हैं, अड़तालीस का नहीं ।

इसमें दिया हुआ लब्धि-प्राप्त महर्षियों का स्तोत्र भी किसी दिगम्बर विद्वान् की कृति है, क्योंकि इसका निरूपण शब्दशः श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता से नहीं मिलता ।

३. श्वेताम्बर सम्प्रदाय की १५वी शताब्दी के प्रथम चरण में निर्मित "सिरि सिरिवाल कहा" में "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार" निर्माण की बात तथा पांच धान्यों से "सिद्धचक्र" के मण्डल की स्थापना करने की बात अवश्य है, परन्तु ये दोनों बातें दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ से ली हुई मालूम पड़ती हैं, क्योंकि श्वेताम्बर जैन परम्परा के प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थ भाण्डागारों की सूचियों में इस विधि का नामोल्लेख नहीं मिलता। श्वेताम्बर परंपरा में १७ वीं १८वीं सदी के मध्यभाग में होने वाले प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशो-विजयजी द्वारा निर्मित "सिद्धचक्र-पूजा" नामक एक छोटी लोक भाषा में बनाई हुई पूजा मिलती है जो "नवपद-पूजा" इस नाम से विशेष प्रसिद्ध है। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा में सोलहवीं तथा सत्तरहवीं शताब्दी के अनेक विद्वान् भट्टारकों, ब्रह्मचारियों ने लगभग "लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा" "सिद्धचक्र बृहत्पूजा" और "सिद्धचक्र-महापूजा" आदि सिद्धचक्र के पूजा विधान बनाये थे, ऐसा दिगम्बरीय साहित्य पढने से ज्ञात होता है ।

४. "लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा" के कर्ता भट्टारकजी का नाम याद नहीं है, परन्तु वे सत्रहवीं सदी के विद्वान् निश्चित थे "सिद्धचक्रयन्त्र" और "बृहत्सिद्धचक्रपूजा पाठ" के कर्ता बुध वीरु (वीर) हुए है, इन्होंने विक्रम संवत् १५८६ में इस पूजा-पाठ की रचना की थी । ये गृहस्थ विद्वान् थे । "सिद्धचक्र-महापूजा" इसके कर्त्ता ब्रह्मचारी "श्रुतसागर सूरि" थे। श्रुतसागर

भट्टारक विद्यानन्दी के देशविरति शिष्य थे। श्रुतसागर उस समय के अच्छे विद्वान् थे इन्होंने कोई आठ ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी थीं। इसके अतिरिक्त अनेक प्राकृत, संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का निर्माण किया था। उन्हीं में से "सिद्धचक्र महापूजा" एक अनुष्ठान ग्रन्थ था; इसका दूसरा नाम सिद्धचक्राष्टक वृत्ति" भी लिखा है। इससे मालूम होता है, इन्होंने "सिद्धचक्र" की पूजा पर आठ पद्य लिखकर उनके विवरण रूप में यह "पूजा-विधान" तय्यार किया होगा। श्रुतसागर का सत्ता-समय विक्रमीय १६ वीं सदी का उत्तरार्ध और १७ वीं का प्रारम्भ था। इनके अनेक-ग्रन्थ-आज भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु "सिद्धचक्र महापूजा" कहीं मिलती है या नहीं, यह कहना कठिन है। भट्टारक विद्यानन्दी श्रुतसागर आदि का विहार दक्षिण गुजरात में होता था भट्टारक विद्यानन्दी सूरत की गद्दी के आचार्य थे। खम्भात के निकटवर्ती गन्धार बन्दर में रहकर श्रुतसागर ने एक ग्रन्थ का निर्माण किया था, इससे यह भी पाया जाता है कि विद्यानन्दी भट्टारक तथा उनके शिष्य श्रुतसागर सूरि खासकर दक्षिण गुजरात में विचरते थे। अहमदाबाद में आचार्य श्री नीति-सूरिजी के भण्डार में से प्रस्तुत "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार-पूजन विधि" की प्रति मिलने की बात प्रस्तावना में कही गई है, इससे सम्भव है, विधि की यह पुस्तक आचार्य श्रुतसागर की उक्त "सिद्धचक्र-महापूजा" को ही किसी श्वेताम्बरीय विद्वान् द्वारा विकृत करके श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मानी हुई प्रति होगी। कुछ भी हो, "पूजन विधि" का मूलकर्त्ता कोई दिगम्बर विद्वान् था, इसमें विशेष शंका नहीं है।

५. यन्त्र के पंचम वलय में दिये हुए "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायकों के नामों में अनेक नामोंवाले-देवों को श्वेताम्बर परम्परा "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायक नहीं मानती; जैसे—"विमलवाहन" श्वेताम्बर परम्परा में "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायक होने की मान्यता नहीं है; "धरणेन्द्र"; भी भगवान् पार्श्वनाथ का भक्त माना गया है। "सिद्धचक्र" का नहीं; "कपर्दियक्ष" शत्रुञ्जय तीर्थ का रक्षक होने की श्वेताम्बरीय मान्यता है; सिद्धचक्राधिष्ठायक होने की नहीं। "शारदा", यह नाम सरस्वती के पर्यायों में प्रयुक्त अवश्य हुआ है; परन्तु "सिद्धचक्र"; के साथ इसका क्या सम्बन्ध है; इसका कोई पता नहीं।

"शान्ति देवता" का भी सिद्धचक्र से सम्बन्ध है ऐसा श्वेताम्बर परम्परा को विदित नहीं है ।

"त्रिभुवनस्वामिनी, ज्वालामालिनी, श्रीदेवता, वैरोट्या, कुरूकुल्ल, कुबेरदेवता, कुलदेवता" इन नामों में से त्रिभुवनस्वामिनी और श्रीदेवता ये दो देवियां सूरि मन्त्र की अधिष्ठायिकायें हैं; न कि "सिद्धचक्र" की, ऐसा श्वेताम्बर परम्परा मानती है ।

"ज्वालामालिनी" चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की यक्षिणी है, और "वैरोट्या" तीर्थङ्कर-मल्लिनाथ-की यक्षिणी है । "कुरूकुल्ला" देवी-जैन-देवता के रूप में नहीं मानी-गई, तान्त्रिक- बौद्धों की देवी है । यदि किसी श्वेताम्बर विद्वान ने इसके स्तोत्र बनाये हैं तो इसका कारण मात्र यही है कि यह देवी सर्पों से रक्षा करने वाली है, "कुबेर-देवता" "कुल देवता" कुबेरा देवी मथुरा के देव निर्मित-स्तूप की रक्षिका थी, इस कारण से जैन शान्तिक विधानों में इसका स्मरण किया गया है, न कि सिद्धचक्राधिष्टायिका के नाते । इसमें दिया हुआ "कुलदेवता" किसी देव-देवी का विशेष नाम नहीं है, 'कुल' शब्द से किस व्यक्ति-विशेष का 'कुल' इसका भी स्पष्टीकरण नहीं है । इस प्रकार इस अधिष्ठायक वलय के देव-देवियों के नामों से पता चलता है कि विधान-लेखक ने "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोडा'; इस कहावत के अनुसार इधर उधर से देव-देवियों के नाम उठाकर सिद्धचक्राधिष्ठायकों का वलय भर दिया है, वस्तुतः "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायकों के रूप में "विमलेश्वर" देव और "चक्रेश्वरी" देवी जिसका नामान्तर "अप्रतिचक्रा" भी है; श्वेताम्बर संप्रदाय में प्रख्यात है, दूसरा कोई देव देवी नहीं ।

६. स्नानीय जल भरने के नव कलशों को अधिवासित करने का मन्त्र निम्न प्रकार से दिया है,—

"ॐ ह्रीं श्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी शान्ति तुष्टि पुष्टयः एतेषु नव कलशेषु कृताधिवासा भवन्तु-भवन्तु स्वाहा ।"

उपर्युक्त मन्त्र में भी कृति को श्वेताम्बरीय बनाने वाले लेखक ने भद्दी भूल की है, ॐकार के बाद "ह्रीं" श्रीं इन अक्षरों को बीजाक्षर बनाकर कलशों का अधिवासन करने वाली नव देवियों में से दो को कमकर दिया है,

इसका पता तक नहीं लगा कि नव कलशों का सात देवियों से अधिवासन कैसे हो सकेगा, इस करतूत से तो यही मालूम होता है कि इस कृति में उलट-फेर करने वाला कोई अच्छा विद्वान् नहीं था। वास्तव में ॐ कार के बाद के दो अक्षर बीजाक्षर नहीं, किन्तु "द्रहनिवासिनी दो देवियों के नाम हैं" और इनके आगे के चार नाम भी द्रह-देवियों के हैं। इनका सच्चा क्रम "ॐ, श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी" इस प्रकार से है। ये छः द्रहनिवासिनी देवियाँ हैं ये छः देवियाँ दिगंबर तथा श्वेताम्बर दोनों परंपरा वालों को मान्य हैं, शान्ति देवी का नाम श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठा-कल्पों में आता है, परन्तु "तुष्टि" "पुष्टि" को श्वेताम्बर संप्रदाय के किसी भी ग्रन्थ में देवियों के स्वरूप में नही माना। वास्तव में "शान्ति, तुष्टि, पुष्टि" ये तीनों पौराणिक-मातृका-देवियाँ हैं, जिन्हें "सिद्धचक्र महापूजा" के मूल लेखक ने द्रह-देवियों के साथ इनको जोड़कर नव-देवियाँ बना ली हैं। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि इस पूजा-विधान का मूल लेखक कोई दिगम्बर विद्वान् था।

७. चतुर्विंशति जिन यक्षों में बारहवें यक्ष का नाम "असुर-कुमार" लिखा है, जो वास्तव में अश्वेताम्बरीय है, श्वेताम्बर परम्परा बारहवें तीर्थंकर के यक्ष का नाम "कुमार" मानती है, न कि 'असुरकुमार,।

८. श्वेताम्बर परम्परा चौबीसवें यक्ष का नाम 'मातङ्ग, मानती है, न कि 'ब्रह्मशान्ति। 'ब्रह्मशान्ति. देव महावीर का भक्त अवश्य था, परन्तु उसे उनका शासन-यक्ष मान लेना श्वेताम्बर संप्रदाय की मान्यता के विरुद्ध है।

६. कुमुद अंजन वामन पुष्पदन्त इन चार दिग्गजों को 'सिद्धचक्र, के द्वारपाल बनाने में केवल कल्पना विहार किया है, क्यों कि जैन प्रामणिक ग्रन्थों में "सिद्धचक्र" के तो क्या तीर्थङ्करों के समवसरण के द्वारपालों में भी इनके नाम परिगणित नहीं है. "सिरि सिरिवाल कहा" में ये चार नाम दृष्टि गोचर होते हैं. परन्तु यह अश्वेताम्बरीय प्रक्षेप हैं।

१०. नवम वलय में चार वीरों की पूजा करना बताया है वीरों के नाम मणिभद्र पूर्णभद्र कपिल पिंगल लिखे हैं इनमें से प्रथम के दो नाम श्वेताम्बर

परम्परा में प्रसिद्ध हैं श्वेताम्बरों के प्रामाणिक सूत्र "व्याख्या प्रज्ञप्ति-" (भगवती सूत्र) के पन्द्रहवें शतक में ये नाम आते हैं, वहाँ पर ये वीर किस के भक्त हैं, यह तो नहीं लिखा। केवल इन्हें यक्ष के नाम से निर्दिष्ट किया है, परन्तु कपिल तथा पिंगल नाम श्वेताम्बरीय साहित्य में "सिरि सिरिवाल कहा" के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए, दिगम्बर जैन साहित्य में ये नाम आये हों तो असम्भव नहीं है।

११. "ॐ ह्रीं श्रीं अप्रसिद्ध सिद्ध चक्राधिष्ठायकाय स्वाहा" इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि विमलेश्वर देव के अतिरिक्त और भी कोई सिद्धचक्र का अधिष्ठायक है, पर उसका नाम यन्त्र लेखक को ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु लेखक की यह भ्रान्ति मात्र है। "सिद्धचक्र" के साथ विमलेश्वर देव और चक्रेश्वरी देवी के सिवाय और किसी देव-देवी का अधिष्ठायक के रूप में सान्निध्य नहीं, यों भले ही अच्छी चीज होने से कोई भी देव उस तरफ आकृष्ट हो सकता है, तीर्थङ्कर महाराज के समवसरण में करोड़ों देव आते हैं और उनमें से अधिकांश तीर्थङ्कर के अतिशय से तथा उनकी पुण्य प्रकृति से आकृष्ट होकर भक्त से बन जाते हैं। फिर भी वे सभी उन तीर्थङ्करों के परम भक्त हैं, यह नहीं कह सकते। यही कारण है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन-भक्त यक्ष यक्षिणी का एक एक ही युगल माना गया है, पार्श्वनाथ का धरेणन्द्र नागराज परम भक्त होने पर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उसे पार्श्वनाथ का यक्ष अथवा अधिष्ठायक नहीं माना गया, इसी प्रकार आबू पर्वत से लेकर सांचोर तक के महावीर के चैत्यों की परम सतर्कता से "ब्रह्मशान्ति" यक्ष रक्षा करता था, फिर भी उसे पूर्वाचार्यों ने महावीर के शासन देव की उपाधि नहीं दी, इसी तरह विमलेश्वर के अतिरिक्त 'सिद्धचक्र" के अप्रसिद्ध अधिष्ठायक मानने की "सिद्धचक्र मण्डल" निर्माता की कल्पना मात्र है, जिसका प्रयोजन मण्डल के वलय का एक कोठा पूरा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

प्रस्तुत पूजन विधि के अन्त में प्राकृत भाषामय ३५ गाथाओं का "सिद्धचक्र महिमा" गर्भित एक स्तव दिया है, जिसके प्रारम्भिक भाग में

माहेन्द्र, वारुण, वायव्य और आग्नेय मण्डलों का सविस्तार वर्णन किया है। यह मण्डल पद्धति भी दिगम्बर परम्परा में विशेष प्रचलित है। श्वेताम्बर परम्परा की प्रतिष्ठा-पद्धतियों में से केवल पादलिप्त सूरि कृत "प्रतिष्ठा पद्धति" में ही उक्त चार मण्डलों का वर्णन दृष्टिगोचर हुआ है, तब दिगम्बरीय प्रतिष्ठा पाठों में शायद ही ऐसा कोई प्रतिष्ठा पाठ मिलेगा, जिसमें कि उक्त चार मण्डलों का वर्णन न किया हो।

ऊपर हमने "सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार पूजन" को जैन श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय प्रमाणित करने वाले दो प्रकार के जो प्रमाण उपस्थित किये हैं वे उदाहरण मात्र हैं। इनके उपरान्त भी अनेक ऐसे आन्तर प्रमाण हैं, जो उपस्थित किये जा सकते हैं, परन्तु लेख विस्तार के भय से छोटी-छोटी बातों की तरफ ध्यान देना ठीक नहीं समझा।

(३) सिद्ध-चक्र-यन्त्र और नवपद मण्डल एक नहीं :

आजकल श्वेताम्बर जैन समाज में "सिद्ध-चक्र" के पूजन काल में नवपद के पूजन का प्रचार सर्वाधिक रूप से हो गया है। इसके आराधन के उद्देश्य से गुजरात आदि देशों में नवपद मण्डलों की नियुक्तियाँ तक हुई हैं, और चैत्र तथा आश्विन महीनों की शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक आयम्बिल की तपस्या तथा नवपद की पूजा की जाती है। हमारे समाज में "सिद्ध-चक्र" का नाम विक्रम की बारहवीं सदी से प्रचलित है। प्रसिद्ध आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी ने अपने शब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति में उल्लेख किया है और "अर्हं" शब्द को "सिद्धचक्र" का बीज बताया है, परन्तु वहाँ पर "सिद्धचक्र" को पंच परमेष्ठी का चक्र कहा है, कि नवपद का। 'नवपद-शब्द' सिद्धचक्र का पर्याय कब बना, यह कहना कठिन है। आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती किसी जैनाचार्य ने "सिद्धचक्र" का नामोल्लेख किया हो ऐसा हमारे जानने में नहीं आया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सब से प्राचीन प्रतिष्ठा कल्प **"पादलिप्त प्रतिष्ठा पद्धति"** के नन्द्यावर्त में आज-कल के 'नवपद' आते अवश्य हैं, परन्तु इनको वहां पर "सिद्धचक्र" अथवा तो 'नवपद' का नाम न देकर 'नन्द्यावर्त' का मध्य भाग माना है। सर्व

के मध्य में "अरिहन्त" इसके पूर्व में "सिद्ध", दक्षिण में "आचार्य", पश्चिम में "उपाध्याय" और उत्तर दिशा विभाग में सर्व साधुओं को स्थान दिया है, इसके बाद ईशान, अग्नि, नैऋत और वायव्य कोणों में क्रमशः दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप पदों का विन्यास किया गया है। तब आजकल के हमारे "सिद्धचक्र यन्त्रों" में पांच पदों के अतिरिक्त विदिशाओं के दर्शन आदि चार पदों का आग्नेय कोण से प्रारम्भ कर के ईशान तक स्थापन किया जाता है। यह परिवर्तन कब और किसने किया, यह कहना कठिन है। फिर भी इतना तो निश्चित सा है कि यह परिवर्तन किसी श्वेताम्बर आचार्य के द्वारा हुआ है।

"सिद्धचक्र" की चर्चा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही नहीं, अपितु दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में भी प्राचीन काल से प्रचलित है, दिगम्बर भट्टारक श्री देवसेन सूरि ने अपने "भाव संग्रह" नामक ग्रन्थ में लगभग ४० गाथाओं में "सिद्धचक्र" के यन्त्र की और उसके पूजन की चर्चा की है। श्री देवसेन प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार से आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि के पूर्ववर्ती हैं वह तो निश्चित है ही, पर "सिद्धचक्र की पूजा" बनाने वाले अन्य दिगम्बर विद्वानों से भी देवसेन प्राचीन हैं। इन्होंने भी अपने "सिद्धचक्रयन्त्र" में पंचपरमेष्ठी के पूजन का ही निरूपण किया है, 'नवपदी की पूजा का नहीं"। इन सब बातों का विचार करने से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में "सिद्धचक्र" का पर्याय पंचपरमेष्ठी होता था, 'नवपद' नहीं, लगभग विक्रम की पन्द्रहवीं शती के पूर्व में और बारहवीं सदी के बाद में "सिद्धचक्र" का स्थान "नवपद मण्डल" ने लिया होगा, इसका प्रारम्भ किसने किया, यह कहना तो कठिन ही है।

(४) ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्धचक्र पूजन विधि :

वर्तमान काल में प्रायः सभी जैन मन्दिरों में छोटे छोटे "सिद्धचक्र" के मण्डल धातु के गोल पतरे पर मिलते हैं और पूजे जाते हैं, लेकिन ये सभी "सिद्धचक्र" के मण्डल अधिकांश में २० वीं सदी के ही दृष्टिगोचर होते हैं। सच बात तो यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी की प्राकृत 'श्री

श्रीपाल कथा" के निर्माण होने के बाद संस्कृत में तथा लोक भाषा में अनेक 'श्रीपाल कथाओं" का निर्माण श्वेताम्बर तथा दिगंबर परंपरा के विद्वानों ने किया और उनके श्रवण से जैन समाज में नवपद-तप का प्रचार बढ़ा। इस समय के पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में न "सिद्धचक्र" के पूजन की चर्चा हैं, न नवपद की ओली का तपोविधान। पूर्व में आश्विन तथा चैत्री अष्टमी से लगाकर पूर्णिमा तक लौकिक उत्सव होते थे, हिंसा भी होती थी, आठ दिन तक खाने-पीने तथा नाचरंग में जन समाज लवलीन रहता था, इस परिस्थिति को देखकर जैनाचार्यों ने जैन-गृहस्थों को "इन लौकिक प्रवृत्ति प्रधान दिवसों में जैनों को तप का आदर करना चाहिए' ऐसा उपदेश किया। परिणामस्वरूप जैन समाज में अष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त अष्टाह्निका में आयंबिल तप करने की प्रवृत्ति बढ़ी, पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदाएँ यद्यपि उत्सव के अन्तर्गत नहीं थी, फिर भी उन दिनों में खान-पान के आरंभ विशेष रूप से होते थे। अतः जैनाचार्यों ने इन दिनों में अनध्याय तथा जैन-गृहस्थों ने आयंबिल-तप रखने का उचित समझा। बारहवीं शती के आचार्य श्री जिनदत्त सूरि ने अपने अनुयायियों से कहा कि अष्टमी की तरह शुक्ल सप्तमी भी देवी-देवताओं के प्रचार की तिथि है। अतः इसे भी उत्सव के अन्तर्गत ले लेना चाहिए, जिससे अन्तिम आयंबिल अपर्व तिथि प्रतिपदा में न आकर पूर्णिमा में आ जाय और उस दिन विशेष जिनभक्ति की जा सके। जिनदत्त सूरि के अनुयायियों ने अपने आचार्य की आज्ञा का पालन किया होगा या नहीं यह कहना कठिन है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि प्राकृत "श्रीपाल कथा" के निर्माण समय तक अन्य गच्छ वालों ने सप्तमी को अष्टाह्निका के अन्तर्गत नहीं किया था। बाद में धीरे धीरे आयंबिल तप के भीतर सप्तमी का समावेश हो गया, फलतः अठारहवीं शती की सभी "श्रीपाल कथाओं" में शुक्ल सप्तमी से आयंबिल आरंभ करने का विधान मिलता है।

श्वेताम्बर जैन परंपरा में लाखों वर्षों से "सिद्धचक्र" का पूजन और तन्निमित्तक आयंबिल-तप चला आ रहा है, ऐसी मान्यता प्रचलित है और इसके प्रथम आराधक राजा "श्री पाल" और उनकी रानी

"मदन सुन्दरी" को बतलाया जाता है, ठीक है, यह इस तप के महिमा पर एक माहात्म्य-दर्शक आख्यान है, ऐतिहासिक वस्तु नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण करने पर "सिद्धचक्र" यह नाम आचार्य श्री हेमचन्द्र के व्याकरण की बृहद् वृत्ति में मिलता है। चतुर्दश शताब्दी के पूर्वतन किसी भी "आगम-शास्त्र" में, प्रकरण-विशेष में अथवा चरित्र में "सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार" की बात अथवा "श्रीपाल" तथा मदना के तपो-विधान की बात हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई।

इस परिस्थिति में "सिद्धचक्र-यन्त्र" का पूर्वश्रुत से श्री मुनिचन्द्र सूरिजी ने उद्धार किया, यह कथन मात्र श्रद्धा-गम्य रह जाता है, इतिहास के रूप में नहीं।

प्रारम्भ में "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि" श्वेताम्बरीय है, या दिगम्बरीय, इस प्रश्न को लक्ष्य में रखकर अंतरंग बहिरंग निरूपणों को जांचा, तो हमें प्रतीत हुआ कि यह पूजन विधि न पूरी श्वेताम्बरीय है न दिगम्बरीय, किन्तु दोनों परम्पराओं की मान्यताओं के मिश्रण से बनी हुई एक खीचडा-पद्धति है।

उपसंहार :

"सिद्धचक्र-महापूजा" के विषय में बहुत समय से कतिपय प्रतिष्ठा-विधि कारकों का कुछ प्रकाश डालने का अनुरोध था, फलस्वरूप इस पूजा के सम्बन्ध में ऊहापोह किया है।

मेरी राय में प्रस्तुत "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि" जैन सिद्धान्त से मेल न खाने वाली एक अगीतार्थ प्रणीत अनुष्ठान पद्धति है। इसकी कई बातें जैन सिद्धान्त-प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त के मूल में कुठाराघात करने वाली है। नमूने के रूप में निम्नोद्धृत श्लोक पढ़िए—

"एवं श्री सिद्धचक्रस्याराधको विधि-साधकः।
सिद्धाख्योऽसौ महामन्त्र-यन्त्रः प्राप्नोति वाञ्छितम् ॥१॥

धनार्थी धनमाप्नोति, पदार्थी लभते पदम् ।
भार्यार्थी लभते भार्यां, पुत्रार्थी लभते सुतान् ॥२॥

सौभाग्यार्थी च सौभाग्यं, गौरवार्थी च गौरवम् ।
राज्यार्थी च महाराज्यं, लभतेऽस्यैव तुष्टितः ॥३॥

× × × × ×

एतत्तपो विधायिन्यो, योषितोऽपि विशेषतः ।
वन्ध्या-निन्द्यादि-दोषाणां, प्रयच्छन्ति जलाञ्जलिम् ॥८॥"

अर्थात्—

इस प्रकार श्री "सिद्धचक्र" का आराधक, विधि पूर्वक साधना करता हुआ, सिद्ध नाम धारण करके महामन्त्र-यन्त्रमय बन कर मनोवांछित फल को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

धन का इच्छुक धन को, स्त्री का अभिलाषी स्त्री को, पदाधिकार का इच्छुक पदाधिकार को, पुत्र-कामी पुत्रों को प्राप्त करता है ॥ २ ॥

सिद्धचक्र की कृपा से सौभाग्यार्थी सौभाग्य को, महत्त्वाकांक्षी महत्त्व को और राज्य का अभिलाषी महाराज्य को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

× × × × ×

इस सिद्धचक्र के तप का आराधन करने वाली स्त्रियाँ भी खास कर वन्ध्यात्व (बाँझपन), मृतवत्सात्व आदि दोषों को जलाञ्जलि देती हैं ॥ ८ ॥

ऊपर के श्लोकों में वर्णित जिनादि पदों के आराधक पुरुषों को तथा तन्निमित्तक तप करने वाली स्त्रियों को पौद्गलिक तुच्छ फलों का प्रलोभन देकर परमेष्ठी पदों की तथा तप पद की आराधना का उपहास किया है। क्या "सिद्धचक्र" का आराधन तथा तपश्चर्या इन्हीं क्षुद्र फलों के निमित्त करने का शास्त्र ने लिखा है, कभी नहीं।

यह उपर्युक्त कथन शास्त्र-विरुद्ध ही नहीं, मिथ्यात्व का वर्द्धक भी है। जैन शास्त्रों में तो जिनदेव आदि का पूजन विनय आदि सम्यक् शुद्धि के लिये करना बतलाया है। तब तपोविधान पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों की निर्जरा के लिए, उक्त प्रकार के अल्पज्ञ और अगीतार्थ साधुओं द्वारा प्रचारित अयोग्य अनुष्ठानों तथा आचारों के प्रताप से आज का जैन धर्म अपना लोकोत्तरत्व छोड़कर लौकिक धर्म बनता जा रहा है। आशा करना तो व्यर्थ है, फिर भी सब्र न होने से कहना पड़ता है कि हमारे श्रमण-गण उक्त पंक्तियों को पढ़कर उक्त प्रकार के निस्सार अनुष्ठानों तथा आचारों को समाज में फैलने से रोके, ताकि जैन धर्म अपना स्वत्व बचा सके।

卐 卐

: १० :

श्री नमस्कार माहात्म्य

❖

श्री सिद्धसेनाचार्य-विरचित

नमस्कार माहात्म्य नाम के आज दिन तक २ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। एक के कर्त्ता है आचार्य "देवेन्द्र सूरि" तब दूसरे के कर्त्ता हैं "सिद्ध. सेन सूरि"। यहाँ हम सिद्धसेन कृत 'नमस्कार माहात्म्य' का अवलोकन लिख रहे हैं।

इस माहात्म्य की वर्णन-शैली साधारण और अर्वाचीन है, इसमें आने वाले देव-देवियों के नाम बताते है कि यह कृति १५वीं शती के पूर्व की नहीं, इसका कर्त्ता "सिद्धसेन" सम्भवतः १४३३ में होने वाले "नागक गच्छीय सिद्धसेन" हैं जो चैत्यवासी थे। यह ग्रन्थ "सिरि सिरिवालकहा" जो १५वीं शताब्दी के प्रथम चरण में बनी है, उसके बाद का है। इसके अन्तर्गत अनेक विधानों पर दिगम्बरीय भट्टारकों का असर है। कहीं कहीं तो श्वेताम्बर असम्मत बातों का प्रतिपादन भी इसमें दृष्टिगोचर होता है, जैसे—११ रुद्रविषयक मन्तव्य, लक्ष नवकार जाप से तीर्थङ्कर नाम कर्म का निर्माण होने की बात विक्रम की सोलहवीं शती से पूर्व-कालीन किसी भी ग्रन्थ में हमारे देखने में नहीं आई। इसमें दिए हुए अधिकांश देवियों के नाम १५वीं शताब्दी की तथा उसके बाद की प्रतिष्ठा विधियों में मिलते हैं "अष्टौ कोट्यः" इत्यादि श्लोक में जाप सम्बन्धी जो बात कही है वह शान्ति घोषणा की एक गाथा का अनुवाद मात्र है, जो शान्ति घोषणा पन्द्रहवीं शती के अनन्तर की है। पांच नमस्कार उच्चारण के समय जो विधि और मुद्रा बताई है, वह अनागमिक है। जाप किसी भी मुद्रा से होता है, इस बात का लेखक को ज्ञान नहीं था, इसी से यह ऊटपटाङ्ग विधि लिख बैठे हैं। इन सब बातों पर विचार

करने से यही ज्ञात होता है कि ८–९ सिद्धसेनों में से १४३३ में होने वाले अथवा १५९३ वर्ष वाले सिद्धसेन इन दो में से कोई एक हो सकते हैं, ये दोनों आचार्य चैत्यवासी थे और इनका गच्छ "नाणकीय" अथवा "नाणावाल" कहलाता था। अन्तिम श्लोक में "नमस्कार-माहात्म्य" की रचना सिद्धपुर नगर में होने का उल्लेख किया है, इसके अतिरिक्त अपने समय का अथवा गच्छ का कोई परिचय नहीं दिया।

卐 卐

: ११ :

विजयदेव माहात्म्य

पाठक श्री श्रीवल्लभ विरचित

विजयदेव से मतलव तपागच्छ की मुख्य शाखा के आचार्य श्री हीरसूरिजी के पट्टधर आचार्य श्री विजयसेन सूरि के पट्ट प्रतिष्ठित आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी से है। आचार्य विजयदेव सूरिजी के समय में उपाध्याय श्री धर्मसागरजी की परम्परा के कतिपय साधु धर्मसागर-रचित "सर्वज्ञ-शतक" आदि ग्रन्थ जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से विरोधी बातों के लिखने के कारण आचार्य श्री विजयदान सूरिजी तथा विजय-हीर सूरिजी ने लेखक को "गच्छ बाहर" कर दिया था, परन्तु कुछ समय के बाद धर्मसागरजी ने उन शास्त्र-विरुद्ध बातों का संशोधन किये विना इन ग्रन्थों का प्रचार नहीं करने की प्रतिज्ञा करने और जो प्ररूपणा की उसके बदले में "मिथ्यादुष्कृत" कर देने पर फिर उन्हें गच्छ में ले लिया गया था। परन्तु सागरजी अपने वचनों पर दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं रहे और उन ग्रन्थों का गुप्त रीति से प्रचार करते रहे, परिणामस्वरूप उन्हें फिर भी गच्छ बाहर की शिक्षा हुई। हीरसूरिजी महाराज स्वर्गवासी हो चुके थे और तत्कालीन गच्छपति श्री विजयसेन सूरिजी भी वृद्धावस्था को पहुंचे हुए थे। उन्होंने अपने पट्टधर के रूप में विक्रम सं० १६५६ में उपाध्याय विद्याविजयजी को आचार्य पद देकर अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया और "विजयदेव सूरिजी" के नाम से उद्घोषित किया। इसके दो वर्ष के बाद ही उन्हें "गच्छानुज्ञा" भी कर दी।

कहा जाता है कि उपाध्यायजी धर्मसागरजी विजयदेव सूरिजी के सांसारिक मामा लगते थे। इस सम्बन्ध से उपाध्याय धर्मसागरजी की

तरफ से विजयदेव सूरिजी को एक पत्र लिखा गया था जिसमें "अपन को गच्छ में लिवाने की सिफारिश की थी। उस पत्र के उत्तर में विजयदेव सूरिजी ने लिखा था कि "जब तक गुरू-महाराज विद्यमान हैं तब तक मैं इस विषय में कुछ नहीं कर सकता" देवसूरिजी का यह पत्र किसी सागर-विरोधी के हाथ लगा और आगे से आगे यह पत्र आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के पास पहुंचा। आचार्य ने अपने गच्छ के खास खास गीतार्थ उपाध्यायों, पन्यासों को इकट्ठा करके देवसूरि के इस पत्र की उनके सामने चर्चा की और इसका वास्तविक भाव पूछा। इस पर सागरों के विरोधी उपाध्यायों, पन्यासों आदि ने बाल की खाल निकालते हुए कहा—"विजयदेव सूरि सागरों के पक्ष में हैं, भले ही आपके जीवन काल में ये कुछ न करें, परन्तु उनको सार्वभौम सत्ता मिलते ही सागरों का खुल्लमखुला पक्ष लेंगे और गच्छ में दो दल पड़कर सागर-विशेष निरंकुश बन जायेंगे"। इन बातों को सुनकर श्री विजयसेन सूरिजी महाराज ने अपने गच्छ के सब विद्वान् साधुओं की राय माँगी कि अब इसके लिए क्या किया जाय ? गीतार्थों का एक मत तो नहीं हुआ, परन्तु उपाध्याय सोमविजयजी आदि अधिक गीतार्थ नया आचार्य पट्टधर बनाकर विजयदेव सूरिजी तथा सागरों की शान ठिकाने लाने के पक्ष में रहे, तब कतिपय गीतार्थ साधुओं ने श्री विजयदेव सूरि पर विश्वास रखने का अभिप्राय भी व्यक्त किया। आखिर बहुमत की चली और एक साधु को आचार्य पद देकर उनको "विजयतिलक सूरि" के नाम से जाहिर किया। तत्काल भले ही सागरों के विरुद्ध बहुमत होने से नया आचार्य स्थापित हो गया और गच्छ के कुछ भाग ने उनकी आज्ञा में रहना भी स्वीकार कर दिया, पर पिछली घटाओं से मालूम होता है कि गच्छ के इस भेद ने धीरे धीरे उग्र रूप धारण किया। विजयदेव सूरिजी के सम्बन्ध में जो अविश्वास की बात सोची गई थी, वह वास्तविक नहीं थी। परन्तु सागरों के विरोधियों ने सागरों के साथ साथ इस तपस्वी आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी को भी बदनाम करने में उठा नहीं रखा।

भविष्य में जिस गच्छ-भेद की आशंका की थी, वह तुरन्त उनके समय में ही सच्ची पड़ गई। जहाँ तक हमारा ख्याल है, यह घटना

विक्रम सं० १६५८ के बाद और १६७१ के पहले की होनी चाहिए, क्योंकि विजयदेव सूरिजी १६५८ में गच्छ के नेता बनाए गए थे और विक्रम सं० १६७१ में आचार्य श्री विजयसेन सूरि स्वर्गवासी हुए थे। इन दो घटनाओं के बीच के १३ वर्षों में किस समय यह घटना घटी होगी यह कहना तो कठिन है, परन्तु प्रस्तुत "माहात्म्य" के एक सर्ग में विजयदेव सूरिजी की तपस्याओं का वर्णन किया है। वहाँ लिखा है कि आचार्य देवसूरिजी ने यह तप करना विक्रम सं० १६६१ के वर्ष से शुरू किया था। इससे अनुमान होता है कि गच्छ-भेद इसके पहले हो गया होगा और इस समय वे अपने गुरू से जुदे विचरते होंगे।

देवसूरिजी के तप और त्याग ने उनके मित्र का काम किया :

आचार्य विजयदेव सूरिजी ने जो तपस्या शुरू की थी, उसने गृहस्थ-वर्ग के मनों पर ही नहीं, गच्छ के श्रमण-वर्ग पर भी अपूर्व प्रभाव डाला, जो श्रमण गच्छ भेद के समय में उनकी आज्ञा के विरुद्ध नये आचार्य की आज्ञा में चलने लगे थे। उनमें से भी अधिकांश विद्वान् साधु धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी की आज्ञा में आते रहते थे। इस बात को एक उदाहरण ले समझाया जा सकता है, जब विजयदेव सूरि के विरुद्ध नया आचार्य बनाया गया था, तब उपाध्याय श्री विनयविजयजी नये आचार्य के पक्ष में थे, जो संवत् १६६६ तक उसी पार्टी में बने रहे। परन्तु विनयविजयजी ने बाद में बनाये हुए अपने ग्रन्थों में विजयदेव सूरिजी को गच्छ-पति के रूप में याद किया है। इसी प्रकार दूसरे भी अनेक विद्वान् श्रमण धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी को अपना आचार्य मानने लगे थे। यह सब उनके तप का फल था, ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा।

विजयदेव सूरिजी का विशेष विहार मारवाड़, मेवाड़, दक्षिण तथा सौराष्ट्र की तरफ हुआ है। अधिकांश प्रतिष्ठाएँ, दीक्षाएँ, तीर्थ-यात्राएँ इसी प्रदेश से निकली हैं। जालोर के दीवान जयमलजी मुणोयत इनके अनन्य भक्त थे, इनकी बात विजयदेव सूरिजी ने कभी अमान्य नहीं की।

नगर जालोर में इनके हाथ से अथवा इनके आज्ञाकारी जयसागर गणी के हाथ से जयमलजी द्वारा कोई ४ अंजन-शलाकाएँ हुई थीं। इनके पट्टधर आचार्य विजयसिंह सूरि को सं० १६८४ में गच्छानुज्ञा भी जयमलजी ने ही करवाई थी। इतना ही नहीं तीन वर्षा-चातुर्मास्य विजयदेव सूरिजी ने जालोर में किये थे। इसी प्रकार मेड़ता, पाली, जोधपुर, सिरोही आदि नगरों में आपके चातुर्मास्य हुए और प्रतिष्ठादि अनेक धर्म-कार्य हुए थे। यह सब होते हुए भी गच्छ-भेद होने के बाद आपने गुजरात, सौराष्ट्र, मेवाड़ वगैरह अनेक देशों में विहार कर अनेक राजाओं तथा राजकर्मचारियों को अपना अनुयायी बनाया था।

गच्छ-भेद होने के उपरान्त आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के साथ श्री विजयदेव सूरिजी के विहार की बात नहीं आती। इससे ज्ञात होता है कि आप को गच्छानुज्ञा होने के बाद अपने गुरू आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी से जुदा बिहार करने का प्रसंग आया होगा, क्योंकि "विजयदेव माहात्म्य" में आप अपने गुरू के साथ सं० १६५८ के बाद कहीं दिखाई नहीं देते। इसका कारण यही हो सकता है, कि आपको गच्छनायक बना लेने के बाद थोड़े ही समय में गच्छ में बखेड़ा खड़ा हुआ और गुरू शिष्य का विहार जुदा पड़ा। कुछ भी हो, हमारी राय में विजयदेव सूरिजी ने विपरीत प्ररूपणा करने वाले सागरों का कभी पक्ष नहीं लिया। यही नहीं, जहाँ कहीं प्रसंग आया है, वहाँ आप सागरों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए भी तय्यार हुए हैं। अहमदाबाद के नगर सेठ श्री शान्तिदास जो सागरों के पक्के भक्त थे और दोनों पार्टियों के नेताओं को मिलाकर शास्त्रार्थ द्वारा इस मतभेद का निराकरण कराना चाहते थे, उन्होंने अपनी तरफ से कतिपय सद्गृहस्थों को अपना पत्र देकर श्री विजयदेव सूरिजी के पास मेड़ता नगर भेजा और आपसी दो पक्षों का निर्णय करने के लिये जालोर तक पधारने की प्रार्थना की। उधर सागर-गच्छ के उस समय के मुख्य विद्वान् मुक्तिसागरजी को भी विजयदेव सूरिजी के साथ चर्चा कर गच्छ में शान्ति स्थापित करने की प्रार्थना की। आचार्य विजयदेव सूरिजी ने सेठ शान्तिदास की विनती को मान देकर

प्रसन्नता पूर्वक जालोर आने का निश्चय कर विहार किया और जालोर पहुंच भी गए।

उधर शान्तिदास सेठ ने सर्व प्रथम अपने गुरु से देवसूरिजी के साथ शास्त्रार्थ करने की बात कही, तब उन्होंने स्वीकार किया था, कि विजयदेव सूरिजी अपने स्थान से शास्त्रार्थ करने के भाव से थोड़े बहुत इधर आ जाएँगे तो मैं भी उनके पास जाकर शास्त्रार्थ कर लूँगा। विजयदेव सूरिजी को बुलाने जाने वाले शान्तिदास के मनुष्यों ने अहमदाबाद जाकर सेठ को कहा—श्री विजयदेव सूरिजी शास्त्रार्थ करने के लिए जालोर आ पहुंचे हैं और आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः आप श्री मुक्तिसागरजी को साथ में लेकर जालोर पधारिये। सेठ शान्तिदास ने अपने गुरू श्री मुक्तिसागरजी को शास्त्रार्थ करने के लिये आने को लिखा, पर उन्होंने उसका कोई उत्तर नहीं दिया और न अपने स्थान से कहीं गए। इस वृत्तान्त से सेठ शान्तिदास तथा अन्य विरुद्ध-प्ररूपक सागरों के भक्त निराश हुए और धीरे धीरे उनका साथ छोड़ कर देवसूरिजी की आज्ञा मानने वाले सागर साधुओं का गुरू के रूप में अपनाया।

उपाध्याय श्रीं धर्मसागरजी के अप्रामाणिक ग्रन्थों का प्रचार करने के कारण उपाध्यायजी के परवर्ति शिष्य-प्रशिष्यादि ने अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा स्थापित कर ली थी। यद्यपि उनमें कोई आचार्य नहीं था। धर्मसागरजी की तरह उनके शिष्य भी उपाध्याय ही कहलाते रहे, परन्तु विजय-परम्परा में विजयदेव सूरि, विजय आनन्द सूरि के नाम से दो परम्पराएँ प्रचलित हुईं। उसी समय में सागरों ने भी अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा उद्घोषित की और उसका संबन्ध विजयसेन सूरिजी से जोड़ा। विजयसेन सूरिजी के समय में वास्तव में सागर-नामक कोई आचार्य ही न था, उपाध्याय परम्परा ही चल रही थी। परन्तु विजयशाखा के आपसी कलह के कारण पिछले सागरों ने अपनी आचार्य परम्परा प्रचलित कर स्वतन्त्र बना ली।

विजयसेन सूरिजी के बाद राजसागर सूरिजी, उनके पट्टधर वृद्धिसागर सूरिजी आदि के नाम कल्पित करके सागरों ने अपनी शाखा सदा के लिए कायम कर ली। इस शाखा में प्रारम्भ में धर्मसागर के ग्रन्थों को प्रामाणिक मानने वाले सागरों की ही टोली थी। अधिकांश सागर-शाखा के साधु विजयहीर सूरि, विजयसेन सूरि, विजयदेव सूरि आदि आचार्यों की आज्ञा में रहने वाले थे। उ० धर्मसागरजी की परम्परा के अधिकांश साधु विजय-शाखा के आचार्यों की आज्ञा के बाहर थे। अहमदाबाद में नगर सेठ शान्तिदास का कुटुम्ब तथा अन्य कतिपय गृहस्थ इनकी परम्परा को मान देते थे, परन्तु विजयदेव सूरि से शास्त्रार्थ करने में पीछे हटने से इन सागरों पर से अधिकांश भक्तों की श्रद्धा हट गई। परिणामस्वरूप धर्मसागरजी के ग्रन्थों के अनुसार अनागमिक प्ररूपणा करना बन्द हो गया। बाद में अन्य शाखाओं की भाँति सागर शाखा भी चलती रही, परन्तु प्ररूपणा में कोई भेद नहीं रहा। आज विजय-शाखा में संविज्ञ पाक्षिक साधुओं की परम्परा विस्तृत रूप में फैली हुई है। आचार्यों द्वारा चलाई जाने वाली विजयदेव तथा विजयआनन्द सूरि की मूल परम्पराएँ अस्तित्व में नहीं हैं, इसी प्रकार धर्मसागरजी उपाध्याय की शिष्य परम्परा ने चलाई हुई सागर परम्परा भी आज विद्यमान नहीं है। आज सागर नाम के साधुओं की जो शाखा चल रही है, वह भी क्रियोद्धारक-संविज्ञ-पाक्षिक साधुओं की है। इस प्रकार विजयान्त नाम वाले साधुओं की मूल दो परम्पराएँ और सागर की मूल परम्परा कभी की विच्छिन्न हो चुकी हैं।

उपाध्याय धर्मसागरजी जिन ग्रन्थों के प्रचार के अपराध में गच्छ बाहर हुए थे और उनकी परम्परा के सागर साधुओं को भी उन्हीं ग्रन्थों के प्रचार करने के अपराध में तपागच्छ के आचार्यों की आज्ञा के बाहर ठहराया गया था, उन्हीं ग्रन्थों का आज संविज्ञ शाखा के कतिपय सागर नामधारी प्रचार कर रहे हैं। परन्तु हमारी संविज्ञ शाखा के कहलाने वाले आचार्यों द्वारा इसका कोई प्रतीकार नहीं होता,

यह आज के हमारे आचार्यों की कमजोरी का प्रमाण है। यदि इसी प्रकार हमारी संविज्ञ शाखा के आचार्य तथा श्रमण-गण प्रतिदिन निर्बल बनते जायेंगे, तो पूर्वकालीन "श्री पूज्य" नाम से पहचाने जाने वाले आचार्यों और "यति" नाम से परिचित हुए साधुओं की जो दशा हुई थी वही दशा आज के आचार्यों तथा साधुओं की होगी, इसमें कोई शंका नहीं है।

विजयदेव सूरिजी का उपदेश :

"विजयदेव-माहात्म्य" के पढ़ने से ज्ञात होता है, कि विजयदेव सूरिजी के समय में धर्मोपदेश का मुख्य विषय जैन-मन्दिरों का निर्माण प्राचीन जैन-मन्दिरों के जीर्णोद्धार करवाना, जैन-मूर्तियों का बनवाना और तीर्थयात्राओं के लिए संघ निकलवाना इत्यादि मुख्य था। यद्यपि मुनि-धर्म, गृहस्थ-धर्म आदि के उपदेश भी होते रहते थे, फिर भी उपर्युक्त तीनों विषयों का उपदेश विशेष रहता था। आज के उपधानों, उद्यापनों, अष्टोत्तरी तथा शान्तिस्नात्र आदि के उपदेश महत्त्व नहीं रखते थे। ये कार्य भी होते अवश्य थे, परन्तु बहुत ही अल्प प्रमाण में। विजयदेव सूरिजी ने अपने जीवन में हजारों प्रतिमाओं का अजन-विधान करके उन्हें पूजनीय बनाया। सैकड़ों प्रतिमाओं को जिनालयों में प्रतिष्ठित करवाया, अनेक रंगों द्वारा भिन्न-भिन्न तीर्थों की यात्राएँ की। परन्तु सारे ग्रन्थ में "इपधान" का नाम एक ही बार आया है, तब उद्यापन कराने का प्रसंग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

विजयदेव सूरिजी का जन्म-स्थान ईडर नगर था। इनके पिता का नाम सेठ "स्थिरा" और माता का नाम "रूपां" था। इनका खुद का गृहस्थावस्था का नाम "वासकुमार" था। इनकी दीक्षा शहर अहमदाबाद में हाजा पटेल की पोल में श्री विजयसेन सूरिजी के हाथ से वि० सं० १६४३ के माघ शुक्ला १० के दिन हुई थी और दीक्षा नाम 'विद्याविजय' रखा गया था। इनकी माता रूपाँ की दीक्षा भी इसी दिन इनके साथ ही हुई थी। विद्याविजयजी का 'पण्डित-पद'

अहमदाबाद के उपनगर श्री शकन्दर में श्रावक लहुआ पारिक के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर सं० १६५५ के मार्गशीर्ष शुक्ला ५ के दिन आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के हाथ से हुआ था ।

विजयदेव सूरिजी का आचार्य पद खंभात में हुआ । खंभात-वासी श्रीमल्ल नामक श्रावक की विज्ञप्ति स्वीकार कर आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी खंभात पधारे । श्रीमल्ल ने बड़ा उत्सव किया, देश-देश आमन्त्रण-पत्रिकाएँ भेज कर संघ को बुलाया । आचार्य विजयसेन सूरिजी ने विक्रम सं० १६५७ के वैशाख शुक्ला चतुर्थी के दिन पण्डित विद्याविजयजी को सूरि मन्त्र प्रदान पूर्वक आचार्य पद दिया और संघ समक्ष उन्हें "विजयदेव सूरि" इस नाम से प्रसिद्ध किया ।

विजयदेव सूरि को गच्छानुज्ञा दिलाने के लिए पाटण निवासी श्रावक सहस्रवीर ने बहुत धन खर्च कर "वंदनोत्सव" इस नाम से बड़ा भारी उत्सव किया । इसी उत्सव में आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी ने आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी को सं० १६५८ के पोष कृष्णा ६ गुरु के दिन "गच्छानुज्ञा" कर उन्हें वन्दन किया ।

पाटण से गुरू शिष्य दोनों आचार्य अपने परिवार तथा श्रावकों के साथ श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा के लिए गए और उसके बाद मारवाड़ की तरफ विहार किया ।

"विजयदेव माहात्म्य" के लेखक उपाध्याय श्रीवल्लभ :

प्रस्तुत "विजयदेव माहात्म्य" के कर्ता कवि श्री श्रीवल्लभ उपाध्याय बृहद् खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनराज सूरि सन्तानीय पाठक श्री ज्ञानविमलजी के शिष्य थे । आपका तपागच्छाधिराज श्री विजयहीर सूरिजी तथा उनके शिष्य श्री विजयसेन सूरिजी तथा श्री विजयदेव सूरिजी पर बड़ा गुणानुराग था । यही कारण है कि उपाध्याय श्रीवल्लभ जैसे विद्वान् ने तपागच्छ तथा इस गच्छ के आचार्यों की यह जीवनी लिखी है ।

कवि इस विषय में स्वयं कहते हैं—

"यदन्यगच्छप्रभवः कविः किं, मुक्त्वा स्वसूरिं तपगच्छसूरेः ।
कथं चरित्रं कुरुते पवित्रं, शंकेयमार्येर्न कदापि कार्या ॥२००॥

आत्मार्थसिद्धिः किल कस्य नेष्टा, सा तु स्तुतेरेव महात्मनां स्यात् ।
आभाणकोऽपि प्रथितोऽस्ति लोके, गंगा हि कस्यापि न पैतृकीयम् ॥२०१॥

तस्मान्मया केवलमर्थसिद्ध्यै, जिह्वा पवित्रीकरणाय यद्वा ।
इति स्तुतः श्री विजयादिदेवः, सूरिस्समं श्री विजयादिसिंहैः ॥२०२॥

आचन्द्र-सूर्यं तपगच्छधुर्यो, वृतो परेणापि परिच्छदेन ।
जीयाच्चिरं स्तान्मम सौख्यलक्ष्म्यै, श्री वल्लभः पाठक इत्यपाठीत् ॥२०३॥"

अर्थात्—

अन्यगच्छीय कवि अपने आचार्य को छोड़कर, तपागच्छ के आचार्य का पवित्र चरित्र क्यों बनाता है, इस प्रकार की शंका सज्जन पुरुषों को कदापि नहीं करनी चाहिए। आत्मार्थ-सिद्धि सभी को इष्ट होती है और वह महात्माओं की स्तुति से ही प्राप्त होती है। लोगों में कहावत प्रसिद्ध है कि "गंगा किसी के बाप की नहीं है", इसीलिए मैंने केवल अपनी अर्थ सिद्धि के लिए अथवा जिह्वा को पवित्र करने के लिए आचार्य श्री विजय-सिंह सूरि के साथ श्री विजयदेव सूरि की ऊपर मुजब स्तुति की है। चन्द्र सूर्य की स्थिति पर्यन्त तपागच्छ के धुरन्धर आचार्य श्री (विजयदेव सूरि) अपने परिवार से परिवृत्त होकर विजयी हों और मेरे लिए सुख लक्ष्मी के देने वाले हों ऐसा पाठक श्रीवल्लभ का कहना है। २००–२०३।

कवि श्रीवल्लभ पाठक विजयदेव सूरि को चिरविजयी रहने की आशंसा करते हैं और इस काव्य की रचना द्वारा जिह्वा पवित्र करने के अतिरिक्त गुणी के गुणगान करने से जो आत्मिक लाभ होता है, उसी की वे प्रार्थना करते हैं। कवि ने तपागच्छ के आचार्यों की ही स्तुति नहीं गाई किन्तु तपागच्छ की भी दिल खोलकर प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—

"एधतां श्री तपागच्छो, दीप्यतां सवितेव च ।
तेजसा सूरिमन्त्रस्य, त्वदीयस्य च सर्वदा ॥१५॥
महीयान् श्री तपागच्छः, सर्वगच्छेसु सर्वदा ।
सर्वदा सर्वदाता च, पर्वतात्सर्ववाञ्छितम् ॥१६॥
राजान इव विद्यन्ते, श्रावका यत्र सर्वदा ।
नन्दताच्छ्रीतपागच्छः सततं स ततक्षणः ॥१७॥
यत्र त्वमीदृशः सूरि वंर्तसे गच्छनायकः ।
स्तूयते चेति विद्वद्भिः, पातिसाह्यादिभिर्नृपैः ॥१८॥"

अर्थ—

श्री तपागच्छ वृद्धिगत हो और तुम्हारे (विजयदेव सूरि) सूरि मन्त्र के तेज से सूर्य की तरह सदा देदीप्यमान रहो। श्री तपागच्छ सर्व गच्छों में सदा महान् है और वह सदा सर्व पदार्थों को देने वाला है। जैसे पर्वत से सर्ववाञ्छित प्राप्त होते हैं, जिसमें श्रावक राजाओं के जैसे समृद्धिमन्त हैं और जिस गच्छ में निरन्तर उत्सव होते रहते हैं, ऐसा तपागच्छ सदा समृद्धिमन्त हो, जिसमें तुम्हारे जैसे गच्छनायक हैं, जो विद्वानों द्वारा तथा बादशाह आदि राजाओं द्वारा सदा स्तुति गोचर किये जाते हैं। १५–१८।

विजयदेव सूरिजी के समय में प्रचलित कुछ रीतियाँ :

१. कवि श्रीवल्लभ ने श्री वासकुमार के जन्म के दशवें दिन उनके पिता सेठ स्थिरा द्वारा अपने मित्र सम्बन्धियों को आमन्त्रित कर भोज देकर पुत्र का नामकरण करवाया है। इतना ही नहीं, किन्तु नवजात बालक को दर्शनार्थ देवमन्दिर ले जाने की बात भी कही है। इससे मालूम होता है कि उस समय जैनों में दसवें दिन पुत्र जन्म-सम्बन्धी सूतक पूरा हो जाता था।

२. आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी त्यागी और त्यागियों के गुरु होते हुए भी नगर-प्रवेश के समय रेशमी अथवा सूती वस्त्र जो भक्तों द्वारा मार्ग में विछाये जाते थे, उन पर चलते थे।

३. उस समय आचार्यों को भक्त गृहस्थों अथवा संघ के आगेवानों का बड़ा लिहाज रखना पड़ता था। जहाँ वे चातुर्मास्य में अथवा शेषकाल में स्थिरता करते थे, वहाँ से विहार करने के पहले खास भक्त अथवा संघ की आज्ञा मानते। जब तक वे आज्ञा नहीं देते, तब तक वे वहाँ से विहार नहीं करते थे। एव बार बिजयदेव सूरिजी जालोर में थे, तब मेड़ता से अमुक गृहस्थ संघ के आगेवानों के साथ मेड़ता में जिन-प्रतिष्ठा करने के लिए आचार्य को मेड़ता पधारने की विनती करने आए, परन्तु उन्हें विश्वास था कि जब तक जयमल्लजी मुणोत जो सूरिजी के परम भक्त थे, आचार्य को विहार की आज्ञा नहीं देंगे, तब तक आचार्य जालोर नहीं छोड़ेंगे। इसीलिए वे प्रथम जयमल्लजी से मिले और उनसे प्रार्थना की जो निम्न श्लोक से ज्ञात होगी—

"मन्त्रिणं जयमल्लं ते, मिलित्वा चावदन्निदम्।
सूरीन्द्रं मुञ्च धर्मात्मन्नेति यत् त्वद्वचो विना ॥४२॥" (दशम सर्ग)

अर्थात्—

'मेड़ता के संघ के आने वाले अग्रेसर मन्त्री जयमल्लजी को मिलकर यह बोले—हे धर्मात्मन् जयमल्लजी ! आचार्य विजयदेव सूरिजी को हमारे वहाँ भेजो, क्योंकि आपके कहे बिना वे नहीं आयेंगे।

४. उस समय आचार्य सोने रूपे से अपनी नवांग पूजा करवाते थे, जो रीति चैत्यवासियों के द्वारा प्रचलित हुई थी। परन्तु इसकी उत्पत्ति का पूरा ज्ञान न होने के कारण इस प्रकार की पूजा कोई कोई सुविहित साधुओं के लिए भी विहित मानते हैं, यह बात योग्य नहीं कही जा सकती। क्योंकि आगमों की पंचागी में इसका कोई विधान नहीं मिलता।

"विजयदेव माहात्म्य" के अन्तिम उन्नीसवें सर्ग में उपाध्याय श्रीवल्लभ कवि ने तपागच्छ की तत्कालीन कुछ शाखाओं का उल्लेख किया है, जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं—

"विजया १, सुन्दरा २ (सुन्दरी), वल्लभा ३, हंसा ४, विमला ५, चन्द्रा ६, कुशला ७, रुचि ८, सागरा ६, सौभाग्या १०, हर्षो ११, सकला १२, उदया १३, आनन्दा १४। उक्त शाखाओं के अतिरिक्त 'सोमा' आदि अन्य शाखाएँ भी प्रचलित थीं। कवि ने इनका सामान्य अर्थ भी निरुक्त के रूप में दिया है, परन्तु इसकी चर्चा कर हम विषय को बढ़ाना नहीं चाहते।

ग्रन्थ के कवि श्री श्रीवल्लभ उपाध्याय की योग्यता :

अपने गच्छ के आचार्यों की प्रशस्तियां तो सभी लिखते हैं, परन्तु अन्य गच्छ तथा उसके आचार्यों की प्रशस्ति लिखने वाले श्रीवल्लभ पाठक जैसे शायद ही कोई विद्वान् हुए होंगे। श्रीवल्लभ की इस अन्य गच्छ-भक्ति से इतना तो निर्विवाद है कि ये गुणानुरागी पुरुष थे, इसमें कोई शंका नहीं।

कवि श्रीवल्लभ ने अपनी इस कृति को "महाकाव्य" के नाम से उल्लिखित किया है, यह ठीक नहीं जँचता। क्योंकि इसमें रस, रीति, अलंकार आदि काव्य लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते। इतना ही नहीं, अनेक स्थानों पर छन्दोभंग आदि साहित्यिक अशुद्धियाँ भी प्रचुर मात्रा में दृष्टिपथ में आती हैं। इस परिस्थिति में लेखक इसको "महाकाव्य" न कहकर "चरित्र" कहते तो अच्छा होता।

पाठक श्रीवल्लभ कवि की इस कृति से यह भी मालूम हुआ कि उनका आगमिक ज्ञान बहुत कच्चा होना चाहिए। वासकुमार की केवल नौ वर्ष की अवस्था में कवि उनके यौवन तथा परिणयन की बातें करता है। "वर्तमान चतुर्विशति के २३ तीर्थङ्करों ने भी विवाह करने के उपरान्त दीक्षा ली थी, तो तुम्हें भी पहले गृहस्थाश्रम स्वीकार कर पिछले जीवन में प्रव्रज्या लेना चाहिए" ऐसा उनके माता-पिताओं के मुख से कहलाता है। काव्य के मूल शब्द निम्नोद्धृत हैं—

"त्रयोविंशतिरर्हन्तः, परिणीतवरस्त्रियः।
संजातानेकपुत्राश्च, प्रान्ते प्रापुः शिवश्रियम् ॥३०॥

वर्धमानजिनः पूर्वं; विजहाररतरां निशि ।
प्रागदीक्षितसच्छिष्यः, शिष्यसन्ततिहेतवे ॥३१॥" (द्वितीय सर्ग)

अर्थात्—

तेईस जिन उत्तम स्त्रियों का पाणिग्रहण कर अनेक पुत्रों के पिता बनकर अन्त में मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त हुए। पूर्वकाल में वर्धमान जिन ने सत् शिष्य नहीं किये थे, इसलिये शिष्य-सन्तति के लिए रात्रि में विहार किया। ३०-३१ ।

पाठक श्रीवल्लभजी को जैन शास्त्रानुसार यह लिखना चाहिए था कि वर्तमान चौबीसी के २२ तीर्थङ्करों ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त दीक्षा ग्रहण की थी। क्योंकि जैन शास्त्र के इस विषय के दो मतों में से एक भी मत श्रीवल्लभ के उक्त मत का समर्थन नहीं करता। "समवायांग-सूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति" के कथनानुसार १६ तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित हुए थे और वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान ये पांच तीर्थङ्कर कुंवारे ही दीक्षित हुए थे। तब "दशाश्रुत-स्कन्ध" के कल्पाध्ययन के अनुसार २२ तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित हुए थे और मल्लिनाथ तथा नेमिनाथ ये दो जिन ब्रह्मचारी अवस्था से ही दीक्षित हुए थे, परन्तु श्रीवल्लभ पाठक के कथनानुसार तेईस तीर्थङ्करों ने गृहस्थाश्रम से दीक्षित होने का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलता। मालूम होता है, श्री पाठकजी की यह अनाभोगजनित स्खलना मात्र है।

तीर्थङ्कर वर्धमान के पहले शिष्य न करने और बाद में शिष्य-सन्तति के लिए रात्रि में विहार करने का कथन 'वासकुमार' के प्रसंग के साथ किसी प्रकार की संगति नहीं रखता। 'वासकुमार' दीक्षा ग्रहणार्थ परिणयन का निषेध करते हैं, तब तीर्थङ्कर वर्धमान ज्ञान-प्राप्ति के बाद रात्रि के समय चलकर मध्यमा नगरी के महासेन वन पहुंचते हैं। इसका कारण शिष्य-सन्तति का लोभ नहीं, किन्तु उपकार का सम्भव जानकर तीर्थङ्कर नाम कर्म खपाने की भावना से विहार कर वहाँ पहुंचते हैं।

'वासकुमार' की दीक्षा के साथ भगवान् महावीर के इस विहार का क्या सम्बन्ध और साम्य, यह बात पाठक श्रीवल्लभ ही समझ सकते हैं।

श्रीवल्लभ पाठक ने 'विजयदेव-माहात्म्य" में कोई दस-बारह स्थान पर वर्ष सूचक शब्द प्रयोग किए हैं। वे सब के सब भ्रान्तिकारक हैं। वे प्रत्येक संवत्सर निवेदन के अवसर पर 'सोलहवें शतक के अमुक वर्ष में' इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया है, जो ठीक नहीं। आचार्य श्री विजयदेव सूरि सोलहवें शतक के व्यक्ति नहीं किन्तु सत्रहवीं सदी के थे। अतः सोलहवें के स्थान पर सर्वत्र सत्रहवें ऐसा शब्द प्रयोग करना चाहिए था। आपके काल-सूचक शब्द प्रयोगों के एक दो उदाहरण नीचे देकर इस विषय को स्पष्ट करेंगे—

"चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे, षोडशस्य शतस्य हि।
पौषे मासे सिते पक्षे, त्रयोदश्यां दिने रवौ ॥१८॥

नक्षत्रे रोहिणी नाम्नि, सम्यग्योगसमन्विते।
सर्वास्वाशासु सौम्यासु, निष्पन्नान्नावनीषु च ॥॥१६॥

स्थिरे वरे वृषे लग्ने, शोभमाने शुभैर्ग्रहैः।
उच्च-स्थानस्थितैः सर्वैः, स्व-स्वस्वामिभिरीक्षितैः ॥२०॥

परिपूर्णे तथा सार्धं, नवमासावधौ शुभे।
पुत्रं प्रासूत सा पूत-जाग्रज्ज्योतिस्तनूदयम् ॥२१॥" (प्रथम सर्ग)

ऊपर के चार श्लोकों में स्थिरा सेठ के पुत्र 'वासकुमार' के जन्म के लग्न और लग्न स्थित ग्रहों की स्थिति का वर्णन करने के साथ जन्म का निरूपण किया है। इसमें "षोडशस्य शतस्य चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे" यह कथन भ्रान्तिकारक है, क्योंकि षष्ठ्यन्त षोडश शत के साथ चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे का सम्बन्ध जोड़ने से इसका सीधा अर्थ "पन्द्रह सौ चौत्रीस" होगा

जो आपत्तिजनक है। पाठकजी को यहाँ "षोडशस्य शतस्य" के स्थान "सप्तदश शतस्य" ऐसा लिखना चाहिए था, जिससे यथार्थ अर्थ उपस्थित हो जाता। "षोडश" यह शब्द पूर्ण प्रत्यान्त है, इसलिए इसके साथ "चतुस्त्रिंश" शब्द जोड़ने से सोलह सौ चौत्रीस के स्थान पन्द्रह सौ चौत्रीस ऐसा अर्थ होगा, १६३४ नहीं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ संवत्सर दिखाने का प्रसंग आया, वहाँ सभी जगह "षोडशस्य शतस्य" यही शब्द प्रयोग किया है, जो पाठकजी के अनाभोग का परिणाम ही कहा जा सकता है।

पाठक श्रीवल्लभ कवि ने अपनी इस कृति का निर्माण समय नहीं दिया। इससे निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि "विजयदेव-माहात्म्य" निर्माण का समय क्या है, परन्तु कवि के अन्तिम सर्ग के कई श्लोकों से यह ध्वनित अवश्य होता है, कि पाठकजी ने इस ग्रन्थ का निर्माण श्री विजयदेव सूरिजी की विद्यमान अवस्था में ही नहीं, किन्तु इनकी जीवनी के पूर्व-भाग में ही इस ग्रन्थ का निर्माण हो चुका होगा। विजयदेव सूरिजी अठारहवीं सदी के प्रथम चरण तक विद्यमान थे। तब श्रीवल्लभ ने अपने इस ग्रन्थ में अठारहवीं सदी का एक भी प्रसंग नहीं लिखा। इससे निश्चित है कि सत्रहवीं सदी के चतुर्थ चरण में ही इस ग्रन्थ की समाप्ति हो चुकी थी। मुद्रित "विजयदेव-माहात्म्य" की आधार भूत प्रति के अन्त में लेखक की पुष्पिका निम्न प्रकार की मिलती है—

"लिखितोऽयं ग्रन्थः श्री ५ श्रीरंगसोमगणि-शिष्य-मुनिसोमगणिना। सं० १७०६ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथौ बुधौ (धे) लिखितं। श्री राजनगरे तपागच्छाधिराज भ० श्री विजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये।"

ऊपर की पुष्पिका से इतना निश्चित हो जाता है कि सं० १७०६ के वर्ष तक विजयदेव सूरि तपागच्छ के गच्छपति के रूप में विद्यमान थे। तब "विजयदेव-माहात्म्य" इसके पूर्व लगभग बीस से पच्चीस वर्ष पहले बन चुका था और इससे यह भी जान लेना चाहिए, कि "विजयदेव-माहात्म्य" में आचार्य श्री विजयदेव सूरि का पूरा जीवन चरित्र नहीं है।

"विजयदेव-माहात्म्य" में जिस प्रकार ग्रन्थ-कर्ता की अनेक स्खलनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, इससे भी अधिक भूलें इसके सम्पादक मुनि जिनविजयजी के अनाभोग अथवा अज्ञान की इसमें दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ के सम्पादन में सम्पादकीय भूलों का रहना बहुत ही अखरता है। यदि इस ग्रन्थ का शुद्धि-पत्रक बनाया जाय तो लगभग एक फॉर्म का मेटर बन सकता है, परन्तु ऐसा करने का यह योग्य स्थल नहीं है।

卐 卐

: १२ :

गुरुतत्त्व-विनिश्चय

❖

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी विरचित

उपाध्याय श्री यशोविजयजी विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रखर विद्वान् थे। आपने छोटे बड़े १०८ न्याय के ग्रन्थ बनाये, तब काशी के विद्वानों ने आपको "न्यायाचार्य" का पद दिया था। आप नैयायिक होने के अतिरिक्त कवि और जैन सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता भी थे। "वैराग्य कल्पलता" जो "सिद्धर्षि" की "उपमित भव प्रपंचा" कथा का पद्य रूप है, आपके प्रौढ़ कवित्व का प्रमाण देती है। "यतिलक्षण-समुच्चय" आदि आपके अनेक ग्रन्थ आपको जैन-सिद्धान्तज्ञ के रूप में प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार के सैद्धान्तिक ग्रन्थों में आपकी "गुरुत्व-विनिश्चय" नामक कृति सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है।

"गुरुतत्व विनिश्चय" ग्रन्थ की रचना प्राकृत गाथाओं में की गई हैं, जिनकी गाथा संख्या ६०५ है। इस बृहद् ग्रन्थ पर आपने एक टीका भी बनाई है, जिसका श्लोक प्रमाण ८००० के लगभग होगा। इस ग्रन्थ को आपने चार 'उल्लासों' में विभक्त किया है। प्रत्येक उल्लास में क्या-क्या विषय है, जिसका आभास नीचे की पंक्तियों से हो सकेगा—

१. प्रथम उल्लास में निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से गुरुत्तत्व का निरूपण २०८ गाथाओं में किया है।

२. द्वितीय उल्लास में उपाध्यायजी ने "व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ, महानिशीथ, जीतकल्प" आदि छेद सूत्रों के आधार से श्रमण-श्रमणियों को दिये जाने वाले प्रायश्चितों का संग्रह और उनके देने का व्यवहार भी

बताया है। इस सम्बन्ध में जीत-कल्प तथा व्यवहार-सूत्र के आधार से दो तीन यन्त्रक भी दे दिये हैं। छेद सूत्र पढ़ने के पहले यह उल्लास पढ़ा जाय तो छेद सूत्रों की दुर्गमता कुछ सुगम हो सकती है। इस उल्लास में आपने ३४३ गाथाओं में प्रायश्चितों का निरूपण किया है।

३. "गुरुतत्व विनिश्चय" के तृतीय उल्लास में आपने सुविहित साधुओं कीं पहिचान कराने के साथ पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाच्छन्द नामों से शास्त्र में प्रसिद्ध पांच प्रकार के कुगुरुओं का निरूपण करके उनसे दूर रहने की सलाह दी है। इस उल्लास में आपने १८८ गाथाएँ रोकी हैं।

४. "गुरुतत्व विनिश्चय" का चतुर्थ उल्लास जैन सिद्धान्तोक्त पांच प्रकार के निर्गन्थों के वर्णन में रोका है। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक नामक पांच निर्ग्रन्थों के निरूपण के साथ इनके साथ सम्बन्ध धराने वाली बहुत सी बातों का स्पष्टीकरण किया है। इस उल्लास में १६६ गाथाएँ बनाकर आपने इस ग्रन्थ की समाप्ति की है।

उपाध्यायजी ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक उल्लास के अन्त में अपने प्रगुरू, गुरू, गुरूभाई आदि का स्मरण किया है, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इतने बड़े ग्रन्थ के अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं दी और न अपने गच्छ के आचार्य का नामोल्लेख ही किया है। मालूम होता है कि विजयसेन सूरिजी के पट्ट पर विजयदेव सूरिजी के विरोध में नया आचार्य स्थापित करने से तपागच्छ की परम्परा में जो गच्छभेद हुआ था उस समय की यह कृति है। उस समय तपागच्छ के अधिकांश गीतार्थ श्रमण वर्ग नये आचार्य के पक्ष में उतर गया था, परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी तथा इनके गुरु आदि अन्त तक आचार्य विजयदेव सूरिजी के ही अनुयायी रहे। सम्भव है ऐसे मतभेद के समय में अपनी कृति में किसी आचार्य का उल्लेख कर खुल्ला न पड़ने की भावना से आपने ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति भी नहीं लिखी।

卐 卐

: १३ :

उपाध्याय श्री यशोविजयजी कृत
स्वोपज्ञ टीका सहित

अध्यात्म-मत-परीक्षा

"अध्यात्म-मत-परीक्षा" उपाध्याय यशोविजयजी की एक प्रौढ़ कृति है। ग्रन्थ की मूल गाथाएँ एक सौ चौरासी हैं और इन पर उपाध्यायजी की स्वोपज्ञ विस्तृत टीका है, जो लगभग चार हजार से अधिक श्लोकों के परिमाण की होगी।

ग्रन्थ का नाम "अध्यात्म-मत-परीक्षा" रखने का खास कारण यह है कि उपाध्यायजी के समय में (विक्रम की १७वीं सदी में) दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार आदि ग्रन्थों के पढ़ने से अध्यात्म मार्ग की तरफ झुक कर कुछ श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर श्रावकों ने एक मण्डल कायम किया था, जो "आध्यात्मिक-मण्डल" के नाम से प्रसिद्ध हुआ था और इस मण्डल के प्रमुख "श्री बनारसीदासजी" एवं "कुमारपाल" आदि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक थे। इस मण्डल में अन्य भी श्वेताम्बर श्रावक मिले थे, इसलिये उपाध्याय यशोविजयजी, उपाध्याय मेघविजयजी आदि तत्कालीन श्वेताम्बर विद्वानों ने इस मत के खण्डन में प्रवृत्ति की थी। उपाध्यायजी की "अध्यात्म-मत-परीक्षा" और उपाध्याय मेघविजयजी का "युक्ति प्रबोध" इसी मत के खण्डन में लिखे गए हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों की तरफ से इस विषय का कोई ऊहापोह हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। इसका कारण यहीं है कि इस मण्डल ने जो कुछ प्रचार किया, उसका मूलाधार दिगम्बर ग्रन्थ थे। अतः दिगम्बरों को आपत्ति उठाने का कोई कारण नहीं था। जब इस मण्डल की प्रवृत्तियों से तत्कालीन दिगम्बर भट्टारकों की टीका-टिप्पणियाँ होना शुरू हुआ तो दिगम्बर भट्टारक चौकन्ने हो गये। अपने भक्तों को इन आध्यात्मियों

की मण्डली से सतर्क रहने की प्रेरणा करने लगे। दिगम्बर सम्प्रदाय में आज जो तेरह पन्थी कहलाते हैं उन्हें इन्हीं आध्यात्मियों के अवशेष समझने चाहिए।

इन आध्यात्मियों का मुख्य सिद्धान्त साधु को जरूरी वस्त्र पात्र रखना, केवली का कवलाहार करना और स्त्री का उसी भव में मोक्ष जाना, इन तीन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से विरोध करना था। उपाध्यायजी ने इन तीनों बातों का समर्थन किया है। प्रारम्भ में आध्यात्म की व्याख्या करके उक्त बनारसीदास को नाम अध्यात्मी माना है और अनेक तार्किक युक्तियों से जैन श्रमणों को आवश्यक संयम के उपकरण रखने पर भी मोक्ष प्राप्ति होना बताया है। केवली का परमौदारिक शरीर मानने पर भी कवल आहार के बिना वह शरीर टिक नहीं सकता यह बात प्रमाणित की है। ग्रन्थ के अन्त भाग में श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार स्त्री को चारित्र पालने से उसी भव में मुक्ति प्राप्त हो सकती हैं इसमें कोई बाधक नहीं है।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों का सविस्तार प्रतिपादन करके उपाध्यायजी ने अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है।

卐 卐

: १४ :

युक्ति-प्रबोध

(वाणारसीय-दिगम्बर मत खण्डन)

❖

महामहोपाध्याय मेघविजयजी कृत स्वोपज्ञवृत्तियुत ।

उपाध्याय यशोविजयजी के "अध्यात्म-मत-परीक्षा खण्डन" ग्रन्थ के बाद बनारसीय मत खण्डन में लिखा हुआ उपाध्याय मेघविजयजी का यह "युक्ति-प्रबोध" ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के लेखक ने अपनी इस कृति को नाटक का नाम दिया है, परन्तु ग्रन्थ में नाटक का कोई भी लक्षण नहीं है। मालूम होता है, उपाध्यायजी ने दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र ने जिस प्रकार अपनी टीका में "कुन्दकुन्द के प्राभृतों" को नाटकीय रूप देकर सटीक ग्रन्थ का नाम नाटक दिया है, उसी प्रकार बनारसीदासजी ने अपनी हिन्दी कृति "समयसार" का नाटक नाम रखा है, उसी प्रकार उनकी देखादेखी उपा० मेघविजयजी ने भी अपने "युक्ति-प्रबोध" को नाटक के नाम से प्रसिद्ध किया है, परन्तु उक्त सभी ग्रन्थों के नामों के साथ "नाटक" शब्द देखकर किसी को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, वास्तव में ये सभी ग्रन्थ खण्डन-मण्डन के हैं, थियेटर में खेलने के नाटक नहीं।

उपाध्याय मेघविजयजी ने तीन विषयों पर मुख्य चर्चा की है, (१) स्त्रीनिर्वाण की, (२) केवली कवलाहार की और (३) वस्त्रधारी श्रमण के मोक्ष की। आपने युक्तियों और शास्त्र प्रमाणों से विषय का निरूपण किया है और आप इसमें सफल भी हुए हैं। कुन्दकुन्द के "प्राभृत" नेमिचन्द्र के "गोम्मटसार" तथा अन्यान्य दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों का प्रमाण देकर विषयों का सफलता पूर्वक प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त जिन-जिन श्वेताम्बर मान्य बातों का बनारसीदास के अनुयायी विरोध करते थे उन सभी बातों का उपाध्यायजी ने सप्रमाण उत्तर दिया है, बनारसीदास

के अनुयायी श्वेताम्बर सम्प्रदाय-प्रसिद्ध चौरासी बातों का खण्डन करते थे, उनमें से कुछ तो उनके अज्ञान से उत्पन्न हुई बातें थी, जैसे-"मुनिसुव्रत भगवान् के घोडा गणधर होने की, बाहुबलीजी के मुसलमान होने की बात" इत्यादि कई बातें श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं हैं. उन्हें होना बताकर लोगों को बहकाते थे, जिनका उपाध्यायजी ने सप्रमाण खण्डन करके बनारसी के अनुयायियों को निरुत्तर किया है।

टीका की समाप्ति में आपने एक प्रशस्ति दी है, जिसमें आचार्य विजय-हीरसूरिजी, विजयसेनसूरिजी, विजयदेवसूरिजी और विजयसिंहसूरिजी का गुणगान किया है। इससे इतना ज्ञात होता है कि उपाध्यायजी की यह कृति विक्रम सं० १६८८ के पहले की है, क्योंकि आचार्य श्री विजयसिंहसूरिजी को गच्छानुज्ञा १६८४ में हुई थी और उसके बाद आप ४ वर्ष में ही स्वर्गवासी हो चुके थे, इससे निश्चित होता है कि यह ग्रन्थ विजयसिंहसूरिजी के जीवन-काल में ही बना था।

उपाध्याय यशोविजयजी की "आध्यात्म-मत-परीक्षा" में बनारसीदास-जी और उनके अनुयायी "कुमारपाल" का नाम निर्देश किया गया है, तब उपाध्याय मेघविजयजी ने इस विषय में विशेष प्रकाश डाला है। आपने बनारसीदास के मत की उत्पत्ति का स्थान, उनका समय और उनके अनुया-यियों के नाम लिखकर इन नवीन सम्प्रदाय वालों का विशेष परिचय कराया है। इनके कथनानुसार बनारसीदास "आगरा" के रहने वाले थे, ये जातिके दशा श्रीमाली थे, और सम्प्रदाय की दृष्टि से प्रतिक्रमण, पौषधादि धार्मिक क्रिया करने वाले खरतरगच्छ से श्रावक थे। एक बार चऊविहार उपवास के साथ पौषध लिये धर्मशाला में रहे हुए थे, रात्रि के समय उनके मन में खाने-पीने की इच्छा के सताने के कारण मानसिक कल्पना उत्पन्न हुई कि तपस्या वगैरह धार्मिक विधान करते हुए श्रावक के मन में खाने-पीने की इच्छा हो जाय तो उसको तपोनुष्ठान का फल मिल सकता है या नहीं। इस मानसिक शंका को बनारसीदासजी ने दूसरे दिन अपने गुरुजी से पूछा, तो भविष्य वश गुरु के मुख से निकला कि मन के परिणाम बदलने से अनुष्ठान का फल नहीं मिलता। मानसिक भावनाएं तो हर हालत में शुद्ध रहनी चाहिए, बस

बनारसीदासजी को निश्चय मार्ग पकड़ने का सहारा मिल गया-"उन्होंने निश्चय किया कि आत्मिक भावनाओं की शुद्धि से ही आत्मा शुद्ध होता है, बाह्य क्रिया-अनुष्ठानों से नहीं" आपने इस निर्णय को अपने धर्म-मित्रों के सामने प्रकट किया, परिणाम स्वरूप बनारसीदासजी का साथ देने वाले कुछ गृहस्थ मिल गए, जिनके नाम-रूपचन्द्र पण्डित, चर्तुभुज, भगवतीदास, कुमारपाल और धर्मदास। इन पांचों ने बाह्यक्रिया-वगैरह का त्याग कर धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन करने और उनमें से जो बात अपने दिल में न जँचे उनका खण्डन करने का काम प्रारम्भ किया। परिणाम स्वरूप दिगम्बर भट्टारकों के पास रहने वाले धार्मिक उपकरण मोरपिच्छी, कमण्डलु, पुस्तक रखने का भी विरोध किया और श्वेताम्बर सम्प्रदाय की हजारों बातों में से चौरासी बातें ऐसी निकली जिसका वे खण्डन किया करते थे।

बनारसीदास का प्रस्तुत अध्यात्म-मत विक्रम सं० १६८० में चला। इसके प्रचार के लिए बनारसीदास ने हिन्दी कवित्त में अमृतचन्द्राचार्य कृत "समयसार" की टीका के आधार पर "समयसार" नाटक की रचना की, जो विक्रम सं० १६६३ में समाप्त हुई थी।

बनारसीदासजी स्वयं निस्संतान थे, अतः उनकी मृत्यु के बाद उनके मत की बागडोर कुमारपाल ने ग्रहण की और इस मत के अनुयायियों को अपने मत में स्थिर रखने के लिए इस मत का प्रचार करता रहा।

उपाध्याय श्री मेघविजयजी

उपाध्याय मेघविजयजी पूर्वावस्था में लुकागच्छ के आचार्य श्री मेघजी ऋषि के प्रशिष्य थे। आपकी दीक्षा आचार्य श्री विजयसेनसूरिजी के हाथ से विक्रम सं० १६५६ में हुई थी, आपके गुरु का नाम श्री कृपाविजयजी था, आप अच्छे विद्वान और ग्रन्थकार थे, आपने इस युक्ति-प्रबोध का निर्माण-समय नहीं बताया, परन्तु प्रशस्ति में आपने लिखा है—यह "युक्तिप्रबोध" की रचना आचार्य श्री विजयप्रभसूरि और उनके पट्टधर आचार्य श्री विजयरत्नसूरि के शासनकाल में हुई। इससे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ

विजयरत्नसूरिजी का आचार्य पद विक्रम सं० १७३२ में होने के बाद की है, एक स्थान पर ग्रन्थकार लिखते हैं—"यह ग्रन्थ साधु कल्याणविजय के बोधार्थ बनाया," यह कल्याणविजय इनकी शिष्यपरम्परा में नहीं थे, किन्हीं दूसरे के शिष्य होंगे और उनकी श्रद्धा स्थिर करने के लिए उपा० मेघविजयजी ने इस ग्रन्थ को बनाया होगा।

卐 卐

: १५ :

श्री-धर्म-संग्रह

उपाध्याय मानविजयजी कृत स्वोपज्ञ टीका, उ० यशोविजयजी कृत संस्कृत-टिप्पणी युक्त ।

"धर्मसंग्रह" एक संग्रह-ग्रन्थ है, इसमें अनेक ग्रन्थों के आधार से गृहस्थधर्म और साधुधर्म का निरूपण किया है । ग्रन्थकार ने प्रारम्भ से ही ग्रन्थ को एक संग्रह का रूप देकर इसकी रचना की है । परिणाम यह हुआ कि संग्रह का जितना कलेवर बढ़ा है, उतना विषय का स्पष्टीकरण नहीं हुआ । उपाध्यायजी ने अपनी शैली ही ऐसी रखी है कि विषय का सरल निरूपण करने के स्थान पर अपना स्वतन्त्र निरूपण न करके आधार भूत ग्रन्थों के आधारों का संस्कृत में अक्षरानुवाद किया है और बाद में जिनके आधार से आपने संस्कृत में विषय का निरूपण किया है, उन्हीं आधार प्रमाणों के, चाहे वे पद्य हों, गद्य हों संस्कृत हों या प्राकृत, ज्यों के त्यों उद्धरण दे दिये हैं, इससे ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ गया है । ग्रन्थकार स्वयं ग्रन्थ के अन्त में कहते हैं—"धर्मसंग्रह" अनुष्टुप श्लोकों के परिमाण से चौदह हजार छः सौ दो (१४६०२) संख्यात्मक हो गया है । उपाध्यायजी की शैली और इच्छा ग्रन्थ का शरीर बढाने की थी, अन्यथा "धर्मसंग्रह" में जितने विषयों का स्वरूप निरूपण किया है वह इससे आधे मेटर में भी प्रतिपादित हो सकता था । प्रसिद्ध सर्वमान्य बातों के वर्णन में प्रमाण देना आवश्यक नहीं होता, जो विषय विवादास्पद होता है उसी के लिए शास्त्रीय प्रमाणों के उद्धरण जरूरी होते हैं, परन्तु "धर्मसंग्रह" के कर्त्ता ने इस बात पर तनिक भी विचार नहीं किया । यही कारण है कि आपका ग्रन्थ जितना बढ़ा है, उतना विषय नहीं बढ़ा । इसके अतिरिक्त चैत्यवन्दन सूत्रों, श्राद्धप्रतिक्रमण

सूत्रों, श्रमण प्रतिक्रमण सूत्रों को संस्कृत व्याख्या के साथ "धर्मसंग्रह" के अन्तर्गत किया है, जिस की कोई आवश्यकता नहीं थी, आपने इन सब सूत्रों को ग्रन्थ के अन्तर्गत ही नहीं किया किन्तु इन पर अवचूरि तक लिख डाली है। ग्रन्थ का कलेवर बढ़ने का यह भी एक कारण है।

"धर्मसंग्रह" में कुल चार अधिकार हैं—(१) सामान्य गृहि-धर्म (२) विशेष गृहिधर्म (३) सापेक्ष यतिधर्म (४) निरपेक्ष यतिधर्म। "धर्मसंग्रह" के इन चार अधिकारों में से अन्तिम अधिकार केवल १३ पेजों में पूरा हुआ है, यह अधिकार यदि तीसरे अधिकार के अन्तर्गत कर दिया जाता तो विशेष उचित होता।

उपाध्यायजी ने विस्तार का लोभ न कर विषयों का निरूपण करते समय ग्रन्थ को सुगम बनाने का ध्यान रखा होता तो पढ़ने वालों के लिए विशेष उपयोगी होता, आज इसका एक भी अन्तर्गत विषय ऐसा नहीं है जो इसके पढ़ने वालों को इस ग्रन्थ के आधार से समझकर उसे क्रियान्वित कर सके, उदाहरण स्वरूप "संस्तारक पौरुषी" को ही लीजिये। इनके समय में संथारा पौरुषी का क्या स्वरूप था, इसको कोई जानना चाहे तो जान नहीं सकता। इसी प्रकार अधिकांश बातें विस्तार के आटोप के अंधकार में आवृत हो गई हैं, जो सामान्य पढ़ने वाला चिन्तित सफल कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

ग्रन्थ में उपाध्याय श्री यशोविजयजी के परिष्कार कहीं-कहीं दिये गए हैं। इन परिष्कारों की इसके अन्तर्गत करने की आवश्यकता थी ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा एक भी परिष्कार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ कि जिसके न देने पर ग्रन्थ का वह स्थल अशुद्ध अथवा तो अस्पष्ट रहता, न्यायाचार्यजी के संशोधन के उपरान्त भी ग्रन्थ के कोई-कोई शब्द जो खास परिभाषिक हैं उनका अर्थ यथार्थ नही हुआ, यह दुःख का विषय है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने मैत्र्यादि चार भावनाओं का जो अपने परिष्कार में अर्थ किया है, वह हमारी राय में वास्तविक नहीं है, क्योंकि मैत्र्यादि भावना-चतुष्टय मूल में जैनों के घर की चीजें नहीं हैं, किन्तु ये चारों भावनाएँ परिव्राजकों और बौद्धों के घर की थाती हैं, आचार्य श्री

हरिभद्रसूरिजी के समय में इन भावनाओं की तरफ लोकमानस अधिक झुका था, इसलिए पूज्य हरिभद्रसूरिजी ने भी इन भावनाओं की व्यवस्था जैन सिद्धान्त के अनुरूप करके अपने ग्रन्थों में स्थान दिया। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि आदि पिछले लेखकों ने भी अपने ग्रन्थों में इन भावनाओं की चर्चा की है, परन्तु श्री यशोविजयजी महाराज ने इन भावनाओं की व्याख्या की है, वह किसी ग्रन्थ से मेल नहीं खाती, उदाहरण स्वरूप आचार्य श्री हेमचन्द्र मैत्री-भावना की व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं:—

"मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा, मति-र्मैत्री निगद्यते।"

अर्थात्:—कोई भी पाप न करे, कोई भी दुःखी न हो, सारा जगत कर्मों से मुक्त हो, इस प्रकार की बुद्धि को "मैत्री भावना" कहते हैं।

अब उपाध्यायजी की मैत्री भावना की भी व्याख्या पढ़िये:
"तत्र समस्तसत्वविषयः स्नेहपरिणामो मैत्री"

अर्थात्:—"उन भावनाओं में मैत्री भावना का लक्षण है:
तमाम प्राणीविषयक स्नेह-परिणाम।"

पाठक गण देखेंगे कि श्री हेमचन्द्राचार्य कृत मैत्री की व्याख्या में और उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराज कृत मैत्री की व्याख्या में दिन रात जितना अन्तर है। उपाध्यायजी मैत्री भावना को "स्नेह" रूप बताते हैं, जो जैन सिद्धान्त से मेल नहीं खाता, इसी प्रकार दूसरी भावनाओं के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

विशेष गृही धर्माधिकार के अन्त में ग्रन्थकार ने "जिन बिम्बप्रतिष्ठा का प्रकरण" दिया है, उसकी समाप्ति में जो मंगल गाथाएँ दी हैं वहां भी उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने "सिद्धाण पइट्ठा" इस पर अपना संशोधन कर "पइट्ठा" के स्थान पर "नसिद्धा" यह शब्द रखा है जो ठीक नहीं, प्रत्येक "प्रतिष्ठा-कल्प" में प्रतिष्ठा के अन्त में किये जाने वाले "मंगल

घोष" में "पइट्ठा" अगर "पतिट्ठा" शब्द ही आते हैं, "पसिद्धा" नहीं, उपाध्यायजी महाराज के दिमाग में कुछ ऐसी बातें जंच गई हैं कि सिद्ध आदि की प्रतिष्ठा शाश्वत है, जिसकी उपमा अशाश्वत प्रतिष्ठा को नहीं दी जा सकती, परन्तु उपाध्यायजी का उक्त संशोधन वास्तव में संशोधन नहीं बल्कि "शुद्ध को" "अशुद्ध करने वाला पाठ" है "पादलिप्त प्रतिष्ठापद्धति" "प्रतिष्ठापंचाशक" जैसे प्राचीन प्रतिष्ठा-विधान ग्रन्थों में भी सिद्ध, मेरु पर्वत, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि शाश्वत पदार्थों की स्थिति को भी प्रतिष्ठाही कहा है, यहां पर प्रतिष्ठा का अर्थ स्थापन करना नहीं पर "स्थिति" ऐसा मानना चाहिए। श्रीमान् उपाध्यायजी महाराज प्रतिष्ठा का परिचय जानते होते तो यह शुद्धि के नाम से अशुद्धि का प्रक्षेप नहीं करते।

उपाध्याय मानविजयजी ने "धर्मसंग्रह" में सैद्धान्तिक निरूपणों के साथ कई स्थानों पर तो अपने समय की अनेक बातों का वर्णन किया है, जिनकी सैद्धान्तिक बातों के साथ सङ्गति नहीं होती। आपके इस प्रकार के निरूपणों से "धर्मसंग्रह" न सैद्धान्तिक ग्रन्थ कहा जा सकता है न मामाचारी और न औपदेशिक। आपने स्थान-स्थान पर भाष्यों, चूर्णियों और मूल सूत्रों के अवतरण देकर अपने ग्रन्थ को सैद्धान्तिक बनाने की चेष्टा की है, परन्तु आपकी उपदेशप्रियता के कारण ग्रन्थ कोरा सैद्धान्तिक न रहकर सिद्धान्त, उपदेश और सामाचारी की बातों का संग्रह बन गया है। कुछ भी हो परन्तु उपाध्याय मानविजयजी के इस ग्रन्थ निर्माण सम्बन्धी परिश्रम की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, यद्यपि कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दों का अर्थ करने में आप सफल नहीं हुए, फिर भी कार्य की गुरुता देखते ऐसी बातों पर अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है।

ग्रन्थकर्ता-उपाध्याय मानविजयजी

उपाध्याय मानविजयजी ने ग्रन्थ के अन्त में एक बड़ी प्रशस्ति दी है, जिसमें अपनी-आचार्य परम्परा तथा गुरुपरम्परा का वर्णन किया है, आपकी आचार्यपरम्परा आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी से प्रथक् होती है, विजयसेन सूरिजी के पट्टपर विजयतिलकसूरि, तिलकसूरि के पट्टपर विजय आनन्दसूरि और आनन्द सूरि

पट्टपर विजयराजसूरि विद्यमान थे, तब विक्रम सं० १७३१ की साल में "धर्मसंग्रह" को समाप्त किया था। आपने अपनी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार की बताई है—श्री विजयानन्दसूरि के विद्वान शिष्य शान्तिविजयजी हुए, जो बड़े विद्वान् विनीत और अपने गच्छ की व्यवस्था करने वाले थे, उन शान्तिविजयजी के शिष्य उपाध्याय मानविजयजी ने "धर्मसंग्रह" ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमें जो कुछ भूल रही हो उसे सुधारने की ग्रन्थकार की विद्वानों को प्रार्थना है।

卐 卐

: १६ :

उपदेश-प्रासाद

❖

श्री लक्ष्मी-सूरि

उपदेशप्रासाद अपने नाम के अनुसार औपदेशिक ग्रन्थ है। इसके कर्ता आचार्य श्री विजयलक्ष्मी सूरिजी आनन्दसूरीय परम्परा के उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के आचार्य हैं, इन्होंने अपना यह ग्रन्थ वि० सं० १८४३ के कार्तिक शुक्ला पंचमी को खंभात में समाप्त किया है। कर्ता के कथनानुसार अपने शिष्य प्रेमविजयजी के लिए इसे रचा है। सचमुच यह ग्रन्थ लेखक के कथनानुसार सामान्य साधुओं के लिए ही उपयोगी हो सकता है। विद्वान् वाचकों के लिए इसका विशेष उपयोग नहीं हो सकता, इसकी रचना भी शिथिल और व्याकरण के दोषों से रहित नही है। विषय के निरूपण में भी अनेक पुनरुक्तियां हुई हैं। कर्त्ता ने ग्रन्थ का नाम "प्रासाद" और उसके अध्यायों का नाम "स्तम्भ" रखा है। प्रत्येक स्तम्भ के पन्द्रह पन्द्रह व्याख्यानों को स्तम्भ की "अस्रियां" होना लिखा है, इस कथन से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि ग्रन्थ कर्त्ता श्री विजयलक्ष्मी सूरि शिल्प-शास्त्र का एकड़ा तक नहीं जानते थे। अगर ऐसा न होता तो प्रत्येक स्तम्भ की पंचदश अस्रियां नहीं बताते, क्योंकि प्रासाद के स्तम्भ चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्र और वृत्त होते हैं, विषम अस्रिवाला कोई स्तम्भ नहीं होता।

उपदेशप्रासाद ग्रन्थ का आधार जैन शास्त्र में प्रचलित कथाएँ हैं। पूर्वार्ध में विशेषतः गृहस्थोपयोगी बातें हैं—जैसे कि सम्यक्त्व, द्वादश व्रत, उन प्रत्येक के साथ दृष्टान्त हैं। उत्तरार्ध में कुछ साधु-धर्म की भी चर्चा की है। गृहस्थों के योग्य प्रायश्चित्तादि बातें दी हैं। अन्त में ग्रन्थकार ने ही "हीर सौभाग्य" के अन्त की गुर्वावली और दूसरी गुर्वावलियों के

श्लोकों से दो व्याख्यान पूरे किये हैं। भिन्न भिन्न ग्रन्थों के श्लोक तथा पंक्तियां उद्धृत करके आचार्य श्री हीर सूरि का परिचय देने में एक व्याख्यान पूरा किया है। अन्त में अपनी संक्षिप्त प्रशस्ति दी है और "प्रासाद" का विशेष परिचय देने में एक अन्तिम व्याख्यान और पूरा किया है। इस प्रकार कुल व्याख्यानों की संख्या ३६१ दी है, जब कि आप प्रत्येक व्याख्यान की समाप्ति में "इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशसंग्रहाख्यायां उपदेशप्रासाद-ग्रन्थ वृत्तौ" इस प्रकार की पुष्पिकाओं में "अब्द परिमित दिन" शब्द का उल्लेख करते हैं, इससे जाना जाता है—इनका आशय प्रकर्म संवत्सर दिन परिमित व्याख्यान रचने का है। इस परिस्थिति में व्याख्यानों की संख्या ३६१ की बताना असंगत प्रतीत होता है।

卐 卐

: १७ :

कृत्रिम कृतियाँ

यों तो सभी ग्रंथ किसी न किसी द्वारा निर्मित होने से कृत्रिम ही होते हैं, परन्तु यहाँ कृत्रिम शब्द का अर्थ कुछ और है। कोई ग्रंथ-सन्दर्भ बनाकर किसी प्रसिद्ध विद्वान् के नाम पर चढ़ा देना अथवा अन्य की कृति को अपने नाम से प्रसिद्ध करना उसका नाम हमने "कृत्रिम कृति" रखा है। इसके अतिरिक्त जिस पर कर्ता का नाम नहीं और उसका विषय कल्पित है अथवा आपत्तिजनक है, वह भी हमारी राय में "कृत्रिम कृति" ही है। इस प्रकार की "कृत्रिम-कृतियाँ" आज तक हमारी दृष्टि में अनेक आई हैं, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) महानिशीथ :

कृत्रिम कृतियों में विशेष ध्यान देने योग्य वर्तमान "महानिशीथ-सूत्र" है। यद्यपि "नन्दी-सूत्र" तथा "पाक्षिक-सूत्र" में महानिशीथ का नामोल्लेख मिलता है, तथापि "नन्दी-सूत्र" के निर्माण काल में मौलिक "महानिशीथ" विद्यमान होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। "नन्दि-सूत्र" में अन्य भी अनेक सूत्रों, अध्ययनों के नाम लिखे गए हैं, जो "नन्दि-सूत्र" के रचना समय के पहले ही विच्छेद हो चुके थे। विद्यमान "महानिशीथ" विक्रम की नवम शताब्दी में चैत्यवासियों द्वारा निर्मित नया सूत्र सन्दर्भ है। इसका विषय बहुधा जैन आगमों से विरुद्ध पड़ता है। हमने इसे तीन बार पढ़ा है और दो बार इसका नोट भी लिया है। ज्यों ज्यों इसके विषय की विचारणा की गहराई में उतरे त्यों त्यों इसकी कृत्रिमता हमारे

सामने मूर्तिमती हो गई। इसका विशेष विवरण प्रमाणों के साथ एक स्वतन्त्र लेख में दिया है। पाठक "महानिशीथ की परीक्षा" प्रबन्ध पढ़ें।

(२) संबोध-प्रकरण :

"संबोध-प्रकरण" एक संग्रह ग्रन्थ है। यह प्रकरण हरिभद्र सूरि कृत माना जाता है। इसका सम्पादन प्रकाशन करने वालों ने भी इसे हरिभद्र सूरि की कृति माना है, पर वास्तव में यह बात नहीं है। "संबोध-प्रकरण" प्राचीन मध्यकालीन तथा अर्वाचीन अनेक ग्रन्थों की गाथाओं का एक "बृहत्संग्रह" है। संग्रहकार ने अनेक गाथाएँ तो दो दो बार लिखकर ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाया है। "धर्मरत्न, चैत्यवन्दन महाभाष्य" आदि मध्य-कालीन ग्रन्थों की गाथाओं की इसमें खासी भरमार है। अर्वाचीनत्व की दृष्टि से लुंकामत की उत्पत्ति के बाद की अर्थात् विक्रम की सोलहवीं शती तक की गाथायें इसमें उपलब्ध होती हैं। इन बातों के सोचने से इतना तो निश्चय हो जाता है कि इस कृति से श्री हरिभद्र सूरिजी का कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि इसके पिछले भाग में दिए गए एक दो छोटे प्रकरणों में आचार्य हरिभद्र का सूचक "भवविरह" शब्द प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ये प्रकरण भी हारिभद्रीय होने में शंका है। क्योंकि इन प्रकरणों का स्वतन्त्र अस्तित्त्व कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, तब इस संग्रह में इनका होना कैसे संभवित हो सकता है? हरिभद्र सूरि ने अन्यत्र जो आलोचना विधान का निरूपण किया है, उससे उक्त प्रकरणों का मेल नहीं मिलता। अतः कहना चाहिए कि संग्राहक ने ही "भव विरह" शब्दों का प्रक्षेप करके सारे संग्रह-ग्रन्थ को "हारिभद्रीय" ठहराने की चेष्टा की है। अन्तिम पुष्पिका में "याकिनी महत्तराशिष्या मनोहरीया के पठनार्थ इस ग्रन्थ को आचार्य हरिभद्र सूरि ने बनाया" यह पंक्ति जो लिखी है, इससे भी यही प्रमाणित होता है कि "संबोध-प्रकरण" हरिभद्र सूरि की कृति नहीं है। हमारे अनुमान से यह कृत्रिम कृति किसी खरतर गच्छीय विद्वान् की हो तो आश्चर्य नहीं।

(३) श्री शत्रुञ्जय-माहात्म्य :

वर्तमान "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" के उपोद्‌घात में राजगच्छ-विभूषण श्री धनेश्वर सूरि के मुख से कहलाया है कि "वल्लभी के राजा शिलादित्य के आग्रह से आचार्य धनेश्वर सूरि ने पूर्व ग्रन्थ के आधार से विक्रम सं० ४७७ में इस संक्षिप्त "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" की रचना की।

"शत्रुञ्जय-माहात्म्य" के उपर्युक्त कथनों पर हमें कुछ विचार करना पड़ेगा। प्रथम तो विक्रम संवत् ४७७ में राजगच्छ का अस्तित्व होने में कोई प्रमाण नहीं है, दूसरा उस समय में धनेश्वर सूरि नामक आचार्य हुए थे ऐसा किसीं भी ग्रन्थान्तर से प्रमाणित नहीं होता। इस दशा में "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" के उक्त कथनों पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है ? इस बात का निर्णय पाठक स्वयं करलें, इसके अतिरिक्त उस समय में शीलादित्य के जैन होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता। वल्लभी के उपलब्ध ताम्रपत्रों और शिलालेखों के पढ़ने से वल्लभी के शासक कुल तीन शीलादित्यों का पता चलता है, जो सभी जैनेतर धर्मों के अनुयायी थे। इस दशा में शीलादित्य के अनुरोध से धनेश्वर सूरि द्वारा "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" की रचना होने की बात कहाँ तक ठीक हो सकती है, इस बात पर भी पाठक-गण विचार करेंगे तो असलियत समझ में आजाएगी।

प्रस्तुत "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" में इसके उद्धार करने वालों की नामावलि दी गई है, जिसमें अन्तिम नाम "समराशाह" का मिलता है। समराशाह का सत्ता समय विक्रम की १४वीं शताब्दी है, तब विक्रम की पाँचवी शताब्दी के माने जाने वाले धनेश्वर सूरि की कृति "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" में यह नाम आना इस ग्रन्थ की नवीनता प्रमाणित करता है या नहीं, इस बात पर भी विचारक सोचेंगे तो समस्या पर अवश्य प्रकाश पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक आन्तर प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जिनसे पर्याप्त रूप में यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रस्तुत "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" किसी चैत्यवासी विद्वान् की कृति है, जो शिथिलाचारी श्रमणों की तरफदारी करके उनके पालन-पोषण का समर्थन करता है। यदि यह कृति किसी सुविहित आचार्य की होती तो इसमें लिंगावशेष यतियों का इतना पक्षपात नहीं किया जाता।

(४) व्यवहार-चूलिका :

उक्त नाम की एक लघु कृत्रिम कृति भी हमारे समाज में अस्तित्व धराती है। "उपदेश-प्रासाद" नामक अर्वाचीन ग्रन्थ के एक व्याख्यान में यह चूलिका उपलब्ध होती है, जिसमें देवद्रव्यादि भोगने वालों की चर्चा है। दूसरी भी अनेक वर्तमान प्रवृत्तियों का इसमें उल्लेख मिलता है। मालूम होता है कि बारहवीं शती में प्रकट होने वाले नवीन गच्छों के प्रवर्तकों में से किसी ने चूलिका का निर्माण करके चैत्यवासियों को नीचा दिखाने की चेष्टा की है।

(५) वंग-चूलिया :

हमारे शास्त्रभण्डारों में "वंग-चूलिया" नामक एक अध्ययन उपलब्ध होता है। "वंग-चूलिया" की गणना सूत्रों में की जाती है, परन्तु प्राचीन हस्तलिखित पोथियों में "वग-चूलिया" दृष्टिगोचर नहीं होती। इतना ही नही किन्तु विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक की प्राचीन किसी भी ग्रन्थ-सूची में इसका नामोल्लेख तक नहीं मिलता। न १७वीं शताब्दी तक के किसी ग्रन्थ प्रकरण में इसके अस्तित्व का प्रमाण ही मिलता है।

"वंग-चूलिया" का दूसरा नाम "सुयहीलुप्पत्ति-अज्झयण" लिखा गया है। इसमें बाईस समुदाय के आदि पुरुषों की कल्पित उत्पत्ति का वर्णन चतुर्दश पूर्वधर यशोभद्र सूरि द्वारा भद्रबाहु के शिष्य अग्निदत्त के सामने कराया गया है। वास्तव में "वंग-चूलिया" यह नाम ही कल्पित है। "नन्दी-सूत्र" में दी गई आगमों की नामावली में "अंग-चूलिया, वग्ग-चूलिया, विवाह-चूलिया" इत्यादि अध्ययनों के नाम मिलते हैं, परन्तु "वंग-चूलिया" अथवा "वंक-चूलिका" यह नाम कहीं भी नहीं मिलता। मालूम होता है कि विक्रमीय सत्रहवीं शती के अन्त में लुंकागच्छ के जिन बाईस साधुओं ने मुंहपत्ति बांधी और मलीन वस्त्र धारण-द्वारा लुंकागच्छ का पुनरुद्धार किया था, उन्हीं क्रियोद्धारक बाईस पुरुषों को लक्ष्य में रखकर यह कल्पित अध्ययन किसी जैन विद्वान् द्वारा रचा गया है। इसमें

लिखी हुई बातों का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल मूर्तिपूजा के विरोधियों को नीचा दिखाने की नियत से ही यह अध्ययन गढ़ा गया है।

(६) आगम-अष्टोत्तरी :

यह एक सौ आठ संग्रहीत गाथाओं का सन्दर्भ है। संग्रहकार ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों की गाथाओं द्वारा अपने मन्तव्य का समर्थन किया है और इसका कर्ता नवांग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरिजी को बताया है। वास्तव में इस संग्रह के कर्ता कोई अज्ञात विद्वान् हैं। अपने मन्तव्य को प्रामाणिक ठहराने के लिए उसके साथ अन्य प्रामाणिक आचार्य का नाम जोड़ देना ठीक नहीं।

(७) प्रश्न-व्याकरण :

जैन-सम्प्रदायमान्य वर्तमान एकादशांग सूत्रों में दशवां नम्बर "प्रश्न-व्याकरण" का है।

"प्रश्न-व्याकरण" में "समवायांग सूत्र" के कथनानुसार अष्टोत्तर शत पृष्ट व्याकरण, अष्टोत्तर शत अपृष्ट व्याकरण और अष्टोत्तर शत पृष्टापृष्ट व्याकरण पूर्वकाल में वर्णित थे। इसके अतिरिक्त दर्पण (अद्दाग) प्रश्न, अंगुष्ठ प्रश्न, असि प्रश्न, मणि प्रश्न आदि अनेक प्रश्न विषयक ज्ञान और उनके अधिष्ठायक देवताओं का निरूपण था। उनके द्वारा त्रिकालवर्ती बातों का पता लगाया जाता था, परन्तु ये सब भूतकाल की बातें हैं। आज के "प्रश्न-व्याकरण" में पांच आस्रवों और पांच संवरों का निरूपण है। इसकी भाषा भी परिमार्जित और काव्यशैली की है। इससे ज्ञात होता है कि "प्रश्न-व्याकरण" का यह परिवर्तन बहुत प्राचीन है। सम्भवतः यह परिवर्तन अन्तिम पुस्तकारूढ़ होने के पहले का है।"

प्राचीन चूर्णिकार इसके मूल विषय का निरूपण करने के बाद कहते हैं—

"प्रश्न-व्याकरण में पहले इस प्रकार का विषय था, परन्तु काल तथा मनुष्य स्वभाव का विचार कर पूर्वाचार्यों ने उक्त विषय को हटाकर

उसके स्थान पर वर्तमान "आस्रवसंवरात्मक" विषय को कायम करके दसवें अंग का अस्तित्व कायम रखा।"

संस्कृत-टीकाकार आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी भी उक्त बात का ही संकेत करते हैं। इससे इतना जाना जा सकता है कि "प्रश्नविद्यामय" प्रश्न-व्याकरण सूत्र नष्ट नहीं हुआ, किन्तु गीतार्थ आचार्यों ने इसका विषय बदल दिया है, जिससे कि भविष्य काल में इससे कोई हानि न होने पावे।

(८) **गच्छाचार-पइन्नय :**

विक्रम की चौदहवीं अथवा पन्द्रहवीं शताब्दी में किसी सुविहित आचार्य ने महानिशीथ, कल्प भाष्य, व्यवहार भाष्य आदि की गाथाओं का संग्रह करके "गच्छाचार पयन्ना" नामक पइन्नय का सर्जन किया है। इस पइन्नय का निर्माण उस समय के प्राचीन गच्छों में चलते हुए शिथिलाचार और अनागमिकता का खण्डन करना है। इसमें संग्रहीत भाष्यों की गाथाओं के सम्बन्ध में तो कुछ कहना नहीं है, परन्तु "महानिशीथ" से उद्धृत गाथाओं का अधिकांश वर्णन अतिरंजित है। कई बातें तो आगमोत्तीर्ण भी दृष्टिगोचर होती हैं। यह सब होते हुए भी यह "पइन्नय" तत्कालीन साधुओं में शैथिल्य किस हद तक पहुंच गया था, इस बात को जानने के लिए एक उपयुक्त साधन है।

तपागच्छ के आचार्य श्री हेमविमल सूरिजी के शिष्य विजयविमल ने जो "वानर्षि" नाम से भी प्रसिद्ध थे, "गच्छाचार पयन्ना" पर एक साधारण टीका बनाई है, इससे भी ज्ञात होता है कि "गच्छाचार पइन्नय" विक्रम की १४वीं १५वीं शती के लगभग की कृति होनी चाहिए, पहले की नहीं।

(९) **विवाह-चूलिया :**

मूर्ति मानने वाले विद्वानों ने मूर्ति नहीं मानने वाले लुंकागच्छ के साधुओं के विरुद्ध "वंग-चूलिया" अध्ययन की रचना की, तब किसी स्थानकवासी साधु ने "विवाह-चूलिया" का निर्माण कर "वंग-चूलिया"

का उत्तर दिया। "विवाह-चूलिया" में चैत्य मानने वाले तथा उपधानादि तपोविधान कराने वाले साधुओं का खण्डन किया है। "विवाह-चूलिया" हिन्दी भाषान्तर के साथ छपकर प्रकाशित हुए कोई पचास वर्ष हुए होंगे, फिर भी स्थानकवासी जैनों ने इसका सार्वत्रिक प्रचार नहीं किया, पर इनके घरों तथा पुस्तकालयों तक ही "विवाह-चूलिया" पहुंची है। यही कारण है कि हमारे सम्प्रदाय के विद्वानों तथा लेखकों को उक्त चूलिका प्राप्त न हो सकी।

(१०) धर्म-परीक्षा :

"धर्म-परीक्षा" नामक दो ग्रन्थ हमने पढ़े हैं, जो पौराणिक बातों के खण्डन में लिखे गए हैं। पहली "धर्म-परीक्षा" के लेखक हैं दिगम्बराचार्य "अमितगति" जो विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे। अब रही दूसरी "धर्मपरीक्षा", इसके कर्ता प्रसिद्ध उपाध्याय धर्मसागरजी के शिष्य श्री पद्मसागर गणी थे। श्री अमितगति की "धर्म-परीक्षा" का परिमाण १४०० श्लोक के आसपास है, तब पद्मसागरीय "धर्म-परीक्षा" का श्लोक परिमाण १२०० के आसपास है। दोनों ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। हमने दोनों "धर्म-परीक्षाएँ" पढ़ी हैं और सावधानी से अन्वेषण करने पर मालूम हुआ है कि पद्मसागर गणी की "धर्म-परीक्षा" अमितगति आचार्य की "धर्म-परीक्षा" का ही संक्षिप्त रूप है। आदि अन्त के तथा ग्रन्थ भर में से भिन्न-भिन्न श्लोकों को निकाल कर गणीजी ने अमितगति आचार्य की कृति को ही अपने नाम पर चढ़ा दिया है। इतना करने पर भी वे इस कृति का दिगम्बरीयत्त्व नहीं मिटा सके, यह आश्चर्य की बात है। पाँच पाण्डवों की द्विविध-गति, जिनदेव के निवृत्त अष्टादश दोषों में "क्षुद् अभाव" रूप दोष आदि दिगम्बर सम्प्रदाय सम्मत अनेक बातें आज भी इस पद्मसागर की कृत्रिम कृति में दृष्टिगोचर होती हैं।" इस प्रकार पद्मसागरजी ने "परस्य काव्यं स्वमिति ब्रुवाणो विज्ञायते ज्ञैरिह काव्यचौरः" इस साहित्यिक उक्ति के अनुसार साहित्यिक चौर्य का अपराध किया है, इसमें कोई शंका नहीं।

(११) प्रश्न-पद्धति :

"प्रश्न-पद्धति" नामक एक छोटा ग्रन्थ मुद्रित होकर कुछ वर्षों पहले प्रकाशित हुआ है। इसका कर्ता "हरिश्चन्द्र गणी" को टाइटल पेज पर बताया है। ग्रन्थ के भीतर लेखक अपने आपको "नवाङ्ग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरिजी का शिष्य बताता है।" "भगवती" आदि सूत्रों के नाम लेकर वह लिखता है—"मेरे गुरु भगवती सूत्र की टीका में यह कहते हैं" एक जगह ही नहीं अनेक स्थानों पर इन्होंने अपने को अभयदेव सूरि का शिष्य होने की सूचना की है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस पद्धति को पढ़ने पर हमें निश्चय हुआ कि इस पद्धति का लेखक विक्रम की १५वीं शती से पहले का व्यक्ति नहीं है। अमुक व्यक्तियों के नामोल्लेख किये हैं। उनके नामों के साथ जो गोत्र लिखे हैं, वे १५वीं सदी के पूर्व के नहीं हो सकते। लेखक किस गच्छ का है, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। फिर भी भगवान् महावीर के गर्भापहार के सम्बन्ध में अपना जो अभिप्राय व्यक्त किया है, उससे इतना निश्चित कहा जा सकता है कि "प्रश्नपद्धतिकार खरतरगच्छीय" नहीं था। "पद्धति" में अनेक प्रश्नों के उत्तर "अनागमिक" होने से जाना जाता है कि लेखक योग्य विद्वान् नहीं था और न "प्रश्न-पद्धति" ही प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने वालों ने कोई उपयोगी कार्य नहीं किया है, ऐसी हमारी मान्यता है।

(१२) पूजा-प्रकीर्णक (पूजा पइन्नय) :

एक शहर के पुस्तक भण्डार में रहा हुआ "पूया पइन्नय" नामक प्राकृत गाथाबद्ध प्रकरण हमने देखा। उसमें लिखा गया है कि संवत् १६२ के ज्येष्ठ शुक्ला ५ वार शुक्र को राजा चन्द्रगुप्त ने प्रतिष्ठा करवाई। इस जाली लेख से हमारा कुतूहल बढ़ा और प्रकरण की सब गाथाएँ पढ़ लीं। "प्रकीर्णक" की प्राकृत भाषा क्या है, प्राकृत पदों को खींचतान कर गाथाओं का रूप दिया है। महाकवि बाणभट्ट की "हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता" इस उक्ति को चरितार्थ किया है।

पूजा के प्रसंग पर लेखक ने जाई, जूही, चमेली, गुलाब आदि वर्तमान कालीन पुष्पों की एक बड़ी सी नामावलि लिख दी है। "प्रतिष्ठा विधि" के साथ "वार" शब्द का प्रयोग, पुष्पावलि में "गुलाब" आदि नामों का प्रयोग इत्यादि बहुत सी बातों को देखकर हमारे हृदय में यही निर्णय हुआ, कि किसी साधारण पढ़े लिखे आदमी ने इन शब्दों का सन्दर्भ बना दिया है, जिसमें विद्वत्ता का तो अभाव है ही, साथ में ऐतिहासिक ज्ञान का भी लेखक ने अपने ही शब्दों से अभाव सूचित कर दिया है। इस "पइन्नय" के सम्बन्ध में हमारा निश्चित मत है कि किसी बीसवीं शती के व्यक्ति ने इस "पइन्नय" द्वारा मूर्ति-पूजा विरोधियों को मूर्ति-पूजा मनाने की चेष्टा की है, जो सफल नहीं हुई ।

(१३) वन्दन-प्रकीर्णक (वन्दरण-पइन्नय) :

"वन्दन पइन्नय" भी कतिपय प्राकृत गाथाओं का सन्दर्भ है। इसके लेखक ने इसको भद्रबाहु स्वामी की कृति बताया है, पर वास्तव में "पूजा-पइन्नय" और "वन्दरण-पइन्नय" ये दोनों एक ही लेखक के सन्दर्भ है, ऐसा इनके निरूपण से प्रतीत होता है। "देववन्दरण पइन्नय" में लेखक ने देव वन्दन की विधि का निरूपण किया है, इसमें से चतुर्थ स्तुति का प्रसंग हटा दिया है। इससे ज्ञात होता है कि यह "पइन्नय" किसी "त्रिस्तुतिक" लेखक की कृति होना चाहिए ।

"पइन्नय" की भाषा बिल्कुल लचर और खींचतान कर जोड़े हुए पदों का भान कराती है। वास्तव में यह "पयन्ना" तथा इसके पहले का "पूयापयन्ना" ये दोनों बीसवीं शताब्दी की कृतियां हैं, जिन्हें प्राचीन ठहराने की गरज से श्रुतधर श्री भद्रबाहु स्वामी के नाम पर चढ़ाकर लेखक ने उनका अपमान किया है।

(१४) जिनप्रतिमाधिकार २ :

"जिनप्रतिमाधिकार" नामक दो ग्रन्थ हमारे शास्त्रसंग्रह में संग्रहीत हैं। दोनों हस्तलिखित हैं। एक का पोथी नं० ३१० हैं और दूसरे का

नं० ३११ । इनमें से पहले प्रतिमाधिकार के पत्र १६५ हैं तब दूसरे के पत्र १५५ हैं। पहले ग्रन्थ की श्लोक संख्या १२००० से भी अधिक है, तब दूसरे प्रतिमाधिकार की श्लोक संख्या ७००० के आसपास है। पहले ग्रन्थ की प्रति विक्रम संवत् १५८७ में लिखी हुई प्राचीन प्रति के ऊपर से हमने सं० १९९४ में लिखवायी है, तब दूसरे प्रतिमाधिकार की प्रति पूज्य पन्यासजी महाराज श्री सिद्धिविजयजी (आचार्य विजयसिद्धि सूरिजी महाराज) द्वारा जोधपुर के एक यतिजी के भंडार की प्रति के ऊपर से सं० १९६५ में एक संत द्वारा लिखवायी हुई है।

पहले प्रतिमाधिकार में ५७१ कुल अधिकार हैं, जो सब के सब जिन प्रतिमापूजा से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रतिमाधिकार का लेखक कोई पश्चात्-कृत जैन श्रावक था, जो निम्नलिखित श्लोक से जाना जाता है—

"पश्चात् कृतं द्रव्यलिंगं, रामेण हि धर्मार्थिना ।
तेनोद्धृतमिदं शास्त्रं, सर्वज्ञोक्तं निरन्तरम् ॥१॥"

इस श्लोक में लेखक ने स्वयं अपने को पश्चात्कृत कहा है और अपना नाम 'राम' बताया है। खम्भात की प्रति हमने स्वयं देखी है। इसके अन्त में लेखक की पुष्पिका निम्न प्रकार से है—

"श्री संवत् १५८७ वर्षे अद्येह श्रीस्तम्भतीर्थ श्रीउसवंसीय सोनीं सोमकरी, सो 'सललित' सो सिघराज लिखापितं। लोकानां भव्यानां बोधिलाभाय। शोध्यं तदेतद्बुधैः ॥"

ऊपर की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की प्रथम प्रति कर्त्ता श्री राम ने स्वयं लिखाई है, इसीलिए विद्वानों को इसके संशोधन की प्रार्थना की गई है।

प्रथम प्रतिमाधिकार मूर्ति-पूजा की सिद्धि में लिखा गया है। अतः इसकी चर्चा फिर कभी की जायगी।

द्वितीय प्रतिमाधिकार का विषय भी मुख्यतः मूर्ति-पूजा सम्बन्धी ही है, फिर भी इसमें उसके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों की चर्चा की गई है। इस प्रतिमाधिकार के लेखक ने अपना नाम कहीं भी सूचित नहीं किया है और इसमें दिये हुए सूत्र पाठ भी कई कल्पित मालूम हुए हैं। इस कारण से हम पहिले द्वितीय प्रतिमाधिकार के सम्बन्ध में ही कुछ लिखना उचित समझते हैं।

प्रतिमाधिकार नं० २ के लेखक ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी अपना नाम निर्देश नहीं किया। फिर भी इसके पढ़ने से इतना निश्चित हो सकता है कि यह सन्दर्भ वि० की १७वीं शती के पूर्व का नहीं है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम "जिनप्रतिमाधिकार" है, फिर भी इसमें अनेक बातों की चर्चा की है और उन्हें प्रमाणित करने के लिए अनेक सूत्र-ग्रन्थों के पाठ दिये हैं। ग्रन्थकार ने जिन-जिन बातों की इस ग्रन्थ में चर्चा की है, उनकी सूचना ग्रन्थ के प्रारम्भ में नीचे लिखे शब्दों में दी है—

"श्रीजिनपूजा १, प्रतिमा २, प्रासाद ३, साधु-स्थापना ४, दान ५, साधर्मिक-वात्सल्य ६, पुस्तक-पूजा ७, श्री पर्युषण पर्व ८, आरात्रिक ९, मंगल प्रदीप १०, प्रतिक्रमणाद्यक्षराणि ११, श्री मूल सिद्धान्तोक्तानि लिख्यन्ते ॥"

उक्त प्रकार से ग्रन्थकार ने ग्यारह बातों को सिद्ध करने के लिए शास्त्र के पाठ लिखने की प्रतिज्ञा की है। फिर भी इन बातों के उपरान्त भी अनेक विषयों की चर्चा की है, परन्तु लेखक स्वयं एक भेदी-लेखक रहना चाहते हैं।" इसका कारण यह मालूम होता है कि इस ग्रन्थ में अनेक प्रमाण ऐसे दिये गये हैं जो बताए हुए सूत्रों में नहीं हैं। केवल कल्पित प्रमाण तैयार करके इस संग्रह में लिख दिये हैं। लिखने वाले ने किसी प्रकार से स्वयं खुल्ला न पड़ जाय इस बात की पूरी सावधानी रखी है। पढ़ने वालों को आभास यही हो कि लेखक कोई तपागच्छीय साधु है। लोगों की दृष्टि में अपनी इस होशियारी को सच्चा ठहराने के लिए अचित्त जल आदि की चर्चा में तपागच्छ के पक्षकार के रूप में खरतर-

गच्छ वालों की मान्यताओं का खण्डन किया है। अंचल-गच्छ वालों को जमालि-परम्परा में बताया है। कतिपय तपागच्छ की मान्यताओं का समर्थन भी किया है। इतनी होशियारी करने पर भी इस संग्रह के विषयों की गहराई में उतर कर वास्तव में लेखक किस गच्छ-सम्प्रदाय को मानने वाला है, इसका पता लगाया जा सकता है। प्रस्तुत संग्रहकार ने अपने संग्रह का नाम "जिनप्रतिमाधिकार" दिया है, फिर भी यह संग्रह हमारी दृष्टि में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के पाठों का संग्रह मात्र बना है, ग्रन्थ के रूप में व्यवस्थित नहीं। प्रारम्भ की पंक्तियों में लेखक ने जिन-जिन विषयों का निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है, उनमें से प्रथम विषय जिन-पूजा की चर्चा ग्रन्थ के २६में पत्र में पूरी होती है। तब साधु-स्थापना, दान स्थापना, सार्धमिक वात्सल्य स्थापना, और पर्युषणा—इन चार विषयों का थोड़ा-थोड़ा निरूपण करके इन्हें जिन-पूजा के अन्तर्गत ही कर दिया है। इतना ही नहीं बल्कि दूसरी भी पचासों बातों की चर्चा की है, जिनका प्रारम्भिक सूचन में निवेदन नहीं है। इतना ही नहीं, परन्तु प्रारम्भ में सूचित विषयों के साथ सम्बन्ध तक नहीं है, अस्तु।

अब हम प्रारम्भ में सूचित विषयों के सम्बन्ध में कुछ ऊहापोह करेंगे। लेखक ने जिन विषयों के समर्थन में सूत्रों के प्रमाण देने की प्रतिज्ञा की है, उनमें श्री जिनपूजा, जिनप्रतिमा, जिनप्रासाद, दान, सार्धमिक वात्सल्य, पुस्तक पूजा और पर्युषणा पर्व, इन सात बातों को लोंकाशाह मत के अनुयायी प्रारम्भ में नहीं मानते थे, इसलिए मुख्यतया लोंकामत के खण्डन में प्रस्तुत पाठ संग्रह किया है। १. आरात्रिक, २. मंगल प्रदीप और ३. श्रावक प्रतिक्रमण इन बातों को अंचलगच्छ वाले उस समय नहीं मानते थे, तब साधु-संस्था को न मानने वाले कडुवाशाह के अनुयायी थे। लोंका तथा कडुआ मत की स्थापना विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी, तब आंचलगच्छ जो विधि-पक्ष के नाम से भी परिचित था और विक्रम संवत् ११६९ में स्थापित हुआ था। इनके संस्थापक आचार्य आर्यरक्षित थे, कि जिनका जन्म आबु पर्वत की दक्षिण-पश्चिमीय तलहटी से लगभग आठ माइल पर अवस्थित "दतांणी" गांव

में हुआ था। आर्यरक्षितजी के अनुयायियों ने "दतांगी" का नाम "दंतागी" यह अपने लेखों में दिया है। प्रस्तुत संग्रह अंचलगच्छ, लुंका-गच्छ और कडुआगच्छ इन तीन गच्छों की मान्यता का खंडन करने वाला होने से इस ग्रन्थ का लेखक उक्त तीन सम्प्रदायों का अनुयायी नहीं है, यह निश्चित मान लेना चाहिए।

संग्रहकार ने एक स्थान पर श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराने का खंडन किया है और लिखा है कि श्रावक प्रतिष्ठा नहीं करा सकता। पौर्णमिक गच्छ वालों का मन्तव्य है कि जिन-प्रतिष्ठा द्रव्यस्तव होने के कारण साधु नहीं कर सकता; यह कर्त्तव्य श्रावक का है, परन्तु प्रस्तुत प्रतिमाधिकार में श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराने का खण्डन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि "प्रतिमाधिकार" ग्रन्थ पौर्णमीयक विद्वान् की भी कृति नहीं है। अब अब रहे तपागच्छ और खरतरगच्छ, इन दो में से किस गच्छ के अनुयायी की यह कृति होनी चाहिए। इसका निर्णय इसमें लिखे हुए विषयों की परीक्षा करने से ही हो सकता है। प्रारम्भ में लेखक ने जिन विषयों का नामोल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त अनेक बातों की चर्चा इसमे भरी पड़ी है और प्रमाण के रूप में ग्रन्थों के पाठ भी अनेक दिये हैं। इन पाठों की जांच-पड़ताल से लेखक का निर्णय होना कोई बड़ी बात नहीं है।

"जिनप्रतिमाधिकार नं० २" के पत्र ३५ में निम्न प्रकार की अंचल-गच्छ के आचार्यों की पट्टपरम्परा दी है—

"जमाल्यन्वये १२१४, आर्यरक्षित १, जयसिंह २, धर्मघोष ३, महेन्द्रसिंह ४, सिंहप्रभ ५, अजितसिंह ६, देवेन्द्रसिंह ७, धर्मप्रभ ८, सिंहतिलक ९, महेन्द्रप्रभ १०, मेरुतुंग ११, जयकीर्ति १२, जयकेसरी १३; स्तनिकगणनीया: ॥"

उक्त पट्टावली के आचार्यों को जमालि के अन्वय में लिखने के कारण अन्त में "स्तनिक गणनीया:" ये शब्द लिखने पड़े हैं, जिनका अर्थ है—इनको आंचलिक गिनना चाहिए। अन्तिम आचार्य जयकेसरी का स्वर्गवास

विक्रम संवत् १५४२ में हुआ था। इससे जाना जाता है कि यह पट्टावली श्री जयकेसरी सूरि की विद्यमानता में लिखी होगी। फिर भी इस पर हम अधिक विश्वास नहीं कर सकते, क्योंकि इसी ग्रन्थ के पत्र ६ठे में "संवत् १५८० वर्षे वैशाख वदि १३ सोमे" विना प्रसंग के इस प्रकार संवत् लिखा हुआ मिलता है और उपर्युक्त अंचलगच्छ की पट्टावली भी इसी प्रकार बिना सम्बन्ध और प्रसंग के लिखी गई है। संभवतः लेखक ने अंचलगच्छ के आचार्यों को जमालि के वंशज खिलने से अंचलगच्छ वालों का "तपा-गच्छ" वालों पर शक जायगा, क्योंकि पहले भी तपागच्छ के विद्वानों ने 'श्राद्धविधि-विनिश्चय' आदि ग्रन्थों में पौर्णमिक, आंचलिक, आगमिक, खरतर आदि गच्छों की उत्पत्ति लिखकर उनका खंडन किया है। उसी प्रकार इस संग्रह के लेखक को तपागच्छ का विद्वान् मानकर अपना रोष उगलेंगे और खरा लेखक अज्ञात ही रहेगा। परन्तु लेखक की यह होशियारी गुप्त रहने के स्थान पर प्रकट हो गयी है, क्योंकि तपागच्छ के प्राचीन विद्वानों ने अंचलगच्छ के सम्बन्ध में जहाँ कहीं लिखा है, वहाँ सर्वत्र अंचलगच्छ का प्रादुर्भाव संवत् ११६९ में ही होना लिखा है। केवल उपाध्याय धर्मसागरजी ने इसके विपरीत सं० १२१४ का उल्लेख किया है। खरतरगच्छीय ने जिस भी पट्टावली में अंचलगच्छ की उत्पत्ति लिखी है, वहाँ सर्वत्र समय १२१४ लिखा है, जो प्रस्तुत पट्टावली लिखने वालों ने लिखा है। इस परिस्थिति में प्रस्तुत "जिन-प्रतिमाधिकार" लिखने वाला व्यक्ति तपाच्छीय हो सकता हैं अथवा खरतरगच्छीय इस बात का पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

"प्रतिमाधिकार" के पत्र ३६ में कांञ्जिक आदि जल लेने न लेने की बड़े विस्तार के साथ चर्चा की है और खरतरगच्छ वाले कांञ्जिक जलादि न लेने की जो बात कहते हैं उस बात का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। उनके ग्रन्थ के शब्द नीचे दिये जाते हैं—

"ये तु श्री आगममध्यस्थानप्रोक्तकांजिकजलग्रहणेऽनंतकायविराधना-मुद्भावयंति ते आगममार्गपराङ्मुखा जिनाज्ञाविराधकाः सर्वथा साद्भ्रेरपक-र्णनीया इति, तथा केचिच्च कांजिकादिजलग्रहणाशक्तौ जिनकल्पिकानामे-

तानि पानीयानि इति प्ररूपयंति परं ते वितथप्ररूपका अश्राव्यवचनाश्च ज्ञातव्याः। दशवैकालिक-श्रीकल्पादौ स्थविरकल्पिकानां कांजिकनीरविधेः स्पष्टमेव सुतरां भणनात्।"

ऊपर का कथन तपागच्छ वालों की मान्यता को लक्ष्य में लेकर किया गया है। विक्रम की १४वीं शताब्दी में तपागच्छ और खरतरगच्छ के बीच साधुओं के ग्राह्य-पेय अचित्तजलों के सम्बन्ध में बड़ा संघर्ष चल पड़ा था। सूत्रोक्त धावन जल धीरे धीरे अदृष्ट हो गए थे। उस समय तपागच्छ के आचार्यों का उपदेश था कि शास्त्रोक्त धावन जल मिल जाये तो लेना अच्छा ही है। परन्तु आजकल इस प्रकार के प्रासुक जल प्रायः दुर्लभ हो गए हैं। अतः अचित्तभोजी श्रावक श्राविकाओं को उष्ण किया हुआ ही जल पीना चाहिए और साधुओं को भी शुद्ध उष्ण जल ही देना चाहिए। इसके सामने खरतरगच्छ वालों का कहना यह था कि पानी उबालने में छः जीवनिकाय का आरम्भ होता है। अतः साधु को इस प्रकार का उपदेश न देना चाहिए और न जैन श्रावक को अपने लिये भी जल उबालने का आरम्भ करना चाहिए। कत्थे का चूर्ण तथा त्रिफलादि का चूर्ण जल में डालने से जल अचित्त हो जाता है, तो अग्निकाय का आरम्भ कर त्रसादि छः काय की विराधना क्यों करना चाहिए? "तपोटमत-कुट्टन" प्रकरण में आचार्य जिनप्रभ सूरि ने उक्त प्रकार की युक्तियों से गर्म पानी का जोरों से खण्डन किया है।

हमारा यह कथन कोई निराधार न समझ ले इसलिए हम यहाँ नीचे "तपोटमतकुट्टन" तथा "प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत् शतक" नामक दो ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत करते हैं। "तपोटमतकुट्टन" में आचार्य जिनप्रभ सूरि लिखते हैं—

> "वर्णान्तरादिप्राप्तं सत्, प्रासुकं यत् श्रुते स्मृतम्।
> न्यवारि वारि शिशिरं, तदपि व्रतिगेहिनाम् ॥३२॥
> अप्कायमात्रहिंसोत्थं, निरस्य प्रासुकोदकम्।
> प्रारूपि गृहिणामुष्णं, वाः षटकायोपमर्दजम् ॥३३॥"

अर्थात् शास्त्र में वर्णान्तरादि प्राप्त जल को प्रासुक कहा है, परन्तु तपोटों ने व्रती तथा गृहस्थों के लिए उसका निवारण किया और अप्काय-मात्र की हिंसा से जो जल प्रासुक होता था, उसके स्थान में छः जीव-निकाय के उपमर्दन से तैयार होने वाले उष्ण जल की गृहस्थों के सामने प्ररूपणा की। आचार्य जिनप्रभ का सत्ता समय विक्रम की १४वीं शती है, परन्तु उसके सैंकड़ों वर्षों के पहले से खरतरगच्छ के उपदेशक उष्ण जल का विरोध और काथकसेलकादि से अचित्त होने वाले जल की हिमायत करते रहे हैं। देखिये श्री उ० जयसोम गणी विरचित "प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत् शतक" का निम्नलिखित पाठ—

"अम्हारइ सम्प्रदायि उन्हा पाणी ना मेल थोड़ा, गृहस्थ फासु वर्णान्तर प्राप्त पाणी सहू पीयई, अनइ यति पण अेहना अे फासूजि पाणी पीयई, एहजि ढाल छई, इम कनतां जइ यति उन्हा पाणी पीता हवई तउ अम्हारइ काजि 'अपउल दुपउल' नामइ उन्हा करीनइ गृहस्थ यतिनइ उन्हा पाणि आपतजि, परं इणजि मेलि चित्तमांहि निरवद्य उन्हा पाणि यतिनइ दोहिला जाणीनइ अम्हारिगीतार्थे जे सचित्त परिहारी गृहस्थ पीयइ तेहजि प्रासुक पाणी यतिनइ वावरिवा भणी प्रवर्तीयउ ते भणी उन्हा पाणी त्रिदण्डोत्कालित-अणसणमांहि समाधि निमित्त वर्णान्तर प्राप्तजि पाणी पाईयइजि ॥"

उपर के लेख में अनशन करने वाले साधु गृहस्थ को भी वर्णान्तर प्राप्त शीतल जल पाने की बात कही है। परन्तु अनशन किये हुए यति गृहस्थ को वर्णान्तर प्राप्त पानी पाना हमारी समझ में अच्छा नहीं होता, क्योंकि तीन उपवास के ऊपर के विकृष्ट तप करने वाले साधु को भी केवल उष्ण जल पीने की कल्प-सूत्र में आज्ञा दी है, तब अनशन करने वाले साधु गृहस्थों को वर्णान्तर प्राप्त जल पीना शास्त्रीय दृष्टि से ठीक है या नहीं; इस बात पर खरतरगच्छ के विद्वानों को अवश्य विचार करना चाहिए।

उस समय खरतरगच्छीय साधु लोग अपने अनुयायी श्रावक श्राविकाओं को कषायले पदार्थों से अचित्त पानी पीने का नियम कराते थे।

इसका परिणाम यह आया कि जहाँ खरतरगच्छ के साधु-साध्वी विचरते थे, उस मारवाड़ के प्रदेश की तरफ तपागच्छ के साधुओं को गर्म जल मिलना दुर्लभ हो गया और जल सम्बन्धी कष्ट को ध्यान में लेकर तपागच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभ सूरिजी को अपने गच्छ के साधु साध्वियों को मारवाड़ में विहार न करने की आज्ञा निकालनी पड़ी। कई वर्षों तक तपागच्छ के साधु साध्वियों का विहार मारवाड़ में नहीं हुआ। इस प्रकार की पानी सम्बन्धी परिस्थिति को ध्यान में रखकर पाठकगण उपर्युक्त फिकरा पढ़ेंगे तो सामान्य आभास यही मिलेगा कि इसका लेखक कोई तपागच्छीय व्यक्ति है, परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। लेखक तपागच्छीय न होने पर भी तपागच्छीय का रूप धारण कर अंचल, खरतर आदि गच्छों के विपरीत लिख रहा है। इसका कारण मात्र यह है कि इसमें कतिपय खरतरगच्छीय मान्यताओं को प्रामाणिक मनाने के भाव से जो कल्पित शास्त्रपाठ प्रमाण के रूप में दिये हैं वे सत्य मान लिये जाएँ। परन्तु होशियारी करते हुए भी लेखक के हृदय के उद्‌गार कहीं कहीं प्रकट हो ही जाते हैं। इस प्रासुक जल सम्बन्धी प्रकरण में ही देखिए। शर्करा द्वारा अचित्त किया हुआ जल और काथ-कसेलक इन दो पानियों के मुकाबिले में निम्न प्रकार से अपना आशय व्यक्त करते हैं—

"सितापानीयं त्वल्पसितामध्यक्षेपरणेन कल्पते किंतु बहुसितास्वादसंभवे एव तच्च जनैः पित्तोपशांतये बहुसितायोगेनैवं विधीयते अन्यथा पितोपशमनकार्याऽसिद्धेः, काथकसेल्लकादि नीरं त्वल्पचूर्णेनाऽपि क्रियते जनैः ॥ भावेन बाहुल्येन क्रियते अतो न तयोः सादृश्यं ॥"

ऊपर के फिकरे में लेखक ने शर्करा जल और काथ कसेल्लादि जलों में शर्करा जल को छोड़कर काथ कसेल्लकादि जल को सुलभ और स्वाभाविक मानकर इसको महत्त्व दिया है। परन्तु यह भावना खरतरगच्छ के अनुयायी की ही हो सकती है, तपागच्छ के अनुयायी की नहीं; क्योंकि तपागच्छ के आचार्य काथ-कसेल्लाकादि जल को प्रथम तो प्रासुक मानने में ही सशंक थे, क्योंकि काथ कसेल्लाकादि चूर्णों की अल्प मात्रा से भी जल का वर्ण बदल सकता है। परन्तु इतनी अल्प मात्रा जल को प्रासुक करने

में समर्थ हो सकती है या नहीं इस विषय में तपागच्छ के आचार्य निश्शंक नहीं थे। क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि मधुर रस वाला पदार्थ जल को देरी से अचित्त बनाता है और वह जल जल्दी सचित्त बन जाता है। इस दशा में काथ कसेल्लाकादि के जल की तरफदारी करने वाला लेखक तपागच्छ का हो सकता है या खरतरगच्छ का? इस बात का पाठकगण स्वयं निर्णय करलें।

जल के सम्बन्ध में ही लेखक आगे एक प्रश्न करके जल सम्बन्धी चर्चा को आगे बढ़ाता है—

"ननु तंडुलादिधावनं किमिति निशिर्न पीयते? उच्यते-पूर्वपरम्पराप्रामाण्यात्, न पुनरत्र जलत्वेन यथा हि खरतराणां शर्कराजलेक्षुरसौ, आंचलिकानां च तक्रं भुक्त्वोत्थितैः साध्वादिभिः प्रत्याख्यानेऽपि कारणे सति दिवा पीयते निशि न, तथा धावनमपि दिवा पीयमानमपि निशि न पीयते इति ब्रूमः, निशि हि मुख्यवृत्त्या श्राद्धानामपि चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानमेवोक्तमस्ति, यदि च जातु ते तत् कर्तुं न शक्नुवन्ति तदा तेषां पूर्वाचार्यैरेकमुष्णोदकमेवानुज्ञातं कारणे॥"

ऊपर के फिकरे में लेखक खरतर तथा अंचलगच्छ के अतिरिक्त अन्य गच्छीयपन का ढोंग कर प्रश्न करता है कि जब तुम तन्दुलादि धावन की हिमायत करते हो तो रात्रि के तिविहार-प्रत्याख्यान में तन्दुलादि धावन जल क्यों नहीं पीने देते और उष्ण जल पीने का उपदेश क्यों करते हो? इसके उत्तर में वह कहता है, इसमें पूर्वाचार्यों की परम्परा ही प्रमाण है। जिस प्रकार खरतरगच्छ में शक्कर का पानी तथा इक्षु रस और अंचलगच्छ में छाछ भोजन कर उठने के बाद साधु आदि प्रत्याख्यान में भी कारणवश दिन में पीते हैं, रात्रि में नहीं। इसी प्रकार दिन में पिया जाता तन्दुल धावन भी रात्रि में नहीं पिया जाता है। श्रावकों को भी मुख्य वृत्ति से रात्रि में चतुर्विधाहर का प्रत्याख्यान करना कहा है, फिर भी जो चतुर्विधाहार का प्रत्याख्यान कर न सके तो उसके लिए पूर्वाचार्यों ने कारण विशेष में एक उष्ण जल पीने को आज्ञा दी है।

उपर्युक्त फिकरे में खरतरगच्छ और अंचलगच्छ के साधुओं का दृष्टान्त देकर लेखक ने अपने आप को उपर्युक्त दो गच्छों से भिन्न किसी गच्छ का अनुयायी बताने की चाल चली है, परन्तु इस चाल से भी अपने गच्छ को गुप्त नहीं रख सकेगा, क्योंकि इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे कल्पित पाठों के प्रमाण दिये हैं, जो लेखक के गच्छ को प्रकट किये बिना नहीं रहेंगे।

"प्रतिमाधिकार" के ५८वें पत्र में महानिशीथ का एक पाठ दिया है जो नीचे लिखा जाता है—

"बारवईए नयरीए अरिट्ठ नेमिसामी समोसरिओ, तत्थ कण्हो वागरेइ-भयवं तिन्निसयसट्ठुणं दिवसाणं मज्झे एगं उक्किट्ठं दिवसं साहेह, सुणसु कण्हा ? मग्गसिर सुद्धिएकारसी दिवसं पन्नासजिणकल्लाणगाणं दिणं भण्णइ, तम्हा समणेण वा समणीइ वा सावएण वा साविआइ वा तंमि दिणे विसेसओ धम्माणुट्ठाणं कायव्वं"—श्री महानिशीथे ॥

उपर्युक्त प्राकृत पाठ "महानिशीथ" में होने का लिखा है, परन्तु यह पाठ महानिशीथ में नहीं है। महानिशीथ को हमने दो बार अच्छी तरह पढ़ा है। महानिशीथ में उपर्युक्त पाठ के विषय की सारे सूत्र में सूचना तक नहीं है, न इस पाठ की भाषा ही महानिशीथ की है। किन्तु ३०० ४०० वर्ष के भीतर की यह भाषा स्वयं बता रही है कि उक्त पाठ किसी ने नया बनाकर इस संग्रह में रख दिया है।

इसी प्रकार "प्रतिमाधिकार" के ६४वें पत्र में आचार्य, साधु और महत्तरा, प्रवर्तिनी के प्रायश्चित्त का परिमाण महानिशीथ के ५वें अध्ययन में होना लिखा है जो गलत है। महानिशीथ में से निम्नोद्धृत पाठ लिखा है—

"से भयवं आयरिआणं केवइयं पायच्छित्तं भवेज्जा ? जमेगस्स साहुणो तं आयरिअ-महत्तरा-पवित्तिणीए सत्तरसगुणं, अहेणं, सीलखलिए

भवन्ति तओ तिलक्खगुणं, तम्हा सव्वहा सव्वपयारेहिं णं आयरिअ महत्तर-पवत्तणीहिं अखलिअसीलेहिं भव्वेअव्वं"—महानिशीथ ५ अ० ।।

अर्थात्—"गणधर श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं—हे भगवन् ! आचार्यों महत्तरों प्रवर्तनी को कितना प्रायश्चित्त हो ? एक साधु के लिए जो प्रायश्चित्त होता है, वही आचार्य, महत्तर और प्रवर्तनी इन तीनों के लिए १७ गुना प्रायश्चित्त होता है। यदि आचार्यादि तीन शील व्रत में दोष लगाते हैं, तो साधु से तीन लाख गुना प्रायश्चित्त होता है। इस वास्ते सर्वथा और सर्व प्रकारों से आचार्य, महत्तरा और प्रवर्तिनी को अस्खलितशील होना चाहिए।

उपर्युक्त प्रायश्चित्त विषयक महानिशीथ का पाठ महानिशीथ के पंचम अध्ययन में नहीं आता। महानिशीथ के सातवें आठवें अध्ययनों में कुछ प्रायश्चित्त अवश्य मिलते हैं, उन्हीं में उक्त प्रायश्चित्त है। शेष सभी अध्ययनों में उपदेश और साधु-साध्वियों के दृष्टान्त भरे पड़े हैं, प्रायश्चित्त नहीं।

जिनप्रतिमाधिकार नं० २ के पत्र ७६ में लेखक ने "पौषध" शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"पौषधं पर्वदिनानुष्ठानं तत्रोपवासोऽवस्थानं पौषधोपवासः एषो द्वन्द्वः, तैर्युक्ता इति गम्यं चाउद्दसेत्यादि ।।"

अर्थात्—'पौषध' पर्वदिन के अनुष्ठान का नाम है, उसमें रहना उसका नाम है "पौषधोपवास" यहाँ पदों का आपस में द्वन्द्व समास समझना चाहिए। यहाँ "पौषधोपवास" चतुर्दशी, अष्टमी आदि में होता है इत्यादि ।।

जिनप्रतिमाधिकार का लेखक यदि "तपागच्छीय" होता तो "पौषधको" पर्वदिन का अनुष्ठान और चतुर्दशी अष्टमी आदि में करने का अनुष्ठान नहीं लिखता, क्योंकि तपागच्छ में लगभग ५०० वर्षों से भी

पहले की मान्यता चली आती है कि पौषध पर्व, अपर्व सभी दिनों में किया जा सकता है। तब खरतरगच्छीय मान्यता के अनुसार पौषध अष्टमी, चतुर्दशी पूर्णिमा आदि पर्व तिथियों में ही किया जाता है, अन्य तिथियों में नहीं। इस परिस्थिति में "जिनप्रतिमाधिकार" का कर्त्ता खरतरगच्छीय होना चाहिए या तपागच्छीय इसका निर्णय पाठकगण स्वयं कर लेंगे।

"जिनप्रतिमाधिकार" के ८५वें पत्र में लेखक ने सर्वार्थसिद्ध विमान में ६४ मन का मोती एक, ३२ मन के चार इत्यादि मोतियों का वर्णन लिखा है और आगे जाकर बताया है कि पवन की लहर से पृथक्-पृथक् होकर ये मोती एक साथ मुख्य मोती से टकराते हैं तब वह विमान मधुर स्वर के नाद से भर जाता है और उस विमान में रहने वाले देव उस नाद में लीन होकर बड़े आनन्द के साथ ३३ सागरोपम का आयुष्य व्यतीत करते हैं। इस प्रकार की हकीकत "सिद्धप्राभृत" प्रकीर्णक के नाम से लिखी गई है, वह मूल पाठ नीचे दिया जाता है—

"सर्वार्थसिद्ध विमाने ? मुक्ताफलं ६४ मण प्रमाणं वलयाकारेणं, ४ मुक्ताफलानि ३२ मण प्रमाणानि, पुनरपि ८ मुक्ताफलानि १६ मण प्रमाणानि, पुनरपि ४र्थ वलये ८ मण प्रमाणानि १६, पुनरपि ५म वलये ३२ मुक्ताफलानि ४ मण प्रमाणानि, पुनरपि ६ष्ठ वलये ६४ मुक्ताफलानि २ मण प्रमाणानि, पुनः ७म वलये १२८ मुक्ताफलानि १ मण प्रमाणानि, यदा वातलहर्या पृथग् भूत्वा समकालं यथोक्तरीत्या मुख्य मुक्ताफले आस्फालयंति तदा तद्विमानं मधुरस्वरनादाद्वैतमयं जायते, तद्विमानवासिदेवास्तन्नादलीनाः अतीव सुखेन ३३ सागरायुषो गमयंति" इति सिद्धप्राभृत प्रकीर्णक ॥"

लेखक ने मुक्ताफलों वाली बात "सिद्धप्राभृत" में से ली है, ऐसा ग्रन्त में सूचित किया है। परन्तु हमने "सिद्धप्राभृत" में तो क्या उसकी टीका में भी उक्त मुक्ताफलों का सूचन तक नहीं देखा। जिनप्रतिमाधिकार लेखक ने उक्त हकीकत का अपने पास के "सिद्धप्राभृत" की टीका में

प्रक्षेप कर दिया हो तो बात अलग है। आज तक हमने जो जैन-साहित्य का अवलोकन किया है, उसमें कहीं भी उक्त हकीकत दृष्टिगोचर नहीं हुई। हाँ, पं० वीरविजयजी ने वेदनीय कर्म की पूजा में उक्त हकीकत अवश्य लिखी है, परन्तु उसका मूलाधार आज दिन तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ है।

इसमें पवन की लहरों से चलते हुए मोतियों के टकराने से मधुर नाद उत्पन्न होता है यह लिखा है। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि सर्वार्थ-सिद्ध में इतनी जोरों की हवा चलती होगी क्या? जो मरण से लगाकर ३२ मरण तक के वजन वाले मोतियों को हिला डाले और वे बिचले मोती के आस्फालन से मधुर नाद उत्पन्न करें? शास्त्रों में तो सामान्य रूप से विमानों को **घनोदधि, घनवात, अवकाशान्तर** प्रतिष्ठित लिखा है और सर्वार्थसिद्ध को **आकाशप्रतिष्ठित** कहा है। तब वहाँ इतना जोरों का पवन कहां से आता होगा, जो मोतियों को टकराकर मधुर नाद उत्पन्न कर सर्वार्थसिद्ध में आनन्द उत्पन्न करता होगा। शास्त्रज्ञ जैन विद्वानों को इस बात पर गहरा विचार करना चाहिये। हमारी राय में तो ६४ मरण के मोती वाली बात अनागमिक है।

"जिनप्रतिमाधिकार" के ६१वें पत्र में साधु-साध्वी को स्तव, स्तुति पूर्वक त्रैकालिक चैत्यवन्दन न करने से प्रथम वार उपवास, दूसरी बार छेद, तीसरी बार उपस्थापना का प्रायश्चित्त लिखा है और अविधि से चैत्यवन्दन करने पर पारांचित प्रायश्चित्त का विधान किया है। इस प्रायश्चित्तविधान का मूल पाठ नीचे लिखते हैं—

"जे केइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पाव-कम्मे दिक्खादि अयहाप्पभतिइओ अणुदिअहं जावजीवाभिग्गहेण सत्थे वीसत्थे भत्तिनिब्भरे जजु(हु)त्त विहीए सुत्तत्थमणुसरमाणे अणण्णमाणसेगग्ग-चित्ते तग्गयमाणसमुहज्झवसाए थय-थुईहिं न ते कालिअं चेइयाइं वंदिज्जा तस्स णं एगाए बाराए खवणं पायच्छित्तं उवइसिज्जा, बीआए छेअं, तइआए उवट्ठावणं, अविहीए चेइआइं वंदेतओ पारंचिअं, अविहीए वंदेमाणे अन्नेसि

असद्धं संजणइ इइ काऊणं" महानिशीथे साधूनां त्रिसंध्यं देववन्दन-विचारः ॥

ऊपर का सूत्रपाठ लेखक ने महानिशीथ में होना लिखा है। यह पाठ महानिशीथ में शब्दशः नहीं है और न इसमें सूचित प्रायश्चित्त ही महानिशीथ के अतिरिक्त अन्य किसी सूत्र में लिखा मिलता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ के उसी एकानवे पत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन का सूत्रपाठ दिया है जो यथार्थ नहीं है। तुंगिया नगरी के जैन श्रावकों का वर्णन भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के पांचवें उद्देशक में मिलता है। परन्तु उस वर्णन के और इसके बीच तो रात दिन का अन्तर है। यह वर्णन अधिकांश कल्पित और उपजाया हुआ है। इसमें जो श्रावकों के नाम दिये हैं वे भिन्न-भिन्न गांम-नगरों के रहने वाले थे, जो यहां सब को इकट्ठा कर दिया है। पाठकों के कौतूहल निवृत्यर्थ प्रतिमाधिकार का वह पाठ नीचे लिख देते हैं—

"ते णं कालेणं २ जाव तुंगिआए नयरीए बहवे समणोवासगा परिवसंति-संखे, सयगे सिलप्पवाले, रिसिदत्ते, दमगे, पुक्खली, निविट्ठे, सुप्पइट्ठे, भाणुदत्ते, सोमिले, नरवम्मे, आणंदे, कामदेवाइणो अ जे अन्नत्थ गामे परिवसंति, अहादिता विच्छिन्नविपुलवाहणा जाव लद्धट्ठा गहिअट्ठा, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं पालेमाणा निग्गंथाणं निग्गंथीणं फासुएसणिज्जेणं असणं पडिलाभेमाणा चेइआलएसु तिसंझासमए चंदण-पुप्फ-धूप-वत्थाईहिं अच्चणं कुणमाणा जाव जिणहरे विहरंति, से तेणट्ठेणं गोअमा जो जिणपडिमं पूएइ सो नरो सम्मद्दिट्ठी जाणियव्वो, मिच्छादिट्ठिस्स नाणं न हवइ ॥"

प्रतिमाधिकार के लेखक ने ऊपर जो तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन किया है, वह कहां का पाठ है यह कुछ नहीं लिखा। इसका कारण यही है कि सूत्र का नाम देने से सूत्र के पाठ के साथ इस पाठ का मिलान कर पाठकगण पोल खोल देंगे। हम भगवती सूत्र के दूसरे शतक के

पंचम उद्देशक में तुंगिया नगरी के श्रावकों का जो वर्णन दिया गया है, उसे नीचे उद्धृत करते हैं। दोनों का मिलान करके पाठकगण देखें कि लेखक ने तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन में अपने घर का कितना मसाला डाला है—

"तेणं कालेणं २ तुंगिया नामं नगरी होत्था, वण्णओ, तीसे णं तुंगिआए नगरोए बहिया उत्तरपुरिच्छिमे दिसिभाए पुप्फवतिए नामं उज्जाणे होत्था, वण्णओ, तत्थ णं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसंति-अड्ढा दित्ता विच्छिण्णविपुलभवण-सयणासणजाणवाहणाइण्णा, बहुधण-बहुजायरूवरयया, आओगपओगसंपउत्ता विच्छड्डियविपुलभत्त-पाणा बहुदासीदासगोमहिसगवेलयप्पभूया बहुजणस्स अपरिभूया अभिगय-जीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिकरण-बंधमोक्ख-कुसला, असहेज्जदेवासुरनागसुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किंनर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व -महोरगाइएहिं देवगणेहि निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा, निग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया निव्वित्तिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे; अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा, अवंगुयदुवारा चियत्तंतेउरघरप्पवेसा, बहूहिं सीलव्वय-गुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोव-वासेहिं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेण-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं-ओसहभेसज्जेण य पडिलाभे-माणा अहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥१०६॥"

प्रतिमाधिकार के लेखक द्वारा दिये हुए तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन के साथ भगवती सूत्र के पाठ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, यह पाठक स्वयं समझ लेंगे।

भाष्य चूर्णि में से निम्नलिखित पाठ दिया है—

"अनिस्सकडं विहिचेइअं, आययणं, आगमपरतंतयाए सुगुरूवएसेण सुसावगेहिं नायज्जिअवित्तेणं सपरहिआए परमपयसाहणनिमित्तं आगमविहिणा

कारिग्रं तं ग्राययणं भण्णइ, ग्राययणे पुण इमो विही पवत्तइ-न उस्सुत्तजण-वक्कमो साया, न रयणीए जिणबिंबन्हाणं, न पइट्ठा, न साहूण सम्मत्तं, न चेइहरमज्झे मठाइसु सुसाहुसाहुणीणं निवासो, न रत्तीए इत्थिजणप्पवेसो, न जाई-कुल-ग्रइसग्गहो, न सावयाणं जिणहरस्स मज्झे तंबोल-दाण-भक्खणं, न विगहा, न कलहो, न घरचिंता, न रयणीए विलासिणीनट्टं, न रत्ति-जागरणं, न लगुडरासदाणं, पुरिसाणं पि न जलकीडा-सिंगार-हेडगाइं, न हिंडोलगो देवयाणं पि, न गहणं, न संकंती, न माहमाला, न पाण-भोअण-मुत्त-पुरीसनिट्ठवण-न्हाण-पाय-ठवणाई, न हास-कील-करणं, न हुड्डा, न जुद्धं, न जूअं, न देवदव्वभक्खणं, न परुप्परमच्छरो, न सावयपइट्ठाकरणं, न पहरणजुत्तस्स सावयजणस्स पविसणं, न ग्रणुचिग्र-गीग्र-वाईग्र-नट्टं च, न उम्मग्गदेसणा करणं, उम्मग्गठिग्राणं वंदणाइ करणं, न दुट्ठ जंपणं, ग्रन्नं-पि गडइरिग्रपवाहपडिअं ग्रागम-ग्रायरण-विरुद्धं दोस-वड्ढणं गुण-घायणं जत्थ न कीरइ तं **ग्राययणं** गुणवुड्ढिकरं तित्थयर-गणहरमयं सग्गापवग्ग-जणयं ग्रनाययणं नाण-दंसण-चरण-गुणघायणं ठाणं मुक्खत्थि-सुसाहु-साहुणि-सावय-साविग्राजणवज्जणिज्जं विसुद्धभावेणं, न पुण रागदोसेणं। **व्यवहारचूर्णी** ।

ग्रर्थ—लेखक ने उपर्युक्त पाठ व्यवहारभाष्यचूर्णि का होना बताया है। व्यवहार-भाष्य ग्रौर उसकी टीका भी हमने पढ़ी है—

भाष्य में "निस्सकडमनिस्सकड-चेइए सव्वहिं थुई तिण्णि ।
वेलं व चेइयाणि व, नाउं इक्किक्किया वावि ॥"

यह गाथा ग्रवश्य ग्राती है ग्रौर इस प्रसंग पर निश्राकृत ग्रनिश्राकृत मंगलचैत्य शाश्वत चैत्य ग्रादि का संक्षेप में टीकाकार ने परिचय बताया है, परन्तु ग्रायतन ग्रनायतन के सम्बन्ध में कोई निरूपण नहीं किया। व्यवहारचूर्णि हमारे पास नहीं है, न हमने पढ़ी है। फिर भी चूर्णि में ग्रायतन ग्रनायतन के सम्बन्ध में इतना विस्तृत विवरण होता तो टीका-कार ग्राचार्य क्षेमकीर्ति चूर्णि से भी ग्रायतन की टीका ग्रधिक विस्तार से करते, परन्तु वैसा कुछ नहीं किया। दूसरी बात यह भी है कि प्राचीन

चूर्णियों की जो प्राकृत भाषा होती है उसके साथ उक्त पाठ की प्राकृत का कोई मेल नहीं मिलता। इससे निश्चित है कि व्यवहार-भाष्य की चूर्णि का नाम लेकर लेखक ने इस प्राकृत पाठ के सम्बन्ध में असत्य भाषण किया है।

उपर्युक्त पाठ में एक एक शब्द खरतरगच्छ वालों का अपना पारिभाषिक शब्द है। "विधिचेइय" अर्थात् "विधिचैत्य" के सम्बन्ध में जिनवल्लभ गणि, जिनदत्त सूरि आदि ने जितना लिखा है उतना अन्य गच्छ के किसी भी विद्वान् ने नहीं लिखा। उस समय में खरतरगच्छ के श्रावकों की तरफ से जो जो जिनमन्दिर बनते थे उन सब को वे "विधि-चैत्य" कहते थे और विधि-चैत्यों में बर्तन के लिए जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनपति सूरि आदि ने अनेक नियम बना डाले थे और उन नियमों के अनुसार ही खरतरगच्छ के अनुयायी चलते थे। खरतरगच्छ के आचार्यों की मान्यता थी कि जिनायतन आगम के अनुसार न्यायार्जित धन द्वारा श्रावकों को बनवाना चाहिए, स्वपरहितार्थ और मोक्षपद के साधननिमित्त जो आगम विधि से बनाया गया हो उसी को "आयतन" कहना चाहिए। आयतन में इस प्रकार की विधिप्रवृत्ति होती है—

"उसमें उत्सूत्र-भाषक लोगों का चलाया हुआ क्रम चालू नहीं रहता। वहां रात्रि में जिनबिम्बों का स्नान नहीं होता, रात्रि में प्रतिष्ठा नहीं होती, जिनचैत्य साधुओं के सुपुर्द नहीं किये जाते। जिनचैत्यों की हद में बने हुए मठ आदि में साधु.साध्वी का निवास नहीं होता, रात्रि के समय में स्त्री लोगों का मन्दिर में प्रवेश नहीं होता, जाति, कुल आदि का दुराग्रह नहीं होता, जिनघर के अन्दर श्रावक को ताम्बूल नहीं दिया जाता, न खाया जाता। वहां विकथा नहीं होती, झगड़ा नहीं होता, घरकार्य सम्बन्धी बातें नहीं होती, मन्दिर में रात्रि जागरण नहीं होता। पुरुष भी मन्दिर में डंडियों से नहीं खेलते, जल-क्रीड़ा नहीं होती, शृङ्गार तमाशा आदि नहीं होते। देवों के लिए भी हिंडोले नहीं होते, ग्रहण की रस्म नहीं होती, संक्रान्ति नहीं मानी

जाती, माघमाला नहीं पहनी जाती, जिनमन्दिर में खान-पान, पेशाब-टट्टी, थूंकना, स्नान, पग धोना, मालिश करना नहीं होता। न रहस्यजनक क्रीड़ा होती है, न होड़ बदी जाती है, न कुश्ती की जाती है, न जुगार खेला जाता है, न देव द्रव्य खाया जाता है। परस्पर एक दूसरे की ईर्षा नहीं की जाती, न श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराई जाती है। किसी प्रकार के आयुध के साथ श्रावक चैत्य में प्रवेश नहीं कर सकता। अनुचित गीत, वादित्र, नृत्य, नाटक नहीं होते। शास्त्र-विरुद्ध धर्मदेशना नहीं होती, उन्मार्ग स्थित साधुओं को वन्दनादि नहीं किया जाता है, विधिचैत्य में दुष्ट वचन नहीं बोला जाता, दूसरा भी गड्डरिया प्रवाहपतित आगम और आचरणा से विरुद्ध दोषवर्द्धक और गुणघातक कार्य जहाँ पर न किये जाते हों उसे गुण वृद्धि करने वाला तीर्थङ्कर गणधर-सम्मत स्वर्गापवर्ग जनक "आयतन" कहते हैं। ऊपर का सारांश खरतरगच्छ वाले ने निम्नलिखित पद्य से लिया है—

"अत्रोत् सूत्र जनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा,
साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि।
जाति-ज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि-
त्याज्ञात्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीजैनचैत्यालये ॥"

आयतन से विपरीत ज्ञान, दर्शन, चारित्र के गुणों का घात करने वाला जो स्थानक हो उसको "अनायतन" समझना चाहिए। मोक्षार्थी सुसाधु सुसाध्वी श्रावक श्राविका जनों के लिए अनायतन विशुद्ध भाव से वर्जनीय है, रागद्वेष के कारण से नहीं।

विधिचैत्य में बर्तने के लिए जिनवल्लभ गणी और जिनदत्तसूरिजी ने जो जो नियम संघपट्टक, चर्चरी, धर्मोपदेश रसायन, कालस्वरुप कुलक आदि में लिखे हैं उन्हीं का प्रस्तुत प्राकृत पाठ में समावेश किया गया है। इस विषय में जिन सज्जनों को शंका हो वे ऊक्त ग्रन्थों को पढ़कर के निर्णय कर सकते हैं कि मेरा कथन कहां तक ठीक है। इस प्रकार के कल्पित पाठों को अन्यान्य सूत्रों के नाम पर चढ़ाकर जिनप्रतिमाधिकार के

संकलनकर्ता ने जो गर्हित प्रवृत्ति की है, इससे उनको कोई लाभ हुआ होगा, यह तो हम नहीं कह सकते। परन्तु इस प्रकार गुम नाम से ग्रन्थकार बनकर अमुक गच्छ वालों की आँखों में धूल झोंकने का प्रपञ्च करके अन्य निर्दोष कृतियों में भी इसी प्रकार का कोई प्रपञ्च तो नहीं है ? इस प्रकार पाठकों को शंकाशील बनाने का मार्ग चालू किया है जो जैन संघ मात्र के लिए घातक है। इस प्रकार पर्दे में रहकर दूसरे गच्छीय बनकर अपने गच्छ की उन्नति देखने वाले केवल स्वप्नदर्शी हैं। ऐसे झूठे प्रपञ्चों से न कोई गच्छ उन्नत होगा, न जीवित ही रहेगा।

अन्त में जिनप्रतिमाधिकार २ के लेखक ने अपना समय इरादापूर्वक गुप्त रखा है। इतना ही नहीं, बल्कि एक दो स्थानों पर तो उसने पाठकों को भुलावे में डालने का प्रयत्न भी किया है। वगैर प्रसंग के ग्रन्थ के बीच में अंचलगच्छ की पट्टावली देकर आचार्य जयकेसरी तक पूरा करना, तथा एक स्थान पर संवत् १५८० का वर्ष लिखना इसका तात्पर्य यही है कि लेखक इस ग्रन्थ को विक्रम की सोलहवीं शती की कृति मनवाना चाहते हैं, परन्तु उनकी यह मुराद पूरी नहीं होने पाई। कई स्थानों में प्रयुक्त अर्वाचीन भाषा के शब्दप्रयोग तथा शास्त्रज्ञान की कमी बताने वाली भूलें उनको विक्रम की सोलहवीं शती के पूर्व का प्रमाणित नहीं होने देतीं। दृष्टान्त के रूप में एक स्थान पर जिन-जन्म के अधिकार में "द्रो" शब्द का प्रयोग लेखक का अर्वाचीनत्व बताता है। इसी तरह श्रमण की द्वादश प्रतिमाओं का शीर्षक लिखते समय "समरणाणं समरणीणं बारस पडिमा पन्नत्ता" इस प्रकार सूत्रीय शीर्षक लिखा है। परन्तु लेखक को इतना भी मालूम हो नहीं सका कि जैन-भिक्षु की द्वादश प्रतिमा केवल जैन श्रमणों के लिए ही होती हैं, जैन श्रमणियों के लिए नहीं। फिर भी लेखक ने श्रमण और श्रमणियों की बारह प्रतिमाएँ बताई हैं। यह उसका अज्ञान तो है ही, साथ ही "बारस पडिमा पन्नत्ता" इन शब्दों से इस शीर्षक को किसी आगम का सूत्र मनाने की होशियारी की है, परन्तु श्रमण के साथ श्रमणी शब्द को जोड़कर लेखक ने अपनी होशियारी को गुड़ गोबर बना दिया है। इसी प्रकार संख्या-बद्ध प्राकृत पाठों को सूत्रों के ढंग से इस

ग्रन्थ में लिखा है। फिर भी प्राकृत भाषा के ऊपर से विद्वान् पाठक समझ ही जाता है कि यह पाठ वास्तव में सूत्र का नहीं, लेखक के अपने घर का है।

अब हम इस ग्रन्थ का एक नकली पाठ देकर इस अवलोकन को पूरा करेंगे। जिनप्रतिमाधिकार के १४१वें पत्र में लेखक ने व्यवहार-छेद ग्रन्थ के नाम से एक पाठ दिया है जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

"साहू वंदित्ता पूछंति-कत्थ गंतव्वं सिम्रा, तेणुत्तं ग्रमुगदेसे—संति तत्थ चेइग्राणि जेहिंतो दंसणसोहिम्र विज्जति, कहं च तेहिंतो दंसणसोही पूग्रं च दट्ठुं जगबंधवाणं ? सड्ढाणं चेइएसु-जिणपडिमाणं न्हाण-विलेवणाइदाणं-च दट्ठूणं सेहस्स धम्मो वित्थरेई, चेइग्राइं संखसयगप्पमुहेहिं समणोवासगेहिं भत्तीइ जाइं निम्मिग्राइं"—व्यवहारछेदग्रन्थे ॥

साधु आचार्य को वन्दना कर पूछते हैं—विहार कर कहां जाना होगा ? आचार्य ने कहा—अमुक देश की तरफ। वहाँ जिनचैत्य हैं, जिनचैत्यों से दर्शनशुद्धि होगी। उनसे दर्शनशुद्धि कैसे होगी ? आचार्य ने कहा—तीर्थङ्करों की पूजा देखकर श्रावकों का जिनमन्दिरों में जिनप्रतिमाओं का स्नान विलेपनादि करना देखकर नवदीक्षित शिष्य का धर्म विस्तृत होता है। चैत्य-शंख, शतक आदि श्रावकों द्वारा भक्ति से जो बनाए गये हैं, उनके दर्शनादि से धर्मश्रद्धा बढ़ती है।

लेखक साधुओं द्वारा विहार-क्षेत्र पूछता है और आचार्य उनका उत्तर देते हैं, कि अमुक देश में विहार होगा। जहाँ जिनचैत्य बहुत हैं, दर्शनशुद्धि होगी। साधु पूछते हैं—महाराज, उन चैत्यों से दर्शनशुद्धि कैसे होगी ? आचार्य कहते हैं—जगत् के बन्धु जिनभगवन्त की पूजा देखकर श्रावकों द्वारा जिनचैत्यों में जिनप्रतिमाओं का स्नान विलेपादि होता देख कर नव-शैक्ष का धर्म बढ़ता है। क्योंकि वे चैत्य, शंख, शतक प्रमुख श्रावकों के भक्ति से बनाये हुए हैं।

जिनप्रतिमाधिकार के कर्त्ता ने इस पाठ की जो योजना की है, वह आधुनिक परिस्थिति को ध्यान में रखकर की है, अन्यथा वहां मन्दिर हैं,

यह आचार्य के कहने की कोई आवश्यकता नहीं होती। शास्त्र में साधुओं का विहार मन्दिर और मूर्तियों के दर्शन के लिए नहीं बताया, किन्तु अपना संयम निर्मल रखने के लिए साधु विहार करते हैं। भावी आचार्य के लिए देशदर्शनार्थ भी विहार करने की आज्ञा दी है, बाकी सर्वसाधारण के लिए तीर्थयात्रा के लिए अथवा मूर्तियों के दर्शनार्थ इधर-उधर भ्रमण करना साधुओं के लिए निषिद्ध है। इस परिस्थिति में दर्शनशुद्धि और धर्म-विस्तार की बातें करने वाले साधु जैन सिद्धान्तों के अनभिज्ञ मालूम होते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के लेखक शंख, शतक प्रमुख श्रमणोपासकों द्वारा भक्ति से बनाए हुए जिनचैत्यों की बात करके पढ़ने वालों को उल्लू बनाना चाहते थे, परन्तु ऐसा करते हुए वे स्वयं अज्ञानियों की कोटि में पहुंच रहे हैं, इस बात का उन्हें पता तक नहीं लगा।

उपसंहार :

प्रतिमाधिकार दो के सम्बन्ध में हमने जो कुछ लिखा है, वह हमारे खुद के लिए भी सन्तोषजनक नहीं, खेदजनक है। परन्तु इसके सम्बन्ध में लिखने की खास आवश्यकता ज्ञात हुई। क्योंकि हमने ज्यों-ज्यों प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीनकालीन जैन साहित्य का अवलोकन किया त्यों-त्यों धीरे-धीरे ज्ञात हुआ कि मध्यकालीन और अर्वाचीन जैन साहित्य में अनेक प्रकार की विकृतियां हो गई हैं। कई ग्रन्थ तो ऐसे बने हैं जो जैन आगमों के साथ मेल ही नहीं रखते। कई ग्रन्थों में अर्वाचीनकालीन पद्धतियों को घुसेड़कर उन कृतियों को पौराणिक पद्धतियां बना दिया है। कई ग्रन्थ प्रकरणों में अन्यान्य पाठों का प्रक्षेप निष्कासन करके उनको मूल विषय से दूर पहुंचा दिया है, और यह पद्धति आज तक प्रचलित है। ऐसा हमारे जानने में आया है, अपनी मान्यताओं को प्रामाणिक ठहराने के लिए प्रामाणिक पुरुषों के रचे हुए साहित्य में इस प्रकार विकृतियां उत्पन्न करना समझदारी नहीं है। फिर भी इस प्रकार के कार्य सैंकड़ों वर्षों से होते आ रहे हैं। इस परिस्थिति को जानकर यह लेख लिखना पड़ा है। आशा है, गच्छ मतों के हिमायती महानुभाव अब से इस प्रकार की

प्रवृत्तियों से बाज आयेंगे, अन्यथा इस प्रकार की अनुचित प्रवृत्तियों का भण्डाफोड़ करना पड़ेगा। हमारी आन्तरिक इच्छा है कि इससे आगे एक कदम भी हमें न बढ़ाना पड़े।

आज तक हमारे पढ़े और जाँचे हुए ग्रन्थों में से उपर्युक्त चौदह (१४) ग्रन्थों को "कृत्रिम कृतियों" के नाम से जाहिर किया है। इन सब के कृत्रिम होने के हमारे पास प्रमाण विद्यमान होते हुए भी हमने उनका उपयोग नहीं किया। क्योंकि यह प्राथमिक अवलोकन लेख है। इसमें सभी प्रमाणों का उपन्यास करने से एक बड़ा प्रबन्ध बन जाने का भय है जो हमको इष्ट नहीं।

卐 卐

: १८ :

तत्त्वन्याय-विभाकर

❖

कर्ता—श्री विजयलब्धि सूरि

उपर्युक्त नाम का ग्रन्थ बीसवीं शताब्दी के आचार्य श्री लब्धि सूरिजी ने खम्भात में रचा है। इसका रचनाकाल १९९४ और मुद्रणकाल १९९५ है। ग्रन्थ को तीन विभागों में बांटा है—प्रथम विभाग में नवतत्त्वों का संस्कृत वाक्यों में निरूपण करके सम्यक्-दर्शन का वर्णन किया है। दूसरे विभाग में पांच ज्ञानों का वर्णन करके प्रमाणों का निरूपण किया है। तीसरे विभाग में चारित्र-धर्म का निरूपण करने के साथ चारित्र-सम्बन्धी क्रिया-प्रवृत्तियों का प्रतिपादन किया है।

ग्रन्थ के संस्कृत वाक्य अधिकांश में भगवान् उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र के सूत्रों में शाब्दिक परिवर्तन करके तय्यार किये गए हैं। उदाहरण स्वरूप "सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र को परिवर्तित करके "सम्यक् श्रद्धा-संविच्चरणानि मुक्त्युपायाः" यह वाक्य रचा है। मेरी समझ में सैद्धान्तिक बातों को इस प्रकार बदलने में कैसी भूलें होती हैं, इस बात पर लेखक ने तनिक भी विचार नहीं किया। भगवान् वाचकजी के प्रथम सूत्र का अन्तिम शब्द "मोक्षमार्गः" यह एक वचनान्त है, तब विभाकर के कर्ता ने इसके स्थान पर "मुक्त्युपायाः" इस प्रकार मोक्ष के स्थान पर मुक्ति तथा मार्ग के स्थान पर बहुवचनान्त "उपायाः" शब्द लिखा है। वास्तव में यह परिवर्तन बहुत ही भद्दा और अनर्थकारक हुआ है। दर्शन शब्द के स्थान पर श्रद्धा शब्द लिखकर लेखक ने एक सर्वव्यापक अर्थवाची शब्द को हटाकर एकदेशीय अभिलाषा वाचक "श्रद्धा" शब्द

को स्थान दिया है[१]। दर्शन शब्द से दार्शनिक तत्त्व-सम्बन्धी मन्तव्य का जो सर्व दर्शनों में "दर्शन" शब्द से प्रतिभान होता है, वह "श्रद्धा" शब्द से नहीं। इसी प्रकार ज्ञान के स्थान पर "संवित्" शब्द का विन्यास कर लेखक ने "ज्ञान" शब्द के सार्वभौम अर्थ पर पर्दा सा डाल दिया है। ज्ञान शब्द आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव तथा केवल इन पांचों ज्ञानों का प्रतिपादक है। तब "संवित्" शब्द ज्ञान का पर्याय होते हुए भी सभी ज्ञान का प्रतिभास नहीं करा सकता[२]; प्रथम तृतीय चतुर्थ और पंचम ज्ञान का "संवित्" शब्द से उल्लेख करना निरर्थक है। "संवित्" शब्द से शास्त्र श्रवण मनन से जो प्रतिभास होता है, उसी को सूचित किया जा सकता है, सभी ज्ञानों को नहीं। "चारित्र" शब्द का स्थान "चरण" को देना भी अयोग्य है। चारित्र एक आत्मा का मौलिक गुण है, तब

---

(१) श्रद्धा शब्द की निष्पत्ति "श्रत्" अव्यय और "धा" धातु से होती है। देखिए सिद्धहेमशब्दानुशासन का निम्नोद्धृत सूत्र "अधीद्यनुकरणाच्विडाच्गतिः ३, १, २" इसको बृहद् वृत्ति में "श्रत्-श्रद्धाने शीघ्रे च। श्रतश्च दधाति करोतिभ्या।" इस वार्तिक से श्रत् को शीघ्रार्थक अव्यय मानकर धारणार्थक "धा" धातु के संयोग से "श्रद्धा" शब्द बनाया है, जिसका अर्थ है अभिलाषा।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार "श्रद्धा" शब्द निपात में परिगणित है, और "श्रच्छब्दस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिक से श्रत् को उपसर्ग मान आगे "दधाति" क्रिया के योग से भी श्रद्धा शब्द की सिद्धि की है और श्रद्धा का अर्थ अभिलाष सूचित किया है।

इस प्रकार के श्रद्धा शब्द के पूर्व में सम्यक् शब्द जोड़कर सम्यग्दर्शन का भाव निकालना कल्पना मात्र है।

(२) संवित् शब्द से ज्ञान मात्र का आभास नहीं कराया जा सकता क्योंकि संवित् शब्द की मूल प्रकृति ऐकार्थक नहीं है, जैसे-विद् ज्ञाने-वेदवित्, विद्-सत्तायाम्-प्रवित्, विद्-विचारणे-ब्रह्मवित्। इस प्रकार ज्ञान के अर्थ में रूढ ज्ञान शब्द को हटाकर उसके स्थान पर अनेकार्थ संवित् शब्द को जोड़ना भद्दा ही नहीं भ्रान्तिकारक भी है।

"चरण" शब्द यद्यपि कहीं कहीं इसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है, फिर भी "चरण" शब्द चारित्र का पर्याय न होकर चारित्र सम्बन्धी क्रियाओं-आचरणों के अर्थ में प्रयुक्त होता है[1]। "मोक्ष" शब्द कर्मयुक्त होने के अर्थ में प्रसिद्ध है, "मुक्ति" शब्द भी "मोक्ष" शब्द का पर्याय अवश्य है परन्तु मोक्ष के जैसा पारिभाषिक नहीं। "मार्ग" शब्द के स्थान पर "उपाय" शब्द का लिखना भी बिल्कुल अयोग्य है। भले ही श्रद्धा संवित् और चरण मोक्ष के उपाय हों, परन्तु ये मोक्ष का मार्ग नहीं बन सकते। "मृग्यते मोक्षो अनेन इति मार्गः" अर्थात् दर्शन-ज्ञान चारित्र द्वारा मोक्ष का अन्वेषण किया जाता है और उसे प्राप्त भी किया जाता है। मनुष्य के पास कार्य के साधक उपाय होने पर भी जब तक वह उपेय पदार्थ की प्राप्ति के लिए मार्गणा नहीं करता, उपेय प्राप्त नहीं होता। इसीलिए तत्त्वार्थकार भगवान् उमास्वाति वाचक ने मोक्ष शब्द के आगे मार्ग शब्द रखना पसन्द किया है। इन सब बातों के उपरान्त एक विशेष खटकने वाली बात तो इस वाक्य में यह है कि "उपाय" शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया है। जैन शैली को न जानने वाला मनुष्य तो यही कहेगा कि "श्रद्धा", "संवित्" और "चरण" ये प्रत्येक मुक्ति देने वाले उपाय हैं। परन्तु ऐसा अर्थ करना जैन सिद्धान्त से विरुद्ध माना जायगा, क्योंकि जैन-सिद्धान्त "सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान" और "सम्यक्-चारित्र" इन तीनों की सम्मिलित प्राप्ति से ही आत्मा का मोक्ष मानता है, प्रत्येक भिन्न-भिन्न से नहीं। इसी कारण तो तत्त्वार्थसूत्रकार ने "मार्ग" शब्द में प्रथमा विभक्ति के एक वचन का उपयोग किया है। इस प्रकार "तत्त्वन्यायविभाकर" के पहले वाक्य में ही "प्रथमकवले मक्षिका-पातः" जैसा हुआ है। इस प्रथम पंक्ति की खामियों को पढ़ने से ही सारा ग्रन्थ दृष्टिगोचर करने की मेरी इच्छा हुई और सारी पुस्तक पढ़ी, जिससे ग्रन्थ की योग्यता अयोग्यता का अनुभव हुआ।

---

(१) चरण शब्द भी संवित् की ही तरह अनेकार्थक है। इसका प्रयोग कहीं कहीं चारित्र की क्रिया के अर्थ में होता है, तो कहीं कहीं "काठक" "कलापका" दि धर्माम्नायों के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है। इस परिस्थिति में चारित्र जैसे सर्वसम्मत शब्द को हटाकर उसका स्थान "चरण" शब्द को देना एक प्रकार की भ्रान्ति फैलाना है।

ऊपर हमने केवल "तत्त्वन्यायविभाकर" के प्रथम सूत्र पर थोड़ी टीका टिप्पणी की है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के अन्यान्य अनेक सूत्र-वाक्य दोषपूर्ण हैं और उन पर जितना भी टीका-टिप्पण किया जाय थोड़ा है। परन्तु ऐसा करने में अब कोई लाभ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसके लेखक आचार्य महोदय परलोक सिधार गए हैं और इनके शिष्यगण की तरफ से संशोधन होने की आशा करना निरर्थक है, इसलिए अन्य सूत्रों के ऊपर टीका-टिप्पणी करना छोड़ दिया है।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि श्री लब्धिसूरिजी महाराज ने इस संस्कृत ग्रन्थ के निर्माण में जितना समय लगाया उतना स्त्रियों तथा बालक बालिकाओं के पढ़ने योग्य स्तवनों-भजनों के बनाने में लगाते तो अवश्य लाभ के भागी होते।

卐 卐

: १६ :

प्रतिक्रमण सूत्रों की अशुद्धियाँ

❖

ले० पं० कल्याणविजयगणी

१. "प्रतिक्रमण" शब्द से यहां "श्रावक-प्रतिक्रमण सूत्र" विवक्षित है। इस सूत्र का अनेक संस्थाओं, पुस्तकप्रकाशकों तथा व्यक्तियों ने प्रकाशन किया है। अकेले भीमसी माणक ने ही इसकी १० से अधिक आवृत्तियां निकाली हैं, फिर भी इसकी मांग आज भी कम नहीं है। इस पर से इतना तो निश्चित है कि प्रतिक्रमण सूत्र के एक अच्छे संस्करण की आवश्यकता थी और है। 'प्रबोध टीका' के साथ प्रकाशित "प्रतिक्रमण-सूत्र" प्रथम के संस्करणों से अच्छा कहा जा सकता है, फिर भी सर्वांशों में उपयोगी नहीं कह सकते।

गुजराती टीकाकार श्री धीरजलाल ने इसमें अपने विशाल वाचन और सर्वतोमुखी प्रतिभा का यथेच्छ उपयोग किया है। जिसके परिणामस्वरूप ग्रन्थ का यह संस्करण सर्वभोग्य न होने पर भी अध्यापकों और विचारकों के काम का बन गया है। परिणाम यह आयगा कि इसकी अधिक आवृत्तियां निकालने का संभव कम रहेगा।

हमने इस टीका का मात्र "पिठरी-पुलाक-न्यायेन" अवलोकन किया है। इससे इसकी खूबियों और खामियों के विषय में लिखना साहस गिना जायगा तथापि ग्रन्थ के मूल का हमने सम्पूर्ण अवलोकन किया है, इसलिए इसकी संपादनशैली और संशोधन के विषय में कुछ लिखना प्रासंगिक गिनते हैं।

सूत्रों के नये नाम :

संपादक ने प्रत्येक सूत्र या सूत्रखण्ड को अपने कल्पित नाम से अलंकृत किया है। प्राकृत को प्राकृत और संस्कृत को संस्कृत नाम लगाकर अन्त में सूत्र का प्रचलित नाम दिया है। इसका कारण "एक-वाक्यता" कायम रखना बताते हैं, पर हमारी मान्यतानुसार यह कथन निराधार है। प्रतिक्रमण सूत्र, सूत्रखण्ड अथवा तदुपयोगी जो संकेत नियत हैं उनके विषय में टीकाकार, संपादक या संशोधक को निराधार नये नाम लगाने का साहस करने की कुछ भी आवश्यकता न थी। यदि सूत्रगत वस्तुव्यंजक शब्द लिखने की इच्छा थी तो टिप्पणी में या टीका में वैसा कोई शब्द लिखकर पूरी कर सकते थे, पर प्रत्येक सूत्र तथा सूत्र-खण्ड के गले में प्राकृत या संस्कृत नाम की नई घंटियाँ लगाने का संपादक को कोई अधिकार न था, "सात लाख, अठार पापस्थानक" जैसे लोक-भाषामय आलोचना पाठों के प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के नये नाम कितने विचित्र लगते हैं? इसमें किस प्रकार की एकवाक्यता है यह हम समझ नहीं सकते।

'तस्स उत्तरीकरणेणं', 'अन्नत्थ ऊससिएणं' जैसे सूत्रखण्ड, जो वास्तव में 'इरियावहिया' के अंश हैं उनके नये नाम लगाकर एक प्रकार की उनमें विकृति ही उत्पन्न की है और कितने ही नये नाम तो मूल वस्तुओं को ढांकने वाले जैन शैली के बाधक बने ऐसे हैं।

अन्तःशीर्षक तथा अन्तर्वचन :

कितने ही स्थानों में सम्पादक ने "अन्तःशीर्षक" तथा विधिगत "प्रतिवचन" सूत्रों में दाखिल किये हैं यह भी अविचारित कार्य किया है। ऐसे प्रक्षेप कालान्तर में लेखकों के अज्ञान से सूत्रों के अंग बनकर मूल वस्तु को विकृत कर देते हैं कि जिसका संशोधन भी अशक्य बन जाता है।

'वन्दनक सूत्र' तथा 'अब्भुट्ठिओ' आदि में दाखिल किये हुए "गुरुप्रतिवचन" "स्थाननिवेदन" आदि बातें अनजान स्वयं सीखने वालों

को हानिकर और पोथी-लेखकों द्वारा सूत्र के अंग बनकर मूल वस्तु को बिगाड़ने वाली होंगी। यह प्रतिवचन स्थानादिनिवेदन आदि विधि में शोभने वाली वस्तु है, जिसको मूल में प्रवेश करवा के सम्पादक ने अक्षम्य भूल की है।

"लघु शान्ति" स्तव में "विजयादि जगन्मङ्गल कवच, अक्षरस्तुति, आम्नाय, फलश्रुति, अंतमंगल" आदि शीर्षकों के कांटे बोकर शान्तिपाठियों का मार्ग दुर्गम बना दिया है। ऐसे सूचन अस्थानीय तथा अप्रासंगिक हैं।

संशोधन :

हम पहिले ही कह चुके हैं कि संशोधन की दृष्टि से यह संस्करण अच्छा है, कितनी ही प्रवाहपतित भूलों का इसमें परिमार्जन हुआ है; फिर भी पूर्व से चलती आई थोकबन्ध अशुद्धियाँ इसमें भी रह गई हैं। भीमसी माणक के संस्करण की कितनी ही भूलें महेसाना के संस्करण में सुधरी हैं। वैसे भीमसी माणक की कतिपय भूलें महेसाना वालों ने अपनायी हैं तथा महेसाना का अनुसरण इस संस्करण के संशोधकों ने भी किया है। खास कर भाषा की कृतियाँ "पाक्षिकादि अतिचार" "सकल तीर्थ वन्दना" आदि में भीमसी माणक ने भाषाविषयक परिवर्तन कर मूल कृति में विकृति की थी। उसी रूप में महेसाना तथा अष्टांग-विवरणकार ने अपने संस्करणों में उसकी पुनरावृत्ति की है। खास तौर से ऐसी विकृतियों को प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सुधारकर भूलों के रूप में उन्हें प्रकाशित करना चाहिये था। "अजितशान्तिस्तव" में जैसे प्राचीन टीका के आधार पर शाब्दिक परिवर्तन किया है उसी प्रकार उक्त कृतियों को इसके शुद्ध रूप में उपस्थित किया होता तो योग्य माना जाता।

अजित शान्तिस्तव में किये गये परिवर्तन :

"अजित शान्तिस्तव" में कितनी ही ह्रस्व, दीर्घ की भूलें सुधारी हैं यह तो ठीक, पर छन्दों के आधार से इसमें कितनी ही जगह गाथाओं का जो अंग-भंग किया है वह अक्षन्तव्य है। संशोधक ने चाहे जिस

कारण से भी "अजित शान्तिस्तव" के छन्दों की छेड़छाड़ की हो पर उसमें अपनी बुद्धि का ही प्रदर्शन किया है। "छन्दशास्त्र' यह कोई कतिपय वृत्तवाहिनी लघुतरंगिणी नहीं पर लाखों वृत्तों का "महार्णव" है। इसका विचार किये बिना अजित शान्तिस्तव के हजारों वर्षों के पुराने छन्दों की जात का थाह लेने की चेष्टा भी संशोधक को विचारणीय हो पड़ी है। ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए संशोधक ने अजित शान्तिस्तव के छन्दों की चर्चा कैसे की यह समझ में नहीं आता।

छन्दों का जाल बहुत जटिल है। अजित शान्तिस्तव के छन्दों का संशोधन करने वाला संशोधक स्वयं ही भूल-भूलामणी में फंसकर "उपजाति" को "इन्द्रवज्रा" तथा "औपछन्दसिक" को "वैतालीय" लिखने की भूल कर बैठे हैं कि जिसकी इनको खुद को खबर नहीं पड़ती, तब अजितशान्ति के छन्दों की इनकी समालोचना भूल भरी न हो, ऐसा कौन कह सकता है।

टीकाकारों का कर्त्तव्य सूत्र के पाठों की शुद्धि करने का था, इसलिये आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं की पुरानी प्रतियां इकट्ठी कर प्रत्येक सूत्र तथा सूत्रखण्ड को प्राकृत, संस्कृत पाठों के साथ अर्थ की दृष्टि से मिलान करने का था। जहां अर्थ-वैषम्य मालूम होता वहां मूल प्रति में तपास कर अशुद्धियां पकड़नी थी। इस कार्य के लिये केवल आवश्यक पंचांगी की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की ही जरूरत थी, न कि ११२ जितने आधार-ग्रन्थों की अथवा ३१ जितनी हाथ-पोथियों की बांध-छोड़ करने की। छन्दों की समालोचना करने की और तान्त्रिक तत्त्व का प्रदर्शन करने का कुछ प्रयोजन ही न था। अष्टांग विवरण के स्थान में "१. शुद्धमूल पाठ, २. संस्कृत छाया, ३. गुजराती भाषा में शब्दार्थ, ४. अन्वयार्थ तथा ५. तात्पर्यार्थ" इतनी बातों को लक्ष्य में रखकर विवरण करने की जरूरत थी। अर्थ-निश्चय तात्पर्यार्थ में आ जाता है, तब आधार, इतिहास का सार और छन्द का नाम लक्षण टिप्पण में भी दिया जा सकता था। लेखक ने यदि उपर्युक्त मार्ग ग्रहण किया होता तो कम परिश्रम में और कम खर्च में इससे भी विशेष अच्छा संस्करण तैयार हुआ

होता और कम मूल्य में इसका सर्वत्र प्रचार हो जाता, पर जो काम हो चुका है उसके विषय में अब ज्यादा लिखना आवश्यक नहीं है।

अब हम अपने 'प्रतिक्रमण सूत्र' में तथा प्रतिक्रमण में बोली जाने वाली स्तुतियों स्तवनों आदि में घुसी हुई तथा आज पर्यन्त चली आती अशुद्धियों की सूची देकर इस चर्चा को समेट लेंगे।

लगभग तीन वर्ष पहिले हमने महेसाना के संस्करण को आधार मानकर आवश्यक सम्बन्धी सूत्रों का एक "शुद्धिपत्रक" तैयार किया था और उसको छपवाकर प्रकट करने का भी विचार किया था, पर इसके बाद थोड़े ही समय में "प्रबोध टीका" के प्रथम भाग के प्रकाशन की खुशी में बम्बई में जैनों की सभा हुई और इस कार्य में लगे हुए कार्यकरों को अभिनन्दन दिये गये। हमें लगा कि इस घटना से "प्रतिक्रमण सूत्र" का शुद्ध संस्करण प्रकाशित होने में अब विलम्ब न होगा। अब हमें शुद्धिपत्रक प्रकट करने की आवश्यकता ही न रहेगी। हमने प्रबोध टीका वाले संस्करण का प्रथम भाग मंगवाकर दृष्टिगोचर किया तब कितनी ही भूलें उसमें सुधरी हुई मालूम हुई तब कुछ नई भूलें भी दृष्टिगत हुई। हमने सम्पूर्ण ग्रन्थ छप जाने के बाद ही इसके सम्बन्ध में कुछ लिखने का निर्णय किया। गत चातुर्मास्य में अन्तिम भाग प्रकाशित होते ही उसे मंगाकर ग्रन्थ का मूल पढ़ा और दृष्टि में आयी हुई भूलों की यादी की।

यहाँ हम "प्रबोध टीका" के संस्करण की "अशुद्धियों" का "शुद्धिपत्रक" देते हैं जिसमें कितनी प्रचलित भूलें रहीं तथा कितनी नई भूलें घुसीं यह जान सकेंगे।

卐 卐

- शुद्धि पत्रक -

प्रतिक्रमण प्रबोध टीका वाले का

इरियावही में :

	अशुद्ध—	शुद्ध—
नं० (१)	ईरियावही	इरियावही
(२)	ईरियावहियं	इरियावहियं
(३)	ईरियावहिया	इरियावहिया

संसार-दावानल स्तुति में :

(४)	इंद्रवज्रा	उपजाति

भवनदेवता स्तुति में :

(५)	भुवनदेवता	भवनदेवता
(६)	भुवणदेवया	भवणदेवया
(७)	भुवन-देवी	भवन-देवी

अड्ढाइज्जेसु में :

(८)	पनरससु	पन्नरससु
(९)	पडिग्गह धारा	पडिग्गहधरा
(१०)	महव्वय धारा	महव्वयधरा
(११)	सीलंग धारा	सीलंगधरा
(१२)	अक्खयायार	अक्खुयायार

भरहेसर-बाहुबलि-सज्झाय में :

(१३)	विलयजंति	विलिज्जंति
(१४)	मयणरेहा	मयणरेह
(१५)	मन्ह जिणाण	मन्नह जिणाण
(१६)	भासासमिई	भासासमिईउ
(१७)	छज्जीवकरुणाय	जीवकरुणाय

अशुद्ध—	शुद्ध—
सकलार्हत् में :	
(१८) भगवान् चतुर्धार-	भगवांश्चतुर्धार-
(१९) प्रदीपानलो	प्रदीपानिलो
(२०) कूटादयः, तत्र	कूटादय-स्तत्र
अतिचारों में :	
(२१) जे कोई	अनेरो जे कोई
(२२) अरणपवेसे	अरणपवेये
(२३) मातरु २	मातरियुं २
(२४) पील्यां	पाली
(२५) सविहु-सर्वपण (टि)	सविहु-सर्वनुं (टि०)
(२६) अरणपवेसे	अरणपवेये
(२७) प्रवेश कर्या विना (टि०)	प्रवेदन कर्या विना (टि०)
(२८) मांज्यो	भांज्यो
(२९) अनेरो बीजो	अनेरो अन्यतर
(३०) भक्षित-उपेक्षित-भक्षण करतां उपेक्षा कीधी	भक्षित-उपेक्षित भक्षण कर्युं उपेक्षा कीधी
अतिचारों में :	
(३१) अहवा दशमी	अहिवा दशमी
(३२) अथवा दशमी	अविधवा दशमी
अजित शांति स्तव में :	
(३३) वंचिअ	वंचिअं
(३४) जसुर	जं सुर
बृहच्छान्ति में :	
(३५) लोकोद्योत	लोकोद्द्योत
(३६) भूमण्डले आयतन	भूमण्डलायतने

अशुद्ध—	शुद्ध—
(३७) शाम्यन्तु २	शाम्यन्तु
(३८) राजाधिप	राज्याधिप
(३९) गौष्ठिकपुर	गोष्ठीपुर
(४०) राजाधिपानां	राज्याधिपानां
(४१) राज-संन्निवेशा०	राज्यसंनिवेशा०
(४२) श्री राजाधिपानां	श्रीराज्याधिपानां
(४३) श्री राज-संनिवे०	श्रीराज्यसंनिवेशा०
(४४) श्री पौरमुख्याणां०	श्रीपुरमुख्याणां०
(४५) तित्थयरमाया	गोवालयमाया

संतिकरस्तव में :

(४६) मणुओ सुरकुमारो	मणुअेसरकुमारो
(४७) वइरुट्ट छुत्त	वइरुट्टदत्त

पच्चक्खाणों में :

(४८) साड्ढपोरिसी	साढ पेरिसी
(४९) साड्ढपोरिसिं ४	सड्ढपोरिसिं ४
(५०) पच्छन्न०	पछन्न०
(५१) विगईओ	विगईउ
(५२) बहुलेवेण २	बहलेण २
(५३) अब्भत्तट्ठं २	अभत्तट्ठं २
(५४) पाणहार २	पाणाहार २

पौषध-प्रत्याख्यान में :

(५५) चऊव्विहं	चउव्विहे
(५६) भन्ते	भंते
(५७) चंदवडिसो	चंदवडंसो

संथारा-पोरिसी में :

(५८) कुक्कुडि	कुक्कुड

	अशुद्ध—	शुद्ध—
(५९)	अतरंत	अतरंतु
(६०)	वोसिरसु	वोसिरिसु
(६१)	मणुसासइ	मणुसासए
(६२)	मुज्झह वईर न भाव	मज्झह, न वइर भाव

सकल-तीर्थ में :

(६३)	अट्ठलक्ख	अडलख
(६४)	अंतरिक्ख	अंतरीख

इस अशुद्धि-शुद्धि पत्र में उन्हीं अशुद्धियों को लिया है जिन्हें सम्पादकों ने अपने शुद्धाशुद्ध पत्रक में नहीं लिया। उपरान्त इसके अतिरिक्त भी इन सूत्रों में अशुद्धियां होंगी जो हमारी नजर में नहीं आईं, अथवा तो हमारे लक्ष्य में नहीं आयीं।

इन सूत्रों में प्राचीन पुस्तकों और ग्रन्थान्तरों में पाठान्तर भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन पर ऊहापोह करके ग्राह्य हों उन्हें मूल में दाखिल कर देना चाहिए। उदाहरण के रूप में—'आयरिअ उवज्झाओ' में। 'कुल गणे य' 'कुल गणे वा'।

इत्यादि प्रकार के आवश्यक सूत्रों में अनेक पाठान्तर दृष्टिगोचर होते हैं जो समन्वयापेक्षी हैं। इन सब बातों पर गंभीरता पूर्वक विचार कर गीतार्थों को अपने आवश्यक सूत्रों को परिमार्जित कर शुद्ध और सर्वोपभोग्य संस्करण प्रकाशित करना चाहिए।

卐 卐

शुद्धिविवरण और शुद्धिविचारणा

लेo कल्याणविजय

ई० सन् १९५५ के अक्टूबर की ता० १५ के "जैन सत्यप्रकाश" मासिक में "आपणा आवश्यक सूत्रमां चालती अशुद्धिओ" इस शीर्षक के नीचे हमारा लेख छपकर प्रसिद्ध हुआ था। इस लेख के सम्बन्ध में कतिपय विद्वान् साधुओं तथा गृहस्थों ने आनन्द प्रदर्शित किया था, पर इसके विरोध में किसी ने एक शब्द भी नही लिखा।

नवम्बर महीने में (ता० याद नही) एक समय रात को आठ बजने के बाद जैन विद्याशाला में हमारे रूम में दो आदमी आये। पूछने पर उन्होंने कहा—एक तो पंडित लालचन्द भगवान् गांधी और दूसरा हमारे समधी पं० भगवानदास हरखचन्द के छोटे पुत्र। कुछ प्रासंगिक बातों के बाद श्री गांधी ने "प्रतिक्रमण-प्रबोध टीका" की अशुद्धियों का प्रसंग छेड़ा और बताई हुई अशुद्धियों को प्रमाणित करने वाले प्रमाण पूछे। हमने उनको प्रमाण बताए और कहा—कि प्रत्येक अशुद्धि को साबित करने वाले प्रमाण हैं और हम मुद्रित लेख के विवरण के रूप में अवकाश मिलते ही अन्य लेख द्वारा प्रकट करेंगे।

पंडित श्री गांधी का आकुलता से मालूम होता था कि इनको हमारे उक्त लेख से पारावार दुःख हुआ है। वे बात करते करते जोरों से चिल्ला उठते थे। हमने उनको कह दिया था कि हमने अकस्मात् तुम्हारी भूलें नहीं निकाली, किन्तु प्रथम संस्था को अशुद्धियों के सम्बन्ध में सूचना भी की थी, परन्तु अशुद्धियां मंगवाने के बजाय हमको पुस्तकों का सट भेजकर सम्पादक ने हमारा मुँह बन्द करने का खेल खेला था। उसी के परिणाम-

स्वरूप हमको अशुद्धि सम्बन्धी लेख प्रकाशित करने की फरज पड़ी थी। परन्तु श्री गांधी तो हमारी बात सुनने के पहले अपने रोष का संभार बाहर निकालने में ही अधिक समय पूरा करते थे और सेवाभाव से काम करने वाले साहित्यसेवियों का अपमान मानकर उपालंभ दिये जाते थे। हमको ऐसे साहित्य-सेवकों के लिए अधिक मान न था। मजदूरी ठहरा के कार्य करने वाले मनुष्य पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टि से भले ही सेवक गिने जायें परन्तु भारतीय संस्कृति में ऐसे साहित्य-सेवकों की मान-मर्यादा सीमित होती है। समाज या समाज के व्यक्ति-विशेष के पास से कस कर पारिश्रमिक लेने वाले साहित्य-सेवियों की भूल को भूल कहने का समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार स्वयं सिद्ध है। उक्त प्रकार के साहित्यसेवी श्री गांधी के उपालंभों की हमारे मन पर कुछ भी छाप नहीं पड़ी। परन्तु इतना अवश्य मालूम पड़ा कि श्री गांधी हमारे उक्त लेख के विषय में अविलंब कुछ न कुछ जरूर लिखेंगे यह निश्चित है। लगभग घण्टा भर सिरपच्ची करके अन्त में श्री गांधी "मिच्छा मि दुक्कडं" देकर रवाना हुए।

"शुद्धिविवरण" यथाशक्य जल्दी छपवाने का विचार होने पर भी चातुर्मास्य उतरता होने से अन्यान्य कार्यों के दबाव से विवरण नहीं लिख सके और सन् १९५६ की जनवरी से श्री लालचन्द भाई की "शुद्धि-विचारणा" सत्यप्रकाश में प्रकाशित होने लगी। इससे हमने हमारा कार्य ढीला छोड़ "शुद्धिविचारणा" पूरी होने पर "विवरण" तथा "विचारणा" का उत्तर साथ में ही देने का निर्णय किया। विचारणा के ३ हफ्ते छपने के बाद हमने अहमदाबाद छोड़ा। जाते समय प्रकाश के व्यवस्थापक को सूचना भी की कि "शुद्धिविचारणा" के अन्तिम भाग वाला अङ्क प्रकाशित होते ही मंगवाने पर हमें भेजा जाय, परन्तु हमारी इस सूचना का पालन नहीं हुआ। ऑफिस पर दो तीन पत्र लिखने पर भी कोई अङ्क नहीं आया, इससे विलंब में विलंब हुआ। अन्त में एक परिचित मुनिवर्य को लिखने से थोड़े समय में अङ्क मिला, इससे "शुद्धिविवरण" तथा "शुद्धि-विचारणा" विषयक यह दूसरा लेख लिखना योग्य जान पड़ा। प्रतिक्रमण के मुद्रित पुस्तक में जिस क्रम से सूत्र छपे हैं उसी क्रम से हमने

तद्गत अशुद्धियों का शुद्धिपत्रक दिया है। परन्तु श्री लालचन्द गांधी को शुद्धिविचारणा की इतनी उत्कण्ठा लगी हुई थी कि जो भी अशुद्धियों के प्रतिकार के रूप में हाथ लगा उसी को लिखने लगे। शुरु में ही सब सूत्रों को छोड़कर सर्वप्रथम "बृहच्छान्ति की शुद्धि-विचारणा" लिखी, यह हमारे उक्त कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भले ही श्री गांधी ने चाहे जिस क्रम से लिखा परन्तु हम सूत्र क्रम से ही "शुद्धिविचारणा की समालोचना" करेंगे।

भूल नं० १–२–३ ये इरियावहि में आती 'इ' कार की दीर्घता सम्बन्धी हैं। प्रत्येक गच्छ के प्रतिक्रमण सूत्र में तथा "वन्दारुवृत्ति", "आचारविधि" आदि तपागच्छ के आचार ग्रन्थों में इरियावहि का प्रथमाक्षर (इ) ऐसा ह्रस्व माना हुआ है, फिर भी प्रबोध टीका के संशोधकों ने दीर्घ (ई) का प्रयोग किया है जो हमारे मत से "अशुद्धि" अर्थात् भूल है। बात बात में मुद्रित ग्रन्थों तथा लिखित पोथियों का नाम निर्देश कर श्री गांधी भूलों का बचाव करते हैं। तब इस जगह में सैंकड़ों वर्षों की परम्परागत ह्रस्व इ कार के स्थान में दीर्घ "ई" कार का प्रयोग किस आशय से संशोधकों ने किया यह अज्ञेय बात है। भले ही व्याकरण से वैकल्पिक दीर्घ रूप होता हो, फिर भी इस चिर-प्रचलित तथा पूर्वाचार्यों ने मान्य किये हुए ह्रस्व 'इ' कार को उखाड़ कर दीर्घ 'ई' कार का प्रयोग करना अघटित है। सम्पादकों को अपनी विद्वत्ता बताने के अनेक स्थल थे। सर्वसम्मत प्रयोग को बदल कर पांडित्य बताने की यहां जरूरत न थी।

नं० ४ की अशुद्धि का श्री गांधी ने स्वीकार कर लिया है, इससे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

नं० ५–६–७ इन नम्बरों की तीनों भूलों को श्री गांधी ने "आचार-दिनकर आदि में ऐसा है" यह कहकर बचाव किया है। पर जिन ग्रन्थों के गांधी नाम देते हैं उन ग्रन्थों के निर्माताओं को ये प्रयोग मान्य थे ऐसा वे सिद्ध कर नहीं सकते, तब ये भूलें लिपिकारों की कैसे न हों। कारण

कि किसी भी प्रामाणिक शब्दकोषकार ने "भुवन" शब्द 'घर' अगर 'मकान' के अर्थ में नहीं लिखा, पर 'जगत्', 'जल' इत्यादि के अर्थ में लिखा है। इस स्थिति में 'भुवनदेवता' 'भुवनदेवी' इन नामों को उपाश्रय की अधिष्ठायक देवी मानने की चेष्टा करना निरर्थक प्रयास है। प्राचीन प्रतिष्ठा-कल्पों में और आवश्यक निर्युक्ति में 'भवनदेवो' अथवा 'शय्यादेवी' के रूप में ही इस देवी का नाम देखने में आता है न कि 'भुवनदेवी'।

नं० ८-९-१०-११-१२ ये पांच भूलें 'अड्ढाइज्जेसु' सूत्र की हैं। इनमें की 'पन्नरस' इस भूल के लिए गांधी कहते हैं कि 'पनरस' ऐसा प्रयोग भी होता है। श्री गांधी को मालूम होना चाहिए कि प्राकृत में एक शब्द के अनेक रूप होते हैं। पर उसे हर जगह प्रयोग में नहीं लेते। सूत्र, गद्य वगैरह में 'पन्नरस' इस शब्द का ही प्रयोग होता है, तब छन्दोनुरोध से मात्रा कम करने के लिए संयोगाक्षर को असंयुक्त रूप में भी प्रयोग कर सकते हैं। "अड्ढाइज्जेसु' यह गद्य सूत्र है, इसलिए इसके मौलिक रूप में फेरफार नही होता। 'पडिग्गह' आदि शब्दों के अन्त में 'धार' शब्द का प्रयोग भी यथार्थ नहीं है, कारण कि आवश्यक चूर्णि में 'पडिग्गहधरा' इत्यादि तीनों जगह पर 'धर' शब्द का प्रयोग है। उसी प्रकार हरिभद्रीय टीका से भी 'धार' इस शब्द की सिद्धि नहीं होती। ये भूलें लम्बे समय से रूढ हैं, इससे अर्वाचीन ग्रन्थों में 'धार' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जो प्रामाणिक नहीं माना जाता। "धार" शब्द भाव वाचक प्रत्यय लगने से बनता है, तब प्राकृत स्थल में शब्द प्रयोग कर्तृवाचक प्रत्यान्त ही संगत होता है भाववाचक नहीं। प्राचीन ज्योतिष शास्त्र तथा सूत्रों की चूर्णियों में 'क्षुत' यह शब्द "अशुभ अर्थ में" प्रयुक्त है। इससे "अड्ढाइज्जेसु" में "अक्खुयायार" यह शब्द ही वास्तविक है। तपागच्छ के आचार्य श्री विजयसेन सूरि आदि ने भी "अक्खुयायार" को ही सच्चा प्रयोग माना है।

नं० १३-१४ ये भूलें 'भरहेसर-बाहुबलि' नामक स्वाध्याय की हैं। श्री गाधी "विलयजंति" इस 'अशुद्ध प्रयोग' को लुप्तविभक्तिक मानकर बचाव करते हैं, परन्तु लगभग ५०० वर्ष पहले लिखे हुए इस स्वाध्याय के

एक प्राचीन पन्ने में "विलिज्जंति" ऐसा क्रियापद स्पष्ट लिखा हुआ है। यदि "लक्षणसिद्ध" प्रयोग मिल जाता हो तो अलाक्षणिक प्रयोग को पकड़े रखना यह दुराग्रह मात्र कहा जायगा। प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण पुस्तक में स्वाध्याय के 'मयणरहा' शब्द को हम अशुद्ध मानते हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रयोग को मान्य रखने से गाथा में मात्रा बढ़ती है और छन्दोभंग होता है, इसलिए 'मयणरेह' यह ही प्रयोग रहना चाहिए। आज पहिले के हर पुस्तक में यह प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है। प्राकृत में छन्दोभंग टालने के लिए मात्रा आगे पीछे की जा सकती है।

नं० १५–१६ ये भूलें 'मन्नह जिणाण' स्वाध्याय की हैं। ऐसे तो अन्य मुद्रित पुस्तकों में ये अधिक हैं, परन्तु प्रबोध-टीका में कितनी ही सुधर गई हैं। हमारे पास के हस्तलिखित अति जीर्ण पत्र में "भासासमिईउ जीवकरुणा य" ऐसा पाठ है और यही बराबर है। क्योंकि "छ" शब्द कायम रखने से अक्षर बढ़ता और छन्दोभंग होता है। अत: प्राचीन पत्र में मिला हुआ पाठ ही मूल पाठ गिनना चाहिए। इन्द्रहंस गणि ने चाहे जो पाठ मान्य किया हो, क्योंकि यह मूल कृति उनसे भी बहुत प्राचीन होने से उनके समय से पहले ही यह भूल प्रविष्ट हो गयी होगी और इन्द्रहंस गणि ने इसको स्वीकार कर लिया होगा तो भी इससे यह पाठ मौलिक है ऐसा नहीं कह सकते।

नं० १७–१८–१९ ये तीन भूलें सकलार्हत् स्तोत्र की हैं। इनमें १७ और १९ नम्बर की भूलें संधि-विषयक हैं। श्री गांधी कहते हैं– "सुगमता के खातिर संधि नहीं की।" पर गांधी को समझ लेना चाहिए था कि पद्य-विभाग में ऐसा करने का कवि सम्प्रदाय नहीं है। प्रथम द्वितीय पाद में तथा तृतीय चतुर्थ पाद में यदि संधि को अवकाश हो तो अवश्य कर लेना चाहिए, ऐसा कवि सम्प्रदाय का दृढ़ नियम है। यह बात सम्पादकों के ध्यान में हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। भूल नं० १८वीं शब्दान्तर विषयक है, प्रबोध-टीका में 'अनल' शब्द का प्रयोग है जो सचमुच ही विपरीत है। वास्तव में वायु वाचक "अनिल" शब्द होना चाहिए, क्योंकि 'दीपक' को बुझाने के लिए वायु ही प्रसिद्ध है न कि 'अनल',

अर्थात् 'अग्नि', क्योंकि 'दीपक' और 'अग्नि' तो एक ही चीज है, इसलिए 'अनल' शब्द यहां किसी काम का नहीं है। श्री गांधी को यह समझ लेना चाहिए था कि 'उपमा' एकदेशिक होती है और उपमेय के किसी भी एक गुण का स्पर्श करती है, न कि इसके सम्पूर्ण जीवन का। पाप प्रतापक है इसलिये इसको "दीपक" रूप "अग्नि" की उपमा देना संगत है और "वीतराग देव पापनाशक हैं" इसलिए पाप रूप दीपक को बुझाने के लिए समर्थ होने से उनको "वायु" की उपमा बराबर घटित होती है। श्री गांधी का यह दुराग्रह मात्र है कि ऐसी स्पष्ट भूलों का भी बचाव करते है।

नम्बर २०–२१–२२–२३–२४–२५–२६–२७–२८–२६–३०–३१ अतिचार की बारह भूलों में से एक भी भूल का श्री गांधी ने बचाव नहीं किया। वैसे भूलों को स्वीकार नहीं किया, यदि ये भूलें इनको ज्ञात हुई होती तो इनका स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए था और ये भूलें नहीं हैं यह जानते तो इनका प्रतीकार करने की आवश्यकता थी, क्योंकि प्रत्येक भूल के सम्बन्ध में इन्होंने अपना बचाव करने की ही नीति अपनाई है। यह स्थिति होने पर भी गांधी यहां कुछ भी नहीं बोलते, यह एक अज्ञेय बात है। हमें लगता है कि उक्त भूलें श्री धीरजलाल की अथवा श्री गांधी की न होकर सम्पादक मंडलान्तर्गत एक पंन्यासजी की होनी चाहिए। क्योंकि प्रबोध टीका के पहले पालीताना से छपकर प्रकाशित होने वाले एक पंच प्रतिक्रमण के पुस्तक में इन्हीं भूलों की पूर्वावृत्ति हुई हमने देखी है। वह पुस्तक भी प्रस्तुत सम्पादक मण्डल में के एक पन्यास के तत्त्वावधान में ही छपी है और उन्हीं भूलों की इसमें पुनरावृत्ति की हो ऐसा लगता है।

नं० ३२–३३ इन अजित शान्ति की दो भूलों में से पहिली पहिले से चली आने वाली है और दूसरी भूल है प्रेस की। श्री गांधी ने मेहसाना की आवृत्ति में आते "आसी" इस दीर्घ 'ई' कारांत क्रियापद को शुद्ध ठहराने का प्रयत्न किया है। प्राकृत भाषा में ऐसे ह्रस्व-दीर्घ विषयक प्रयोग होते ही रहते हैं। सूत्रकालीन भाषा में "आसि राया महिड्ढिओ"

इत्यादि वाक्यों में ह्रस्व इकार का ही प्रयोग विशेष आता है। "अजित-शान्तिस्तव" भी सूत्रकालीन है, इसलिए 'ह्रस्व इकारान्त' ही 'आसि' होना चाहिए और प्रबोध टीकाकार ने भी यह ह्रस्व इकारान्त प्रयोग ही स्वीकार किया है। श्री गांधी को इसके सम्बन्ध में इतना लिखने की क्या आवश्यकता पड़ी यह हमारी समझ में नहीं आता।

नं० ३४ से ४४ पर्यन्त की ग्यारह भूलें हमने दिखाई हैं, उनका विवरण यह है—'उद्योत' इस शब्द में उत् उपसर्ग और 'द्योत' शब्द होने से 'उद्द्योत' इस प्रकार डबल "दकार" होना चाहिए परन्तु छपा एक है। यह व्याकरण की भूल सुधरनी चाहिए। 'भूमण्डले आयतन' निवासी यह पाठ प्रबोध टीका के सम्पादकों का स्वीकृत पाठ है। परन्तु हमारी राय में 'भूमण्डलायतने' निवासी पाठ होना चाहिए। आयतन शब्द जैन-शास्त्र में पारिभाषिक माना है और इसका अर्थ "धर्मस्थानक" ऐसा होता है, अर्थात् 'भूमण्डले आयतन निवासी' यह पाठ खरा माना जायगा तो साधु-साध्वियां तो ठीक पर श्रावक श्राविका का स्थान आयतन नहीं माना गया और इससे इन दोनों का निर्देश निरर्थक ठहरेगा। शान्ति के टीकाकार श्री हर्षकीर्ति सूरि ने आयतन का अर्थ "स्व स्व स्थान" ऐसा जो किया है वह शास्त्र की दृष्टि से भूल भरा है। जैन सिद्धान्त में गृहस्थ के घर को जिसमें ये खुद रहते हों उसको आयतन नहीं माना। "आयतन" का अर्थ "जिन-मन्दिर" अथवा "जैन साधु साध्वियों के रहने के स्थल" ऐसा होता है। आयतन का उक्त अर्थ होने से 'भूमण्डले आयतन निवासी' यह पाठ आपत्तिजनक ठहरेगा, इस वास्ते भूमण्डल को ही आयतन मानकर शांतिकार ने उस पर रहने वाले साधु साध्वी आदि चतुर्विध संघ का नाम निर्देश किया है। "शाम्यन्तु २" इस पाठ का बचाव करते हुए श्री गांधी लिखते हैं कि प्राचीन पोथी में "शाम्यन्तु शाम्यन्तु" ऐसा पाठ मिलता होने से प्रकाशित किया है। गांधी के इस बचाव को हम विश्वसनीय नहीं मानते, कारण कि जिन हर्षकीर्ति सूरि के वचनों पर वे इतना विश्वास रखते हैं वे ही हर्षकीर्ति "शाम्यन्तु" इस क्रियापद को "डमरुक न्याय से दो तरफ जोड़ने का उल्लेख करते हैं।" यदि उनके पास वाले पुस्तक में "शाम्यन्तु २"

ऐसा द्वित्व पाठ होता तो उनको डमरुक न्याय लगाने की आवश्यकता ही न रहती। इससे जाना जाता है कि प्राचीन पोथी का नाम आगे करके गांधी अपना बचाव मात्र करना चाहते हैं। वादिवेतालीय अर्हदभिषेक विधि का हमने जिस प्राचीन प्रति पर से सम्पादन किया है उसमें—

"श्रीसंघजगज्जनपद,–राज्याधिपराज्यसन्निवेशानाम् ।
गोष्ठी-पुर-मुख्याणां, व्याहरणैर्व्याहरेच्छान्तिम् ॥"

—यह आर्या लिखी है, जिसमें राज्याधिप, राज्यसन्निवेश, गोष्ठी, पुरमुख्य, ये शब्द प्रयुक्त होते हैं और उसके पंजिकाकार ने भी यही पाठ मान्य रक्खा है। वास्ते राजाधिप, –राजसन्निवेश, गौष्ठिक, पौरमुख्य, इन शब्दप्रयोगों को हमने अशुद्ध बताया है, कारण कि प्रस्तुत शान्ति ही अभिषेककार की है इसलिए उनके शब्द ही शुद्ध माने जाने चाहिए। अब रही 'तित्थयर माया' की बात, सो पहले तो यह गाथा शान्तिकार की कृति नहीं है, किन्तु पीछे से किसी ने जोड़कर शान्ति के पीछे लगा दी है और इसमें आने वाला "तित्थयर" यह शब्द किसी ने घुसेड़ दिया है, क्योंकि स्वर्गस्थित तीर्थङ्कर माता श्री शिवादेवी का इस शान्ति के साथ कोई सम्बन्ध किसी भी प्रमाण से साबित नहीं होगा। किन्तु आवश्यक चूर्णि में कही हुई एक घटना पर से इस वस्तु का सम्बन्ध उज्जेणी के राजा "चण्डप्रद्योत" की पट्टरानी "शिवादेवी" के साथ हो सकता है। अभय-कुमार चण्डप्रद्योत के ताबे में था, उस समय की घटना है कि उज्जयिनी में महामारी फैल गई थी। प्रतिदिन सैंकड़ों मनुष्य मरते थे, तब इस महामारी की उपशान्ति के लिए अभयकुमार को चण्डप्रद्योत ने उपाय पूछा। अभयकुमार ने कहा—व्यन्तर देवियों का उपद्रव है, जो राजा की मुख्य पट्टरानी शिवादेवी महलों पर की चांदनी में खड़ी रह कर व्यन्तरियों को अपने हाथ से बलि-क्षेप करे तो महामारी का उपद्रव शान्त हो सकता है। उपर्युक्त अभयकुमार की सलाह के अनुसार बलि तैयार करा कर रानी शिवादेवी महल पर चढ़कर जिस जिस दिशा में से व्यन्तरी शिवारूप से बोलती रानी उसके मुख में बलिक्षेप करती और वहां 'अहं सिवागोवालय-

माया' ये शब्द बोलती और व्यन्तरी के मुख में बलिक्षेप करती। इस घटना और उस पर बोले गये शब्दों पर से किसी ने—

"अहं गोवालयमाया, सिवादेवी, तुम्ह नयरनिवासिनी।
अम्ह सिवं तुम्ह सिवं, असिवोवसमं, सिवं भवतु स्वाहा॥"

यह गाथा जोड़ दी और कालान्तर में वह शान्तिपाठ के अन्त में लिख ली गई। बाद में किसी संशोधक ने उल्लिखित "शिवा" को चण्ड-प्रद्योत की पट्टरानी न समझ के नेमिनाथ की माता मानकर 'गोवालय' के स्थान में 'तित्थयर' शब्द जोड़ दिया। श्री गांधी उत्कंठा पूर्वक श्री-हर्षकीर्ति की टीका का पाठ लिखकर कहते हैं कि—"हर्षकीर्ति सूरि भी 'तित्थयर' माता लिखते हैं।" श्री गांधी को शायद खबर न होगी कि श्री हर्षकीर्ति सूरि कोई श्रुतधर या गीतार्थ आचार्य नहीं थे। किन्तु सत्रहवें सैके के कतिपय यतियों के अग्रेसर आचार्य नामधारी यती थे, जो परिग्रह-धारी होकर दवा-दारू का व्यवसाय करते थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह प्रमाण है, यह मान लेने की आवश्यकता नहीं है। हर्षकीर्ति के उक्त कथन से इतना ही प्रमाणित हो सकता है कि "तित्थयरमाया" यह भूल हर्षकीर्ति के समय के पहिले की है।

नं० ४५–४६ ये दोनों भूलें "संतिकर स्तव" की हैं जो अन्य किसी प्रकार से पाठ-साम्य से किसी ने इसमें यह पाठ ले लिया है। मालूम होता है श्री गांधी भी श्री सोमतिलक सूरि के "सप्ततिशत स्थानक" प्रकरण में "मणुअेसर कुमारो" तथा "वइरुट्टदत्त" यह पाठ होना स्वीकार करते हैं, तब इसके विरोध में इतना ऊहापोह करने की क्या आवश्यकता थी और "१४६७ में लिखी हुई प्राचीन पोथी के अनुसार छपा हुआ पाठ है ऐसा स्मरण है।" यह संदिग्ध वचन लिखने की क्या जरूरत थी? यह हम समझ नहीं सकते, हमने यह पाठ लगभग पन्द्रहवें सैकड़े के अन्त में या तो सोलहवें सैके की आदि में लिखे हुए एक जीर्ण पत्र के आधार पर सुधारा है। गांधी को यदि चौदह सौ सत्तानवें में लिखी हुई पोथी में यह छपा

हुआ पाठ देखा हो तो निशंकता से जाहिर करे। हम भी उनके कथन पर फिर विचार करेंगे।

नं० ४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३ ये भूलें प्रत्याख्यानों के पाठों की हैं। इनकी संख्या सात लिखी है, पर वास्तव में सब भूलें गिनने पर १३ होती हैं, क्योंकि कोई दो बार और कोई चार बार आई हुई हैं। इन भूलों के सम्बन्ध में लिखते हुए श्री गांधी कहते हैं कि प्रत्याख्यान में अनेक पाठान्तर हैं, पर यह उनकीं एक कल्पना मात्र है। ऊपर बताई हुई भूलों में कोई भी भूल पाठान्तर रूप नहीं परन्तु वास्तविक अशुद्धि है। 'बहुलेवेण' इस भूल को वे वृत्ति के आधार पर शुद्ध पाठ मानते हैं, परन्तु उस वृत्ति का कर्त्ता कौन और उस वृत्ति का नाम क्या? यह कुछ भी नहीं लिखा। इससे मालूम होता है कि यह आपने अपने बचाव का उपाय खोजा है। इन भूलों को कोई भी टीकाकार पाठान्तर के रूप में भी शुद्ध नहीं मानेंगे, क्योंकि पानी के "छः आकारों में दो दो आकार एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी" हैं। "लेवेण, अलेवेण, अच्छेण, बहलेण, ससित्थ, असित्थ" ये दो दो शब्द एक दूसरे पानी की भिन्नता बताते हैं, इसलिए "लेप" शब्द "अलेव" के साथ आ गया है। फिर "बहुलेव" शब्द को इस स्थल पर अवकाश नहीं रहता और "बहुलेव" वाला पानी प्रत्याख्यान में कल्प्य भी नहीं है। अतः "बहुलेव" यह शब्द अशुद्ध है। अगर किसी अर्वाचीन भाषान्तरकार ने स्वीकार भी किया हो तो भूल ही मानी जायगी। सूत्रों तथा प्राचीन प्रत्याख्यान सम्बन्धी प्रकरणों में सर्वत्र "बहलेण" यह ही पाठ दृष्टिगोचर होता है। भाषा में "साढं" प्रयोग नहीं हो सकता; "ठ" के द्वित्व वाला "साड्ढ" यह प्रयोग भूल भरा है। प्राकृत में 'सड्ढ' यह प्रयोग ही शुद्ध है। प्राकृत में "पच्छन्न" शब्द लिखने की कुछ भी जरूरत नहीं होती। संस्कृत भाषा में ह्रस्व के आगे 'छ' को द्वित्व 'च्छ' करने की जरूरत होती है, प्राकृत में नहीं। नं० ५० भूल की गांधी ने चर्चा नहीं की; इससे मालूम होता है कि वह इनको मंजूर है। नं० ५२ की भूल श्री गाँधी ने स्वीकार करली है, इससे इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। नं० ५३ की भूल 'पाणहार' को गांधी प्रवाहपतित मानकर

इसका बचाव करते हैं। उपयोगशून्यता से प्रचलित हुई इन भूलों का सुधार न कर बचाव करना यह सचमुच ही जड़ता है।

नं० ५४-५५-५६ ये तीन भूलें पौषध प्रत्याख्यान की हैं। इन भूलों का बचाव करते हुए श्री गांधी लिखते हैं कि 'ठामि काउसग्गं' इसमें जैसे "काउसग्ग" शब्द को द्वितीया विभक्ति लगाई है वैसे "पोसह" शब्द को भी द्वितीया विभक्ति लगाकर "पोसहं" किया यह कुछ गलत नहीं है, परन्तु श्री गांधी को शायद यह खबर नहीं है कि "ठामि काउसग्गं" यह प्रयोग सौत्र है। इसी से टीकाकारों ने अकर्मक 'ठा' धातु को सकर्मक "कृञ्" धातु के अर्थ में मानकर इस प्रयोग का निर्वाह किया है। पौषध प्रत्याख्यान यह सामाचारीगत प्राकृत पाठ हैं, इसमें द्वितीया लगाकर जानबूझ कर अलाक्षणिक पाठ बनाना अनुचित है "आचारविधि" "पौषध-प्रकरण" आदि में "चउव्विहे पोसहे" ऐसा ही पाठ मिलता है जिसको विगाड़ कर प्रबोध टीका के संशोधकों ने भूलें खड़ी की हैं। 'भन्ते' पाठ के व्याकरण का वैकल्पिक रूप मानकर गांधी बचाव करते हैं, परन्तु वास्तव में सूत्र के प्रकरणों में ऐसा प्रयोग ग्रहण नहीं किया। क्योंकि कितने ही स्वयं पढ़ करके पौषध ग्रहण करते हैं। व्याकरण ज्ञान के अभाव में उनको 'भन्ते' जैसे शब्द अशुद्ध उच्चारण की तरफ ले जाएँगे। अतः 'भन्ते' इसी प्रयोग को स्वीकार करना चाहिए। "चन्द्रावतंसक" का रूप "चन्दवडिंसो" यह भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं माना जाता। कितने ही स्थलों में ऐसे प्रयोग देखने में आते हैं, पर वे प्रचलित भूल का परिणाम मात्र हैं। ऐसे प्रयोगों को लाक्षणिक सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः "चन्दवडंसो" यही प्रयोग शुद्ध है यह मानना चाहिए।

नं० ५७-५८-५९-६०-६१ इन "संथारा पोरिसि की" भूलों में से प्रथम भूल के विषय मे गांधी अमुक ग्रन्थों का हवाला देकर उसको "कुक्कुडि" ऐसे रूप में शुद्ध ठहराना चाहते हैं, परन्तु वास्तव में अर्वाचीन ग्रन्थों में देखा जाता "कुक्कुडि" यह शब्द प्रयोग शुद्ध नहीं है, क्योंकि स्त्री वाचक 'कुक्कुडी' शब्द को मानेंगे तो वह 'कुक्कुडी' ऐसा स्त्री प्रत्ययान्त दीर्घ होने

की आपत्ति आती है और ऐसा होने से छन्दोभंग होगा। "श्री तिलकाचार्य कृत सामाचारी" आदि ग्रन्थों में जहां संथारा पोरिसी की गाथायें दी गई हैं वहां 'कुक्कुड' शब्द का ही प्रयोग किया है। गाथान्तरों में 'कुक्कुड' अथवा 'कुक्कुडि' शब्द भी हो सकता है, परन्तु प्रस्तुत गाथा में तो 'कुक्कुड' शब्द प्रयोग ही शुद्ध है। 'कुक्कुडि' का स्वीकार करने से लाक्षणिक भूल आती है और लाक्षणिक भूल को बचाने से छन्दोभंग होता है, यह पहिले ही कह चुके हैं। हमारे पास के अतिप्राचीन पन्ने में लिखी हुई संथारा पोरिसी में भी "कुक्कुड" ऐसा ही पाठ मिलता है और उसी पन्ने में "अंतरंत नहीं" पर "अतरन्तु" प्रयोग लिखा हुआ है, जो यथार्थ है क्योंकि अलाक्षणिक विभक्ति का लोप मानने से भी छन्दोभंग टालने के लिए दीर्घ स्वर को ह्रस्व बनाना यह विशेष उचित माना जायगा। यह कर्मणि प्रयुक्त सौत्र क्रियापद है और उन अष्टादश पाप-स्थानों को आत्मा ने छोड़ा उसका इस क्रियापद से सूचन किया है, न कि इस पद से 'बोसिरसु'। आत्मा किसी को पाप-स्थानकों के त्याग का उपदेश करता है। अगली गाथा के साथ इस गाथा का सम्बन्ध होने का कथन भी गांधी की कल्पना मात्र है। अगली गाथा में सूत्रकार आत्मा को अेकत्व भावना में उतार कर अनुशासन करने का उपदेश करते हैं, इसीलिए "अनुसासइ" नहीं पर "अणुसासअे" ऐसा विध्यर्थक क्रियापद जोड़ा है। गांधी "मुज्झह वईर न भाव" इस भ्रान्त पाठ का बचाव करते हुए "आचार दिनकर" तथा चौदहवीं शती की ताडपत्रीय पोथी की गाथा लिखकर कहते हैं कि इसमें "न मह वइरु न पाओ" "नइ मह वइरु न पावु" ऐसा पाठ होने का सूचन करते हैं, परन्तु इन दोनों गाथाओं के चरण में "अंतिम" शब्द "पाओ" अथवा "पावु" शब्द है, "भाव" शब्द नहीं। गांधी को अगर यह पाठ यथार्थ लगा होता तो भाव के स्थान पर 'पाव' शब्द को स्वीकार किया होता। केवल अपने शब्द प्रयोगों को खरा ठहराने के लिए अन्यार्थवाचक शब्द का प्रमाण देने से यह पाठ शुद्ध नहीं ठहर सकता।

नं० ६२–६३ सकलतीर्थ में आते "अडलख" तथा "अंतरीख" आदि भाषा के शब्दों को द्वित्व व्यंजनों द्वारा भारी बनाने की कुछ भी जरूरत

नहीं थी, कारण कि प्राचीन भाषा पर से किसी भी अर्वाचीन भाषा का निर्माण होता है। पर श्री गांधी अर्वाचीन भाषा के प्रचलित शब्दों को प्राचीन भाषा की तरफ खींचकर उलटी गंगा चलाते हैं।

"अपने आवश्यक सूत्रों में चलती हुई अशुद्धियां" इस शीर्षक के नीचे हमने बताई हुई अशुद्धियों का विवरण और गांधी लालचन्द भगवान् की "शुद्धिविचारणा" की मीमांसा ऊपर लिखे अनुसार है। शुद्धिविचारणा में गांधी ने अनेक स्थलों में आन्तर विषयों पर लक्ष्य देकर कुछ वर्णन किया है। उस पर हमें कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु कुछ बातें इन्होंने ऐसी लिखी हैं कि जिनका उत्तर देना भी आवश्यक है।

अजितशान्ति के छन्दों के सम्बन्ध में हमारी टीका श्री गांधी को कुछ कटु ज्ञात हुई होगी, इससे वे पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टान्त देकर छन्द आदि के संशोधन का सम्पादकों को अधिकार होने की बात करने निकले हैं, सो तो ठीक है, अधिकारी के लिए अधिकार होना बुरा नहीं। आधुनिक अथवा तो मध्यकालीन छन्दःशास्त्र के छन्दों द्वारा अजितशान्ति के छन्दों की तुलना कर उनमें अशुद्धियां बताने का संशोधकों को अधिकार नहीं था। "प्राकृत छन्दःशास्त्र" में एक ही नाम के भिन्न २ लक्षण वाले छन्द होते हैं। इस स्थिति में नाम सादृश्य को लेकर एक का लक्षण दूसरे उसी नाम के छन्दों में घटाने में भूल का विशेष संभव रहता है। अजितशान्ति के निर्माण-काल में बने हुए किसी प्राकृत छन्दःशास्त्र के संशोधकों को हाथ लगने की भी बात इन्होंने कहीं लिखी नहीं है, इससे भी छन्दोविषयक हमारी टीका यथास्थान थी। युरोपियन छन्द आदि की मीमांसा करके उसमें से कुछ तत्त्व निकालते हैं। छन्दों पर से कृति का निर्माण समय अनुमित करते हैं। व्याकरण आदि के प्रयोगों पर से भी वे कृति की प्राचीनता अर्वाचीनता का पता लगाते हैं। प्रबोध टीका के संशोधकों ने ऐसी लाइन से छन्दो-विषयक चर्चा की होती तो हमको कुछ भी कहना नहीं था, पर इन्होंने तो अर्वाचीन छन्दःशास्त्र के आधार से प्राचीन छन्दों की परीक्षा करके कितने ही स्थलों में गाथाओं का अंग भंग कर दिया है, इससे हमें कुछ लिखना पड़ा है।

मूल सूत्रों में अन्तःशीर्षक तथा गुरुप्रति-वचन :

मूल सूत्रों में अन्तःशीर्षकों और गुरुप्रति वचनों को दाखिल करने का हमने विरोध किया। उसका बचाव करते हुए श्री गांधी कहते हैं कि "प्राचीन टीकाकार ऐसा करते आये हैं", यह उनका कथन केवल भ्रान्त है। प्राचीन किसी भी टीकाकार ने अन्तःशीर्षक अथवा तो गुरु-प्रति वचन मूल पाठ में दाखिल नहीं किये। लेखकों की अज्ञानता से मूल टीका के साथ वैसा कहीं लिखा गया हो तो बात जुदी है, बाकी टीकाकारों का कर्त्तव्य तो टीकाओं में प्रत्येक सूत्र का रहस्य प्रकट करने का होता है। अष्टांग-विवरणकार की तरह विधि में लिखने की बात मूल में मिलाकर विकृति उत्पन्न करने का नहीं। पूर्व टीकाकारों के नाम लेकर गांधी का यह बचाव बिल्कुल पंगु है, इसी प्रकार लघुशान्ति में दिये हुए अन्तःशीर्षक पुस्तक-पाठियों के लिए असुविधाजनक है। परन्तु जहां लेखकों को अपना तांत्रिक ज्ञान बताने की उत्कंठा हो वहां इनको वाचकों की सुविधा-दुविधा का विचार न आये यह स्पष्ट है।

उपसंहार :

हमारे पूर्व लेख में "आयरिय उवज्झाअे" आदि सूत्रों में टीकाकारों के दिये हुए पाठान्तर का समन्वय करने की हमने गीतार्थों को विज्ञप्ति की थी। जिसका प्रबोध टीका या उसके संशोधकों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं था, फिर भी अस्थापित-महत्तर बनकर श्री गांधी ने अपने अधैर्य का प्रदर्शन कराया यह अनावश्यक था। गांधी गीतार्थ या गीतार्थों के प्रतिनिधि नहीं हैं, तब इनको इसमें झुक पड़ने की जरूरत क्यों पड़ी? यह हम समझ नहीं सकते। हम चाहते हैं कि श्री गांधो ऐसी अनधिकृत प्रवृत्तियों में पड़ने का मोह छोड़ेंगे तो अपनी मर्यादा को बचा सकेंगे।

यहाँ भी हम गीतार्थ वर्ग को विज्ञप्ति करते हैं कि ऊपर हमने जो शुद्धि-पत्रक दिया है वह प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण सूत्र के मूल की अशुद्धियों का है। इसकी टीका में जैन शैली के विरुद्ध अनेक भूलें होने

का संभव है, इसी प्रकार प्रतिक्रमण सूत्र का विस्तृत विवरण लिखवा कर महेसाना श्री जैनश्रेयस्कर मण्डल ने बड़े चोपड़े के रूप में प्रकाशित किया है उसमें भी हमने जैन शैली के विरुद्ध कितनी ही भूलें देखी हैं। इसलिए इन दोनों पुस्तकों के भाषा-विवरणों में परिमार्जन करना चाहिए, अन्यथा इनमें रही हुई भूलें जैन शैली का रूप धारण करेंगी और पढ़ने वाले भ्रमणा में पड़ेंगे।

परिशिष्ट १
आवश्यक क्रिया के सूत्रों में अशुद्धियाँ

❖

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
लोगस्स में :	
विहुयरयमला	विहूयरयमला
जगचिंतामणि में :	
समहुण	समणह
मुहुरिपास	महुरिपास
दिसिविदिसिं	दिसिविदिसिकेवि
अट्ठकोडिओ	अट्ठकोडीओ
उवसग्गहर में :	
भत्तिब्भर	भत्तिभर
जयवीयराय में :	
दुक्खक्खओ	दुक्खखओ
कम्मक्खओ	कम्मखओ
पुक्खरवरदीवड्ढे में :	
धायईसंडे अ	धायइसंडे अ
जंबुदीवे अ	जंबूदीवे अ
जाइजरा	जाईजरा
स्सब्भुअ	स्सब्भूअ
सातलाख में :	
जीवायोनि	जीवयोनि

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
वंदित्तु में :	
चऊहिं	चउहिं
मणुव्वयाणं	मणुवयाणं
उवभोग-परीभोगे	उवभोगे-परिभोगे
मज्झ	मज्झं
निंदिअय	निंदिउं
एवमह	एवं मइ
दुगंछिउं	दुगंछिअं
भवनदेवता स्तुति में :	
भुवन	भवन
भुवण	भवण
भुवन	भवन
अड्ढाइज्जेसु में :	
पनरससु	पन्नरससु
केवि	केइ
साहु	साहू
पडिग्गहधारा	पडिग्गहधरा
°व्वयधारा	°व्वयधरा
सीलंगधारा	सीलंगधरा
लघुशान्ति में :	
निर्वृत्ति	निर्वृति
दृष्टिनां	दृष्टीनां
चउक्कसाय में :	
मुसुमूरणू	मुसुमूरणु
भरहेसर-बाहुबलि-सज्झाय में :	
थूलिभद्दो	थूलभद्दो

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
विलयजंति	विलिज्जंति
थूलिभद्दस्स	थूलभद्दस्स

मण्णहजिणाणं सज्झाय में :

मण्ह	मण्णह
उज्जुत्तो	उज्जुत्ता
होइ	होह
समिइ	समिई
गुरुथुअ	गुरुथुइ
करुणा	करुणा

सकलार्हत् में :

मल्ली	मल्लि
राजार्चिताना	राजार्चितानां
प्रदोपानलो	प्रदीपानिलो

स्नातस्या स्तुति

जिन	जिनः
हंसामाहत	हंसांसाहत

अतिचारों में :

वच्छल	वच्छल्ल
नाण	ण्हाण
समसंलेहण	सम्मसंलिहण
पन्नर	पनर
तप	तव

अजितशांति स्तव में :

लक्खणोवचि अ	लक्खणोवचि अं

बृहच्छान्ति में :

राजाधिप	राज्याधिप

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
राजासंनिवेशानाम्	राज्यसंनिवेशानाम्
श्री राजाधिपानां	राज्याधिपानां
श्री राजसंनिवेशानां	राज्यसंनिवेशानां
श्री पौर मुख्याणां	श्री पुरमुख्याणां
मस्तकेदातव्यमिति	मस्तके प्रदद्यादिति
भवन्तु लोकाः	भवतु लोकः

प्रतिक्रमण प्रबोध टीका का प्रथम भाग प्रकाशित होने के पूर्व तीसरे वर्ष में यह शुद्धिपत्रक मेहसाना के संस्करण के आधार से तैयार किया था। उक्त शुद्धि-पत्रक की ५६ अशुद्धियों में से कुछ प्रबोध टीका-कारों ने सुधारी हैं, वैसे कुछ नयी घुसेड़ी हैं। प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण में कुल ६४ अशुद्धियों का अङ्क आता है।

卐 卐

निबन्ध-निचय

द्वितीय खण्ड

卐 卐

ऐतिहासिक तथा

समालोचनात्मक लेख संग्रह

卐

: २० :

प्राचीन जैन तीर्थ

लेखक—पं० कल्याणविजय गणि

उपक्रम :

पूर्वकाल में "तीर्थ" शब्द मौलिक रूप में "जैन प्रवचन" अथवा "चातुर्वर्ण्य संघ" के अर्थ में प्रयुक्त होता था ऐसा जैन आगमों से ज्ञात होता है। जैन प्रवचनकारक और जैन-संघ के स्थापक होने से ही "जिन-देव" "तीर्थङ्कर" कहलाते हैं।

"तीर्थ" का शब्दार्थ यहाँ "नदी समुद्र से बाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग" होता है। आज की भाषा में इसे "घाट" और "बन्दर" भी कह सकते हैं। जैन शास्त्रों में "तीर्थ शब्द" की व्युत्पत्ति "तीर्यते संसारसागरो येन तत् तीर्थम्" इस प्रकार से की गई है। संसार-समुद्र को पार कराने वाले "जिनागम" को और "जैन श्रमण संघ" को "भाव-तीर्थ" बताया गया है। तब नदी-समुद्रों को पार कराने वाले तीर्थों को "द्रव्य-तीर्थ" माना है।

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैन आगमों में कुछ और भी तीर्थ माने गए हैं, जिन्हें पिछले ग्रन्थकारों ने "स्थावर तीर्थों" के नाम से निर्दिष्ट किया है और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गए हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचाराङ्ग, आवश्यक आदि सूत्रों की "निर्युक्तियों" में मिलता है जो मौर्य राज्यकाल से भी प्राचीन ग्रन्थ हैं।

जैन स्थावर तीर्थों में अष्टापद (१), उज्जयन्त (गिरनार) (२), गजाग्रपद (३), धर्मचक्र (४), अहिच्छत्रा-पार्श्वनाथ (५), रथावर्त

पर्वत (६), चमरोत्पात (७), शत्रुंजय (८), सम्मेतशिखर (९) और मथुरा का देवनिर्मित स्तूप (१०) इत्यादि तीर्थों का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन जैन सूत्रों, सूत्रों की निर्युक्तियों तथा भाष्यों में मिलता है। अतः इनको हम सूत्रोक्त तीर्थ कहेंगे।

हस्तिनापुर (१), शोरीपुर (२), मथुरा (३), अयोध्या (४), काम्पिल्य (५), बनारस (काशी) (६), श्रावस्ति (७), क्षत्रियकुण्ड (८), मिथिला (९), राजगृह (१०), अपापा (पावापुरी) (११), भद्दिलपुर (१२), चम्पापुरी (१३), कौशाम्बी (१४), रत्नपुर (१५), चन्द्रपुरी (१६), आदि नगरियाँ भी तीर्थङ्करों की जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण भूमियां होने से जैनों के प्राचीन तीर्थ थे, परन्तु वर्तमान समय में इनमें से अधिकांश विलुप्त हो चुके हैं। कुछ कल्याणकभूमियों में आज भी छोटे, बड़े जिन-मन्दिर बने हुए है और यात्रिक लोग दर्शनार्थ भी जाते है, परन्तु इनका पुरातन महत्त्व आज नहीं रहा। इन तीर्थों को आज भी "कल्याणक-भूमियां" कहते हैं।

उक्त तीर्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान जैन तीर्थों के रूप में प्रसिद्धि पाये थे जो कुछ तो आज नामशेष हो चुके हैं और कुछ विद्यमान भी हैं। इनकी संक्षिप्त नामसूची यह है—प्रभास पाटन-चन्द्रप्रभ (१), स्तम्भतीर्थ-स्तम्भनक पार्श्वनाथ (२), भृगुकच्छ अश्वावबोध-शकुनिका-बिहार मुनिसुव्रतजी की विहारभूमि (३), सूर्पारक (नाला सोपारा) (४), शंखपुर-शंखेश्वर पार्श्वनाथ (५), चारूप-पार्श्वनाथ (६), तारंगा-हिल-अजितनाथ (७), अर्बुदगिरि (माउन्ट आबू) (८), सत्यपुरीय-महावीर (९), स्वर्णगिरीय महावीर (जालोर दुर्गस्थ महावीर) (१०), करहेटक-पार्श्वनाथ (११), विदिशा (भिल्सा) (१२), नासिक्यचन्द्रप्रभ (१३), अन्तरीक्ष-पार्श्वनाथ (१४), कुल्पाक-आदिनाथ (१५), खण्डगिरि (भुवनेश्वर) (१६), श्रवणबेलगोला (१७), इत्यादि अनेक जैन प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें जो विद्यमान हैं, उनमें कुछ तो मौलिक हैं। तब कतिपय प्राचीन तीर्थों को हम पौराणिक तीर्थ कहते हैं। प्राचीन जैन साहित्य में

वर्तमान न होने पर भी कल्पों, जैन चरित्र-ग्रन्थों, प्राचीन स्तुति-स्तोत्रों में इनका महिमा गाया गया है।

उक्त वर्गों में से इस लेख में हम प्रथम वर्ग के सूत्रोक्त तीर्थों का ही संक्षेप में निरूपण करेंगे।

सूत्रोक्त-तीर्थ—

आचारांग निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन जैन तीर्थों के नाम निर्देश मिलते हैं—

"दंसण-नाण-चरित्ते, तववेरग्गे य होइ उ पसत्था।
जाय जहा ताय तहा, लक्खणं वुच्छं सलक्खण ओ ॥३२९॥
तित्थगराण भगवओ, पवयण-पावयणि-अइसयड्ढीणं।
अभिगमण-नमण-दरिसण,-कित्तण संपूअणा थुणणा ॥३३०॥
जम्माऽभिसेय-निक्खमण-चरण नाणुप्पया य निव्वाणं।
दियलोअ - भवण - मंदर - नंदीसर - भोमनगरेसु ॥३३१॥
अट्ठावयमुज्जिंते; गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पास-रहावत्तनगं चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ३३२ ॥"

अर्थात्—'दर्शन (सम्यक्त्व) ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य विनय विषयक भावनायें जिन कारणों से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूंगा ॥ ३२९ ॥

तीर्थङ्कर भगवन्तों के; उनके प्रवचन के, प्रवचन-प्रचारक प्रभावक आचार्यों के; केवल-मनःपर्यव-अवधिज्ञान-वैक्रियादि अतिशायि लब्धिधारी मुनियों के सन्मुख जाने, नमस्कार करने, उनका दर्शन करने, उनके गुणों का कीर्तन करने, उनकी अन्न वस्त्रादि से पूजा करने से; दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य, सम्बन्धी गुणों की शुद्धि होती है ॥ ३३० ॥

जन्म-कल्याणक स्थान, जन्माभिषेक स्थान, दीक्षा स्थान, श्रमणावस्था की विहारभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति का स्थान, निर्वाण-कल्याणक

भूमि, देवलोक, असुरादि के भवन, मेरुपर्वत; नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तर देवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिन-प्रतिमाओं को, अष्टापद; उज्जयन्त, गजाग्रपद, धर्मचक्र, अहिच्छत्रास्थित-पार्श्वनाथ, रथावर्त पर्वत, चमरोत्पात इन नामों से प्रसिद्ध जैन तीर्थों में स्थित जिन-प्रतिमाओं को वन्दना करता हूं ॥ ३३१ ॥ ३३२ ॥'

निर्युक्तिकार भगवान् ने, तीर्थङ्कर भगवन्तों के जन्म, दीक्षा, विहार, ज्ञानोत्पत्ति, निर्वाण आदि के स्थानों को तीर्थ स्वरूप मानकर वहां रहे हुए जिन-चैत्यों को वन्दन किया है। यही नहीं, परन्तु राजप्रश्नीय, जीवाभिगम; स्थानांग, भगवती आदि सूत्रों में वर्णित देवलोक स्थित, असुरभवन स्थित, मेरु स्थित, नन्दीश्वर द्वीप स्थित और व्यन्तर देवों के भूमिगर्भ स्थित नगरों में रहे हुए चैत्यों की शाश्वत जिन-प्रतिमाओं को भी वन्दन किया है।

निर्युक्ति की गाथा तीन सौ बत्तीसवीं में निर्युक्तिकार ने तत्कालीन भारतवर्ष में प्रसिद्धि पाये हुए सात अशाश्वत जैन तीर्थों को वन्दन किया है, जिनमें एक को छोड़कर शेष सभी प्राचीन तीर्थ विच्छिन्नप्राय हो चुके हैं, फिर भी शास्त्रों तथा भ्रमण वृत्तान्तों में इनका जो वर्णन मिलता है उसके आधार पर इनका यहां संक्षेप में निरूपण किया जायगा।

(१) अष्टापद :

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते, तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म-सभा में दर्शन-वन्दनार्थ तथा धर्म-श्रवणार्थ जाते थे, परन्तु वर्तमान कालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत आज दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे "अष्टापद" माना जा सके। इसके अनेक कारण ज्ञात होते हैं, पहला तो यह कि भारत के उत्तरदिग्विभाग में रही हुई पर्वत श्रेणियां उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थीं जितनी आज हैं।

दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरों तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओं ने "तीन स्तूप" और चक्रवर्ती भरत ने "सिंह निषद्या" नामक जिनचैत्य बनवाकर उसमें चौबीस तीर्थङ्करों की वर्ण तथा मानोपेत प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवा के, चैत्य के चारों द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नहीं, पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यों के लिए, शिखर पर पहुंचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग क्रमशः आठ मेखलायें बनवाई थीं और इसी कारण से इस पर्वत का 'अष्टापद' यह नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद, देव, विद्याधर, विद्याचारण लब्धिधारी मुनि और जङ्घाचारण मुनियों के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थ अष्टापद पर नहीं जा सकता था और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मोपदेश-सभा में यह सूचन किया था कि "जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुंचता है वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।"

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य, स्तूप आदि को अपने पूर्वज वंश्य भरत चक्रवर्ती के स्मारकों की रक्षार्थ उनके चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गंगा के जल प्रवाह से भरवा दिया था। ऐसा प्राचीन जैन कथा साहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त अनेक कारणों से हमारा "अष्टापद तीर्थ" कि जिसका निर्देश आचारांग निर्युक्ति में सर्वप्रथम किया है, हमारे लिए आज अदर्शनीय और लुप्त बन चुका है।

आचारांग निर्युक्ति के अतिरिक्त "आवश्यक निर्युक्ति" की निम्न-लिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है—

> "अह भगवं भवमहणो, पुव्वाणमणूणगं सयसहस्सं।
> अणुपुव्वीं विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं सेलं ॥४३३॥

अट्ठावयंमि सेले, चउदस भत्तेण सो महरिसीणं ।
दसहि सहस्सेहिं समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४३४॥

निव्वाणं चिइगागिई, जिणस्स[1] इक्खाग[2] सेसयाणं च[3] ।
सकहा[1] थूभरजिणहरे[2] जायग[3] तेणाहि अग्गित्ति ॥४३५॥"

'तब संसार-दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुंचे और छः उपवास के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए ॥ ४३३ ॥ ४३४ ॥

भगवान् और उनके शिष्यों के निर्वाणानन्तर चतुर्निकायों के देवों ने आकर उनके शवों के अग्निसंस्कारार्थ तीन चिताएँ बनवाईं। एक पूर्व में गोलाकार चिता तीर्थङ्करशरीर के दाहार्थ, दक्षिण में त्रिकोणाकार चिता इक्ष्वाकु वंश्य गणधर आदि महामुनियों के शव-दाहार्थ और पश्चिम दिशा की तरफ चौकोण चिता शेष श्रमणगण के शरीरसंस्कारार्थ बनवाई और तीर्थङ्कर आदि के शरीर यथास्थान चिताओं पर रखवाकर, अग्निकुमार देवों ने उन्हें अग्नि द्वारा सुलगाया। वायुकुमार देवों ने वायु द्वारा अग्नि को तेज किया और चर्म मांस के जल जाने पर, मेघकुमार देवों ने जल-वृष्टि द्वारा चिताओं को ठण्डा किया। तब भगवान् के ऊपरी बायें जबड़े की शक्रेन्द्र ने, दाहिनी तरफ की ईशानेन्द्र ने, तथा निचले जबड़े की बायी तरफ की चमरेन्द्र ने और दाहिनी तरफ की दाढ़ायें बलीन्द्र ने ग्रहण कीं। इन्द्रों के अतिरिक्त शेष देवों ने भगवान् के शरीर की अन्य अस्थियां ग्रहण कर लीं, तब वहां उपस्थित राजादि मनुष्यगण ने तीर्थङ्कर तथा मुनियों के शरीरदहन स्थानों की भस्मी को भी पवित्र जानकर ग्रहण कर लिया। चिताओं के स्थान पर देवों ने तीन स्तूप बनवाये और भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थङ्करों की वर्ण-मानोपेत सपरिकर मूर्तियाँ स्थापित करने योग्य "जिन-गृह" बनवाये। उस समय जिन मनुष्यों को चिताओं से अस्थि भस्मादि नहीं मिला था उन्होंने उसकी प्राप्ति के लिए देवों से बड़ी नम्रता के साथ याचना की जिससे इस अवसर्पिणी काल में "याचक" शब्द

प्रचलित हुआ । "चिताकुण्डों में अग्नि-चयन करने के कारण तीन कुण्डों में अग्नि स्थापना करने का प्रचार चला और वैसा करने वाले "आहिताग्नि" कहलाये ।

उपर्युक्त सूत्रोक्त वर्णन के अतिरिक्त भी अष्टापद तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वृत्तान्त सूत्रों, चरित्रों तथा प्रकीर्णक जैन-ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु उन सब के वर्णनों द्वारा लेख को बढ़ाना नहीं चाहते ।

(२) उज्जयन्त[1] :

"उज्जयन्त" यह गिरनार पर्वत का प्राचीन नाम है । इसका दूसरा प्राचीन नाम "रैवतक" पर्वत भी है । "गिरनार" यह इसका तीसरा पौराणिक नाम है जो कल्पों, कथाओं आदि में मिलता है ।

उज्जयन्त तीर्थ का नामनिर्देश आचारांग निर्युक्ति में किया गया है जो ऊपर बता आए हैं । इसके अतिरिक्त कल्प-सूत्र, दशाश्रुत-स्कन्ध, आवश्यक सूत्र आदि में भी इसके उल्लेख मिलते हैं । कल्पसूत्र में इस पर भगवान् नेमिनाथ की दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण नामक तीन कल्याणक होने का प्रतिपादन किया गया है । आवश्यक सूत्रान्तर्गत सिद्धस्तव की निम्नोद्धृत गाथा में भी भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होने का सूचन मिलता है, जैसे—

"उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ।। ४ ।।"

अर्थात्—'उज्जयन्त पर्वत के शिखर पर जिनकी दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुआ उन धर्मचक्रवर्ती भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार करता हूँ ।'

---

१. दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थकारों ने "उज्जयन्त" के स्थान में इसका नाम "ऊर्जयन्त" लिखा है ।

सिद्धस्तव की यह तथा इसके बाद की "चत्तारिग्रट्ठ" ये दोनों गाथायें प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। परन्तु ये कब और किसने प्रक्षिप्त कीं यह कहना कठिन है। प्रभावक-चरितान्तर्गत आचार्य "बप्पभट्टि" के प्रबन्ध में एक उपाख्यान है, जिसका सारांश यह है—

"एक समय शत्रुंजय-उज्जयंत तीर्थ की यात्रा के लिए "राजा ग्राम" संघ लेकर उज्जयंत की तलहटी में पहुँचा। वहां 'दिगम्बर जैन संघ" भी ग्राया हुआ था, उसने ग्राम को ऊपर जाने से रोका, तब ग्राम के सैनिक बल का प्रयोग करने को उद्यत हुए। "बप्पभट्टि सूरि" ने उनको रुकवाकर कहा—धार्मिक कार्यों के निमित्त प्राणी संहार करना ग्रनुचित है। इस झगड़े का निपटारा दूसरे प्रकार से होना चाहिए। ग्राचार्य ने कहा—दो कुमारी कन्याओं को बुलाना चाहिये। श्वेताम्बरों की कन्या दिगम्बर संघ के पास और दिगम्बर संघ की कन्या श्वेताम्बर संघ के पास रखी जाय। फिर दोनों संघों के ग्रग्रेसर धर्माचार्य, कन्याओं को तीर्थ का निर्णय करने का प्रमाण पूछें। दोनों संघों के वृद्धों ने उक्त बात को मान्य किया, तब ग्राचार्य बप्पभट्टि सूरि ने श्वेताम्बर संघ की तरफ खड़ी दिगम्बर संघ की कन्या के मुख से ग्रम्बिका देवी द्वारा "उज्जितसेलसिहरे" यह गाथा कहलायी और तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का स्थापित किया।"

परन्तु यह उपाख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान् नहीं है, क्योंकि ग्राचार्य बप्पभट्टि विक्रम संवत् ८०० में जन्मे थे और नवमी शताब्दी में उनका जीवन व्यतीत हुआ था। तब ग्राचार्य हरिभद्र सूरिजी, जो इनके सौ वर्षों से भी अधिक पूर्ववर्ती थे, ग्रावश्यकटीका में कहते हैं—

"सिद्धस्तव की ग्रादि की तीन गाथायें नियम पूर्वक बोली जाती हैं। परन्तु ग्रन्तिम दो गाथाओं के बोलने का नियम नहीं है।"

इससे यह सिद्ध होता है कि ये गाथाएँ हैं तो प्राचीन, फिर भी हरिभद्र सूरिजी ने ही नहीं इनके परवर्ती ग्राचार्य हेमचन्द्र सूरिजी ग्रादि ने भी अपने ग्रन्थों में यही ग्राशय व्यक्त किया है। इससे ये गाथायें प्रक्षिप्त ही होनी चाहिए।

"उज्जयन्त तीर्थ" के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक सूत्रों तथा उनकी टीकाओं में उल्लेख मिलते हैं, परन्तु उन सब का यहां वर्णन करके लेख को बढ़ाना उचित न होगा। आचार्य जिनप्रभ सूरि कृत "उज्जयन्त महातीर्थ-कल्प" तथा अन्य विद्वानों के रचे हुए प्रस्तुत तीर्थ के "स्तव" आदि उपयोगी साहित्य के कतिपय उद्धरण देकर इस विषय को पूरा करना ही योग्य समझा जाता है।

उज्जयन्त पर्वत के अद्भुत खनिज पदार्थों से समृद्धिशाली होने के सम्बन्ध में आचार्य जिनप्रभ ने अपने तीर्थकल्प में बहुत सी बातें कही हैं जिनमें से कुछेक मनोरंजक नमूने पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिये जाते हैं–

"अवलोअरग सिहरसिला,–अवरेणं तत्थ वररसो सवइ।
सुअपक्खसरिसवण्णो, करेइ सुंबं वरं हेमं ॥ २७ ॥
गिरिपज्जुन्नवयारे, अंबिअआसमपयं च नामेण ।
तत्थ वि पीआ पुहवी, हिमवाए धमियाए वा होइ वरं हेमं ॥२८॥"

"उज्जितपढमसिहरे, आरुहिउं दाहिणेन अवयरिउं ।
तिण्णि धणुसयमित्ते, पूइकरंजं बिलं नाम ॥३०॥
उग्घाडिडं बिलं दिक्खिऊण निउणेन तत्थ गंतव्वं ।
दंडंतराणि बारस, दिव्वरसो जंबुफलसरिसो ॥३१॥"

"उज्जिते नाणसिला, विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाणं ।
ताणं उत्तरपासे, दाहिणओ अहोमुहो विवरो ॥३६॥
तस्स य दाहिणभाए, दसधणुभूमीइ हिंगुलयवण्णो ।
अत्थि रसो सयवेही, विंधइ सुब्वं न संदेहो ॥३७॥"

"इय उज्जयन्तकप्पं, अविअप्पं जो करेइ जिणभत्तो ।
कोहादिकयपण (स) मो, सो पावइ इच्छिअं सुक्खं ॥४१॥"
(वि० ती० क० पृ० ८)

अर्थात्—'अवलोकन शिखर की शिला के पश्चिम दिग्विभाग में शुक की पांख सा हरे रंग का वेधक रस झरता है, जो ताम्र को श्रेष्ठ सुवर्ण बनाता है ॥ २७ ॥

उज्जयंत पर्वत के प्रद्युम्नावतार तीर्थस्थान में अम्बिका आश्रम पद नामक वन (उद्यान) है, जहां पर पीत वर्ण की मिट्टी पाई जाती है, जिसे तेज आग की आंच देने से बढ़िया सोना बनता है ॥ २८ ॥

उज्जयन्त पर्वत के प्रथम शिखर पर चढ़कर, दक्षिण दिशा में तीन सौ धनुष अर्थात् बारह सौ हाथ नीचे उतरना। वहां पूतिकरञ्ज नामक एक बिल अर्थात् "भू-विवर" मिलेगा, उसको खोलकर सावधानी के साथ उसमें प्रवेश करना, अड़तालीस हाथ तक भीतर जाने पर लोहे का सोना बनाने वाला दिव्य रस मिलेगा जो जम्बु फल सदृश रंग का होगा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

उज्जयन्त पर्वत पर ज्ञानशिला नाम से प्रख्यात एक बड़ी शिला है, जिस पर गण्ड-शैलों का एक जत्था रहा हुआ है। उससे उत्तर दिशा में जाने पर दक्षिण की तरफ जाने वाला एक अधोमुख विवर (गड्ढा) मिलेगा, उसमें चालीस हाथ नीचे उतरने पर दक्षिण भाग में हिंगुल जैसा रक्तवर्ण शत-वेधी रस मिलेगा, जो तांबे को वेधकर सोना बनाता है। इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जो जिनभक्त कुष्माण्डी (अम्बिका) देवी को प्रणाम करके, मन में शंका लाये विना उज्जयन्त पर्वत पर रसायनकल्प की साधना करेगा, वह मनोभिलषित सुख को प्राप्त करेगा ॥ ४१ ॥

जिनप्रभ सूरि कृत उज्जयन्त महाकल्प के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कल्प और स्तव उपलब्ध होते हैं, जो पौराणिक होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। हम इन सब के उद्धरण देकर लेख को पूरा करेंगे।

'रैवतक-गिरि-कल्प संक्षेप' में इस तीर्थ के विषय में कहा गया है—भगवान् नेमिनाथ ने छत्रशिला के समीप शिलासन पर दीक्षा ग्रहण की। सहस्राम्रवन की ओर अवलोकन नामक ऊँचे शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।

"रैवतक की मेखला में कृष्ण वासुदेव ने निष्क्रमणादि तीन कल्याणकों के उत्सव करके रत्न-प्रतिमाओं से शोभित तीन जिनचैत्य तथा एक अम्बा देवी का मन्दिर बनवाया। (वि० ती० क० पृ० ६)

"रैवतक-गिरि कल्प में कहा है—पश्चिम दिशा में सौराष्ट्र देश स्थित रैवतक पर्वतराज के शिखर पर श्रीनेमिनाथ का बहुत ऊँचे शिखर वाला भवन था, जिसमें पहले भगवान् नेमिनाथ की लेपमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। एक समय उत्तरापथ के विभूषण समान काश्मीर देश से "अजित" तथा "रतना" नामक दो भाई संघपति बनकर गिरनार तीर्थ की यात्रा करने आए और भक्तिवश केसर चन्दनादि के घोल से कलश भरकर उस प्रतिमा को अभिषिक्त किया। परिणामस्वरूप वह लेपमयी प्रतिमा लेप के गल जाने से बहुत ही बिगड़ गई। इस घटना से संघपति युगल बहुत ही दुःखी हुआ और आहार का त्याग कर दिया। इक्कीस दिन के उपवास के अन्त में भगवती अम्बिका देवी वहां प्रत्यक्ष हुई और संघपति को उठाया। उसने देवी को देखकर 'जय जय' शब्द किया। देवी ने संघपति को एक रत्नमयी प्रतिमा देते हुए कहा—लो यह प्रतिमा ले जाकर बैठा दो, पर प्रतिमा को स्थल पर बैठाने के पहले पीछे न देखना। संघपति अजित सूत के कच्चे धागे के सहारे प्रतिमा को अन्दर ले जा रहा था। वह प्रतिमा के साथ "नेमि भवन" के सुवर्णबलानक में पहुंचा और बिंब के द्वार की देहली के ऊपर पहुंचते संघपति का हृदय हर्ष से उमड़ पड़ा और देवी की शिक्षा को भूलकर सहसा उसका मुंह पिछली तरफ मुड़ गया और प्रतिमा वहां ही निश्चल हो गयी। देवी ने "जय जय" शब्द के साथ पुष्पवृष्टि की। यह प्रतिमा संघपति द्वारा नवनिर्मित जिन-प्रासाद में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को प्रतिष्ठित हुई। स्नपनादि महोत्सव करके संघपति "अजित" अपने भाई के साथ स्वदेश पहुंचा। कलिकाल में मनुष्यों के चित्त की

कलुषता जानकर अम्बिका देवी ने उस रत्नमयी प्रतिमा की झल-हलती कान्ति को ढांक दिया। (वि० ती० क० पृ० ६)

इसी कल्प में इस तीर्थ सम्बन्धी अन्य भी ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, जो नीचे दिये जाते हैं—

"पुव्वि गुज्जर जयसिंहदेवेणं खंगाररायं हणित्ता सज्जणो दंडाहिवो ठविओ। तेण अ अहिणवं नेमिजिणिंदभवणं एगारस-सय-पंचासीए (११८५) विक्कमरायवच्छरे काराविअं। चोलुक्कचक्किसिरिकुमारपाल-नरिंदसंठविअ सोरट्ठदंडाहिवेण सिरिसिरिमालकुलुब्भवेण बारस सयवीसे (१२२०) विक्कम संवच्छरे पज्जा काराविआ। तब्भवेण धवलेण अंतराले पवा भराविआ। पज्जाए चडंतेहिं जणेहिं दाहिणदिसाए लक्खारामो दीसइ।" (वि० ती० क० पृ० ६)

अर्थात्—पूर्वकाल में गुर्जर भूमिपति चौलुक्य राजा जयसिंह देव ने जुनागढ़ के राजा रा खेङ्गार को मारकर दण्डाधिपति सज्जन को वहां का शासक नियुक्त किया। सज्जन ने विक्रम संवत् ११८५ में भगवान् नेमिनाथ का नया भवन बनवाया। बाद में मालवाभूमिभूषण साधु भावड़ ने उस पर सुवर्णमय आमलसारकर करवाया।

चौलुक्यचक्रवर्ती श्रीकुमारपाल देव द्वारा नियुक्त श्रीश्रीमाल कुलोत्पन्न सौराष्ट्र दण्डपति ने विक्रम संवत् १२२० में उज्जयन्त पर्वत पर चढ़ने का सोपानमय मार्ग करवाया। उसके पुत्र धवल ने सोपान-मार्ग में प्रपा बनवाई। इस पद्या मार्ग से ऊपर चढ़ने वाले यात्रिक जनों को दक्षिण दिशा में लक्षाराम नामक उद्यान दीखता है।

इन कल्पों के अतिरिक्त उज्जयन्त तीर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक स्तुति-स्तोत्र भी भिन्न भिन्न कवियों के बनाये हुए जैन ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध होते हैं, जिनमें से थोड़े से श्लोक नीचे उद्धृत करके इस तीर्थ का वर्णन समाप्त करेंगे।

"योजनद्वयतुङ्गेऽस्य, शृङ्गे जिनगृहावलिः ।
पुण्यराशिरिवाभाति, शरच्चन्द्रांशुनिर्मला ॥४॥
सौवर्ण-दण्ड-कलशा-मलसारकशोभितम् ।
चारुचैत्यं चकास्त्यस्योपरि श्रीनेमिनः प्रभोः ॥५॥
श्रीशिवासूनुदेवस्य, पादुकात्र निरीक्षिता ।
स्पृष्टाऽर्चिता च शिष्टानां, पापव्यूहं व्यपोहति ॥६॥
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, जरत्तृणमिव प्रभुः ।
बन्धून् विधूय च स्निग्धान्, प्रपेदेऽत्र महाव्रतम् ॥७॥
अत्रैव केवलं देवः, स एव प्रतिलब्धवान् ।
जगज्जनहितैषी स, पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥८॥"

अर्थात्—'इस उज्जयन्त गिरि के दो योजन ऊँचे शिखर पर बनवाने वालों के निर्मल पुण्य की राशि सी, चन्द्रकिरण समान उज्ज्वल जिन-मन्दिरों की पंक्ति सुशोभित है। इसी शिखर पर सुवर्णमय दण्ड, कलश तथा आमलसारक से सुशोभित भगवान् नेमिनाथ का सुन्दर चैत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। यहीं पर प्रतिष्ठित शैवेय जिनकी चरणपादुका दर्शन, स्पर्शन और पूजन से भाविक यात्रिक गण के पापों को दूर करती है और यहीं पर जीर्ण तिनखे की तरह समृद्ध राज्य तथा विशाल कुटुम्ब का त्याग कर भगवान् नेमिनाथ ने महाव्रत धारण किये थे और यहीं पर भगवान् केवल-ज्ञानी हुए, तथा जगत्हित चिन्तक भगवान् नेमिनाथ यहीं से निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

"अतएवात्र कल्याण - त्रयमन्दिरमादधे ।
श्रीवस्तुपालो मन्त्रीशश्चमत्कारितभव्यहृत् ॥ ९ ॥
जिनेन्द्रबिंबपूर्णेन्द्र - मण्डपस्था जना इह ।
श्री नेमेर्मज्जनं कर्तु-मिन्द्रा इव चकासति ॥ १० ॥
गजेन्द्रपदनामास्य, कुण्डं मण्डयते शिरः ।
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं, स्नाप्यार्हत्स्नपनक्षमैः ॥ ११ ॥

शत्रुंजयावतारेऽत्र, वस्तुपालेन कारिते ।
ऋषभः पुण्डरीकोऽष्टा-पदो नन्दीश्वरस्तथा ॥ १२ ॥
सिंहयाना हेमवर्णा, सिद्ध-बुद्धसुतान्विता ।
कम्राम्रलुम्बिभृत्-पाणि-रत्राम्बा संघविघ्नहृत् ॥१३॥"

(वि० ती० क० पृ० ७)

'जहां भगवान् के तीन कल्याणक होने के कारण से ही मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने सज्जनों के हृदय को चमत्कृत करने वाला तीन कल्याणक का मन्दिर बनवाया। जिन प्रतिमाओं से भरे इस इन्द्रमण्डप में रहे हुए भगवान् नेमिनाथ का स्नपन करने वाले पुरुष इन्द्र की शोभा पाते हैं। इस पर्वत की चोटी को–"गजेन्द्रपद" नामक जो अमृत के से जल से भरा और स्नपनीय जिन-प्रतिमाओं का स्नपन करने से समर्थ है–भूषित कर रहा है। यहां वस्तुपाल द्वारा कारित शत्रुञ्जयावतार विहार में भगवान् ऋषभदेव, गणधर पुण्डरीक स्वामी, अष्टापद चैत्य तथा नन्दीश्वर चैत्य यात्रिकों के लिए दर्शनीय चीज हैं। इस पर्वत पर सुवर्ण की सी कान्ति-वाली सिंहवाहन पर आरूढ़ सिद्ध-बुद्ध नामक अपने पूर्व भविक दो पुत्रों को साथ लिये कमनीय आम की लुम्ब जिसके हाथ में है ऐसी अम्बादेवी यहां रही हुई संघ के विघ्नों का विनाश करती है।

उज्जयन्त तीर्थ सम्बन्धी उक्त प्रकार के पौराणिक तथा ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुतेरे मिलते हैं, परन्तु उनके विवेचन का यह योग्य स्थल नहीं। हम इसका विवेचन यहीं समाप्त करते हैं।

(३) गजाग्रपद तीर्थ :

गजाग्रपद भी आचारांग निर्युक्ति-निर्दिष्ट तीर्थों में से एक हैं, परन्तु वर्तमान काल में यह व्यवच्छिन्न हो चुका है। इसकी अवस्थिति सूत्रों में दशार्णपुर नगर के समीपवर्ती दशार्णकूट पर्वत पर बताई है। आवश्यक-चूर्णि में भी इस तीर्थ को "दशार्ण देश" के मुख्य नगर "दशार्णपुर" के समीपवर्ती पहाड़ी तीर्थ लिखा है और इसकी उत्पत्ति का वर्णन भी दिया है, जिसका संक्षेप सार नीचे दिया जाता है—

एक समय श्रमण भगवान् महावीर दशार्ण देश में विचरते हुए अपने श्रमण-संघ के साथ दशार्णपुर के समीपवर्ती एक उपवन में पधारे। राजा दशार्णभद्र को उद्यानपालक ने भगवान् के पधारने की बधाई दी।

भगवन्त का आगमन जानकर राजा बहुत ही हर्षित हुआ। उसने सोचा "कल ऐसी तैय्यारी के साथ भगवन्त को वन्दन करने जाऊँगा और ऐसे ठाट से वन्दन करूँगा जैसे ठाट से न पहले किसी ने किया होगा, न भविष्य में करेगा"। उसने सारे नगर में सूचित करवा दिया कि "कल अमुक समय में राजा अपने सर्व परिवार के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने जायगा और नागरिकगण को भी उसका अनुगमन करना होगा।

राजकर्मचारीगण उसी समय से नगर की सजावट, चतुरंगिनी सेना के सज्ज करने तथा अन्यान्य समयोचित तैयारियाँ करने के कामों में जुट गये। नागरिक जन भी अपने अपने घर, हाट सजाने, रथ-यान पालकियों को सज्ज करने लगे।

दूसरे दिन प्रयाण का समय आने के पहले ही सारा नगर ध्वजाओं, तोरणों, पुष्पमालाओं से सुशोभित था। मुख्य मार्गों में जल छिड़काव कर फूल बिखेरे गये थे। राजा दशार्णभद्र, उसका सम्पूर्ण अन्तःपुर और दास-दासी गण अपने योग्य यानों, वाहनों से भगवान् के वन्दनार्थ रवाना हुए। उनके पीछे नागरिक भी रथों, पालकियों आदि में बैठकर राज-कुटुम्ब के पीछे उमड़ पड़े।

महावीर की धर्मसभा की तरफ जाते हुए राजा के मन में सगर्व हर्ष था। वह अपने को भगवान् महावीर का सर्वोच्च शक्तिशाली भक्त मानता था। ठीक इसी समय स्वर्ग के इन्द्र ने भगवान् महावीर के विहार क्षेत्र को लक्ष्य करके अवधि ज्ञान का उपयोग किया और देखा कि भगवान् दशार्णकूट पहाड़ी के निकटस्थ उद्यान में विराजमान हैं, राजा दशार्णभद्र अद्वितीय सजधज के साथ उन्हें वन्दन करने जा रहा है। इन्द्र ने भी इस

प्रसंग से लाभ उठाना चाहा। वह अपने ऐरावण हाथी पर आरूढ़ होकर दिव्य परिवार के साथ भगवान् के पास क्षण भर में आ पहुँचा। उसने तीन प्रदक्षिणा देकर दशार्णकूट पवत की एक लम्बी चौड़ी चट्टान पर अपना वाहन ऐरावण हाथी उतारा। दिव्य-शक्ति से इन्द्र ने हाथी के अनेक दांतों पर अनेक बावड़ियां, बावड़ियों में अनेक कमल, कमलों की कर्णिकाओं पर देव-प्रासाद और उनमें होने वाले बत्तीस पात्रबद्ध नाटकों के अद्भुत दृश्य दिखलाकर राजा की शक्ति और सजावट को निस्तेज बनाकर उसके अभिमान को नष्ट कर दिया। राजा ने देखा—इन्द्र की ऋद्धि के सामने मेरी ऋद्धि नगण्य है। भला, सूर्य के प्रकाश के सामने छोटा सा सितारा कैसे चमक सकता है? उसने अपने पूर्व भव के धर्मकृत्यों की न्यूनता जानी और भगवान् महावीर का वैराग्यमय उपदेशामृत पान कर संसार का मोह छोड़ वह श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।

दशार्णकूट की जिस विशाल शिला पर इन्द्र का ऐरावण खड़ा था, उस शिला में उसके अगले पगों के चिह्न सदा के लिए बन गये। बाद में भक्तजनों ने उन चिह्नों पर एक बड़ा जिनचैत्य बनवाकर उसमें भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित करवाई, तब से इस स्थान का नाम "गजाग्रपद" तीर्थ के नाम से अमर हो गया।

आज यह गजाग्रपद तीर्थ भूला जा चुका है। यह स्थान भारतभूमि के अमुक प्रदेश में था, यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है फिर भी हमारे अनुमान के अनुसार मालवा के पूर्व में और आधुनिक बुंदेलखण्ड के प्रदेश में कहीं होना संभवित है।

(४) धर्मचक्र तीर्थ :

आचारांगनिर्युक्ति में सूचित चौथा तीर्थ "धर्मचक्र" है। धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण आवश्यकनिर्युक्ति तथा उसकी प्राचीन प्राकृत टीका में नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"कल्लं सव्विड्ढीए, पूएमहऽदट्ठु धम्मचक्कं तु ।
विहरइ सहस्समेगं, छउमत्थो भारहे वासे ॥३३५॥"

अर्थात्--भगवान् ऋषभदेव हस्तिनापुर से विहार करते हुए पश्चिम में बहली देश की राजधानी तक्षशिला[1] के उद्यान में पधारे। वनपालक ने राजा बाहुबली को भगवान् के आगमन की बधाई दी। राजा ने सोचा--कल सर्व ऋद्धि-विस्तार के साथ भगवान् की पूजा करूंगा। राजा बाहुबली दूसरे दिन बड़े ठाट-बाट से भगवान् की तरफ गया, परन्तु उसके जाने के पूर्व ही भगवान् वहां से विहार कर चुके थे। अपने पूज्य पिता ऋषभ को निवेदित स्थान तथा उसके आसपास न देखकर बाहुबली बहुत ही खिन्न हुए और वापिस लौटकर भगवान् रात भर जहां ठहरे थे उस स्थान पर एक बड़ा गोल चक्राकार स्तूप बनवाया और उसका नाम "धर्मचक्र" दिया। भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थावस्था में एक हजार वर्ष तक विचरे।

आवश्यक-निर्युक्ति की उपर्युक्त गाथा के विवरण में चूर्णिकार ने धर्मचक्र के सम्बन्ध में जो विशेषता बताई है, वह निम्नलिखित है—

जहां भगवान् ठहरे थे, उस स्थान पर सर्व-रत्नमय एक योजन परिधि वाला, जिस पर पांच योजन ऊँचा ध्वजदंड खड़ा है, "धर्मचक्र" का चिह्न बनवाया।

"बहली अडंबइल्ला, जोणगविसओ सुवण्णभूमीअ ।
आहिंडिआ भगवया, उसभेण तवं चरंतेणं ॥३३६॥

बहली अ जोणगा पल्हगा य जे भगवया समणुसिट्ठा ।
अन्ने य मिच्छजाई, ते तइया भद्दया जाया ॥३३७॥

तित्थयराणं पढमो, उसभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो ।
अट्ठावओ णगवरो, अग्ग (य) भूमी जिणवरस्स ॥३३८॥

(१) आधुनिक पश्चिमी पंजाब के रावलपिंडी जिले में "शाह की ठेरी" नाम से जो स्थल प्रसिद्ध है वही प्राचीन 'तक्षशिला" थी, ऐसा शोधकों का निर्णय है।

छउमत्थपरिग्राओ, वाससहस्सं तओ पुरिमताले ।
णग्गोहस्स य हेट्ठा, उप्पण्णं केवलं नाणं ॥३३९॥

फग्गुणबहुले एक्कारसीइ, ग्रह ग्रट्ठमेण भत्तेणं ।
उप्पण्णंमि ग्रणंते, महव्वया पंच पण्णवए ॥३४०॥"

ग्रर्थात्—बहली (बल्ख-बक्ट्रिया) ग्रडंबइल्ला (ग्रटक प्रदेश) यवन (यूनान) देश ग्रौर स्वर्णभूमि इन देशों में भगवान् ऋषभ ने तपस्वी जीवन में भ्रमण किया। बल्ख, यवन, पल्हव देशवासी भगवान् के ग्रनुशासन से क्रौर्य का त्याग कर भद्र परिणामी बने। तीर्थङ्करों में ग्रादि तीर्थङ्कर ऋषभ मुनि सर्वत्र निरुपसर्गता से विचरे। ग्रादि जिन की ग्रग्र-विहार भूमि ग्रष्टापद तीर्थ बन रहा, ग्रर्थात्—पूर्व पश्चिम भारत के देशों में घूमकर उत्तर भारत में ग्राते, तब बहुधा "ग्रष्टापद पर्वत' पर ही ठहरते। भगवान् ऋषभ जिन का छद्मस्थ पर्याय (तपस्वी जीवन) एक हजार वर्ष तक बना रहा। बाद में ग्रापको पुरिमताल नगर के बाहर वटवृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए केवल-ज्ञान प्रकट हुग्रा। उस समय ग्रापने निर्जल तीन उपवास किये थे। फाल्गुन वदि एकादशी का दिन था, इन संजोगों में ग्रनन्त केवल-ज्ञान प्रकट हुग्रा ग्रौर ग्रापने श्रमणधर्म के पंच महाव्रतों का उपदेश किया।

धर्मचक्र को बाहुबली ने ऋषभदेव के स्मारक के रूप में बनवाया था, परन्तु कालान्तर में उस स्थान पर जिनचैत्य बनकर जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई ग्रौर इस स्मारक ने एक महातीर्थ का रूप धारण किया। प्रतिष्ठित जिनचैत्यों में "चन्द्रप्रभ" नामक ग्राठवें तीर्थङ्कर का चैत्य प्रतिमा प्रधान था। इस कारण से इस तीर्थ के साथ "चन्द्रप्रभ" का नाम जोड़ दिया गया ग्रौर दीर्घकाल तक वह इसी नाम से प्रसिद्ध रहा। महानिशीथ नामक जैन सूत्र में इसका वृत्तान्त मिलता है, जिसमें से थोड़ा सा ग्रवतरण यहां देना योग्य समझते हैं—

"ग्रहन्नया गोयमा ! ते साहुणो तं ग्रायरियं भणंति-जहा णं जइ भयवं तुमं ग्राणवेहि, ताणं ग्रम्हे [हिं] तित्थयत्तं करिय । चंदप्पहसामियं वंदिया धम्मचक्के गंतूणमागच्छामो,। ताहे गोयमा ग्रदीणमणसा

अणुत्तालगंभीरमहुराए भारतीए भणियं तेणायरियेणं जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं; ता जाव णं बोलेइ जत्तं ताव णं अहं तुम्हे चंदप्पहं वंदावेहामि। अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ; एएणं कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ।"

अर्थात्—भगवान् महावीर कहते हैं—हे गोतम ! अन्य समय वे साधु उस आचार्य को कहते हैं—हे भगवन् ! यदि आप आज्ञा करें तो हम तीर्थ-यात्रा करने चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन करने धर्मचक्र जाकर आ जाएँ। तब हे गौतम ! उस आचार्य ने दृढ़ता से सोचकर गंभीर वाणी से कहा—'इच्छाकार से सुविहित साधुओं को तीर्थयात्रा को जाना नहीं कल्पता। इसलिए जब यात्रा बीत जायगी तब मैं तुम्हें चन्द्रप्रभ का वन्दन करा दूंगा। दूसरा कारण यह भी है कि तीर्थ-यात्राओं के प्रसंगों पर साधुओं को तीर्थों पर जाने से असंयम मार्ग में पड़ना पड़ता है। इसी कारण साधुओं के लिए यात्रा निषिद्ध की गई है।[1]

महानिशीथ में ही नहीं, अन्य सूत्रों में भी जैन श्रमणों को तीर्थ-यात्रा के लिए भ्रमण करना वर्जित किया है। निशीथ सूत्र की चूर्णि में लिखा है—"उत्तरावहे धम्मचक्कं, मथुराए देवणिम्मिओ थूभो। कोसलाए वा जियंतपडिमा तित्थकराण वा जम्मभूमीओ एवमादिकारणेहिं गच्छन्तो णिक्कारणिनो" (२४३–२ नि० चू०) अर्थात्—'उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिर्मित स्तूप, अयोध्या में जीवंत स्वामी प्रतिमा, अथवा तीर्थङ्करों की जन्मभूमियाँ' इत्यादि कारणों से देश भ्रमण करने वाले साधु का विहार निष्कारणिक कहलाता है। उक्त महानिशीथ के प्रमाण से मेले के प्रसंग पर तीर्थ पर साधु के लिए जाना वर्जित किया ही है; परन्तु निशीथ आदि आगमों के प्रमाणों से केवल तीर्थदर्शनार्थ भ्रमण करना भी जैन श्रमण के लिए निषिद्ध बताया है। जैन श्रमण के लिए सकारण देश-भ्रमण करना आगम-विहित है। तीर्थ-वन्दन के नाम से भड़कने वाले तथा केवल तीर्थ वन्दना के लिए भटकने वाले हमारे वर्तमान-कालीन जैन श्रमणों को इन शास्त्रीय वर्णनों से बोध लेना चाहिए।

(१) यहां 'यात्रा' शब्द तीर्थ पर होने वाले मेले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

तक्षशिला का धर्मचक्र बहुत काल पहिले से ही जैनों के हाथ से चला गया था। इसके दो कारण थे—१. विक्रम की दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। यही नहीं, तक्षशिला विश्वविद्यालय में हजारों बौद्ध भिक्षु तथा उनके अनुयायी छात्रगण विद्याध्ययन करते थे। इस कारण तक्षशिला के तथा पुरुषपुर (पेशावर) के प्रदेशों में हजारों की संख्या में बौद्ध-उपदेशक घूम रहे थे। इसके अतिरिक्त २. "शशेनियन" लोगों के भारत पर होने वाले आक्रमण की जैन संघ को आक्रमण से पहले ही सूचना मिल चुकी थी कि "आज से तीसरे वर्ष में तक्षशिला का भंग होने वाला है", इससे जैन संघ धीरे धीरे तक्षशिला से दक्षिण की तरफ पहुंच कर जल-मार्ग से "कच्छ" तथा "सौराष्ट्र" तक चला गया। जाने वाले अपनी धन-संपत्ति को ही नहीं; अपनी पूज्य देव-मूर्तियों तक को वहां से हटा ले गये थे। इस दशा में अरक्षित जैन स्मारकों तथा मन्दिरों पर बौद्ध धर्मियों ने अपना अधिकार कर लिया था। तक्षशिला का धर्मचक्र जो चन्द्रप्रभ का तीर्थ माना जाता था, उसको भी बौद्धों ने अपना लिया और उसे "बोधिसत्त्व चन्द्रप्रभ" का प्राचीन स्मारक होना उद्घोषित किया। बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग, जो कि विक्रम की षष्ठी शताब्दी में भारत में आया था, अपने "भारतयात्राविवरण" में लिखता है—

"यहां पूर्वकाल में बोधिसत्त्व "चन्द्रप्रभ" ने अपना मांस प्रदान किया था, जिसके उपलक्ष्य में मौर्य सम्राट अशोक ने उसका यह स्मारक बनवाया है।"

उक्त चीनी यात्री के उल्लेख से यह तो निश्चित हो जाता है कि "धर्मचक्र" विक्रमीय छठी शती के पहले ही जैनों के हाथ से चला गया था। निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि "शशेनियन लोग जो ईसा की तीसरी शताब्दी में आक्रामक बनकर तक्षशिला के मार्ग से भारत में आए। लगभग उसी काल में "धर्मचक्र" बौद्धों का स्मारक बन गया होगा।

(५) अहिच्छत्रा - पार्श्वनाथ :

आचारांगनिर्युक्ति-सूचित "पार्श्व" अहिच्छत्रा नगरी स्थित पार्श्वनाथ हैं। भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रजित होकर तपस्या करते हुए एक समय कुरु-जांगल देश में पधारे। वहां शंखावती नगरी के समीपवर्ती एक निर्जन स्थान में आप ध्यान-निमग्न खड़े थे, तब उनके पूर्व भव के विरोधी "कमठ" नामक असुर ने आकाश से घनघोर जल बरसाना शुरु किया। बड़े जोरों की वृष्टि हो रही थी। कमठ की इच्छा यह थी कि पार्श्वनाथ को जलमग्न करके इनका ध्यान भंग किया जाय। ठीक उसी समय "धरणेन्द्र नागराज" भगवान् को वन्दन करने आया। उसने भगवान् पर मुशलधार वृष्टि होती देखी। धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर "फरण-छत्र" किया और इस अकाल वृष्टि करने वाले कमठ का पता लगाया। यही नहीं, उसे ऐसे जोरों से धमकाया कि तुरन्त उसने अपने दुष्कृत्य को बन्द किया और भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में शिर नमाकर धरणेन्द्र से माफी मांगी। जलोपद्रव के शान्त हो जाने के बाद नागराज धरणेन्द्र ने अपनी दिव्य शक्ति के प्रदर्शन द्वारा भगवान् की बहुत महिमा की। उस स्थान पर कालान्तर में भक्त लोगों ने एक बड़ा जिन-प्रासाद बनवाकर उसमें पार्श्वनाथ की नागफरणछत्रालंकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की। जिस नगरी के समीप उपर्युक्त घटना घटी थी वह नगरी भी "अहिच्छत्रा नगरी" इस नाम से प्रसिद्ध हो गई।

अहिच्छत्रा विषयक विशेष वर्णन सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु जिनप्रभ सूरि ने "अहिच्छत्रा नगरी कल्प" में इस तीर्थ के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें कही हैं, जिनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं—

'अहिच्छत्रा पार्श्व जिनचैत्य के पूर्व दिशाभाग में सात मधुर जल से भरे कुण्ड अब भी विद्यमान हैं। उन कुण्डों के जल में स्नान करने वाली मृतवत्सा स्त्रियों की प्रजा स्थिर[1] रहती है। उन कुण्डों की मिट्टी से धातुवादी लोग सुवर्णसिद्धि होना बताते हैं।'

---

(१) जीवित

'यहां एक सिद्धरस कूपिका भी दृष्टिगोचर होती है जिसका मुख पाषाण शिला से ढंका हुआ है। इस मुख को खोलने के लिए एक म्लेच्छ राजा ने बहुत कोशिश की, यहां तक कि रखी हुई शिला पर बहुत तीव्र आग जलाकर उसे तोड़ना चाहा, परन्तु वह अपने सभी प्रयत्नों में निष्फल रहा।'

'पार्श्वनाथ की यात्रा करने आये हुए यात्रीगण अब भी जब भगवान् का "स्नपनमहोत्सव" करते हैं; उस समय कमठ दैत्य प्रचण्ड-पवन और बादलों द्वारा यहां पर दुर्दिन कर देता है।'

'मूल चैत्य से थोड़ी दूरी पर सिद्धक्षेत्र में धरणेन्द्र-पद्मावती सेवित पार्श्वनाथ का मन्दिर बना हुआ है।'

'नगर के दुर्ग के समीप नेमिनाथ की मूर्ति से सुशोभित सिद्ध-बुद्ध नामक दो बालक रूपकों से समन्वित, हाथ में आम्रफलों की डाली लिए सिंह पर आरूढ़ अम्बा देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।'

'यहां उत्तरा नामक एक निर्मल जल से भरी बावड़ी है, जिसके जल में नहाने तथा उसकी मिट्टी का लेप करने से कोढ़ियों के कोढ़ रोग शान्त हो जाते हैं।'

'यहां रहे हुए धन्वन्तरी नामक कुए की पीली मिट्टी से आम्नाय-वेदियों के आदेशानुसार प्रयोग करने से सोना बनता है।'

'यहां ब्रह्मकुण्ड के किनारे मण्डूक-पर्णी ब्राह्मी के पत्तों का चूर्ण एकवर्णी गाय के दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य की बुद्धि और नीरोगता बढ़ती है और उसका स्वर गन्धर्व का सा मधुर बन जाता है।'

'बहुधा अहिच्छत्रा के उपवनों में सभी वृक्षों पर बन्दाक उगे हुए मिलते हैं जो अमुक-अमुक कार्य साधक होते हैं। यही नहीं, यहां के उपवनों में जयन्ती, नागदमनी; सहदेवी, अपराजिता, लक्ष्मणा, त्रिपर्णी, नकुली, सकुली, सर्पाक्षी, सुवर्णशिला, मोहनी; श्यामा, रविभक्ता

(सूर्यमुखी), निर्विषी, मयूरशिखा, शल्या, विशल्यादि अनेक महौषधियां यहां मिला करती हैं ।'

'अहिच्छत्रा में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चण्डिकादि के मन्दिर तथा ब्रह्मकुण्ड आदि अनेक लौकिक तीर्थ स्थान भी बने हुए हैं ।' 'यह नगरी सुगृहीतनामधेय "कण्व ऋषि" की जन्मभूमि मानी जाती है ।'

उपर्युक्त अहिच्छत्रा तीर्थस्थान वर्तमान में कुरु देश के किसी भूमि-भाग में खण्डहरों के रूप में भी विद्यमान है या नहीं इसका विद्वानों को पता लगाना चाहिए ।

(६) रथावर्त (पर्वत) तीर्थ :

प्राचीन जैन तीर्थों में "रथावर्त पर्वत" को निर्युक्तिकार ने षष्ठ नम्बर में रखा है । यह पर्वत आचारांग के टीकाकार शीलाङ्क सूरि के कथनानुसार अन्तिम दश पूर्वधर आर्य वज्र स्वामी के स्वर्गवास का स्थान है । पिछले कतिपय लेखकों का भी मन्तव्य है कि वज्र स्वामी के अनशन-काल में इन्द्र ने आकर इस पर्वत की रथ में बैठकर प्रदक्षिणा की थी जिससे इसका नाम "रथावर्त" पड़ा था । परन्तु यह मन्तव्य हमारी राय में प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि आर्य वज्र स्वामी के अनशन का समय विक्रमीय द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध है, जब कि आचारांग निर्युक्तिकार श्रुतधर आर्य रक्षित आर्य वज्र के समकालीन कुछ ही परवर्ती हो गए हैं । इससे पर्वत का रथावर्त, यह नामकरण भी संगत हो जाता है ।

निर्युक्तिकार को भद्रबाहु मानने से पर्वत का नाम रथावर्त नहीं बैठता । रथावर्त पर्वत किस प्रदेश में था, इस बात का विचार करते समय हमें आर्य वज्रस्वामी के अन्तिम समय के विहारक्षेत्र पर विचार करना होगा । आर्य वज्र स्वामी अपनी स्थविर अवस्था में सपरिवार मालव देश में विचरते थे, ऐसा जैन ग्रन्थों के उल्लेखों से जाना जाता है । उस समय मध्य भारत में बड़ा भारी द्वादश वार्षिक दुर्भिक्ष आरम्भ हो चुका था । साधुओं को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था । एक दिन तो स्थविर

वज्रस्वामी ने अपने विद्याबल से आहार मंगवाकर साधुओं को दिया और कहा—बारह वर्ष तक इसी प्रकार विद्या-पिण्ड से शरीर-निर्वाह करना होगा। इस प्रकार जीवननिर्वाह करने में लाभ मानते हो तो वैसा करें अन्यथा अनशन द्वारा जीवन का अन्त कर दें। श्रमणों ने एक मत से अपनी राय दी कि इस प्रकार दूषित आहार द्वारा जीवननिर्वाह करने से तो अनशन से देह त्याग करना ही अच्छा है। इस पर विचार करके आर्य वज्रस्वामी ने अपने एक शिष्य वज्रसेन मुनि को थोड़े से साधुओं के साथ कोंकण प्रदेश में विहार करने की आज्ञा दी और कहा—'जिस दिन तुमको एक लक्ष सुवर्णों से निष्पन्न भोजन मिले तब जानना कि दुर्भिक्ष का अन्तिम दिन है। उसके दूसरे ही दिन अन्नसंकट हल्का होने लगेगा। अपने गुरुदेव की आज्ञा सिर चढ़ाकर वज्रसेन मुनि ने कोंकण देश की तरफ विहार किया और वज्रस्वामी ने पांच सौ मुनियों के साथ रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन धारण किया।

वज्रस्वामी के उपर्युक्त वर्णन से जाना जा सकता है कि वज्रसेन के विहार करने पर तुरन्त आप वहां से अनशन के लिए रवाना हो गये हैं और निकट प्रदेश में ही रहे हुए रथावर्त पर्वत पर अनशन किया है। प्राचीन विदिशा नगरी (आज का भिल्सा) के समीप पूर्वकाल में "कुंजरावर्त" तथा "रथावर्त" नामक दो पहाड़ियां थीं। वज्रस्वामी ने इसी "रथावर्त" नामक पर्वत पर अनशन किया होगा और यही "रथावर्त" पर्वत जैनों का प्राचीन तीर्थ होगा, ऐसा हमारा मानना है।

(७) चमरोत्पात :

भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के बारहवें वर्ष में वैशाली की तरफ विहार करते हुए सुंसुमारपुर नामक स्थान पर–स्थान के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ थे। तब चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र वहां आया और महावीर की शरण लेकर स्वर्ग के इन्द्र शक्र पर चढ़ाई कर गया। सुधर्मा सभा के द्वार तक पहुंच कर शक्र को धमकाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी चमरेन्द्र को मार हटाने के लिए अपना वज्रायुध उसकी तरफ

फेंका। आग की चिनगारियां उगलते हुए वज्र को देखकर चमर आया उसी रास्ते से भागा। शक्र ने सोचा,–"चमरेन्द्र यहां तक किसी भी महर्षि तपस्वी की शरण लिये विना नहीं आ सकता। देखें! यह किसकी शरण लेकर आया है?" इन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि चमर महावीर का शरणागत बनकर आया है और वहीं जा रहा है। वह तुरन्त वज्र को पकड़ने दौड़ा। चमरेन्द्र अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर भगवान् महावीर के चरणों के बीच घुसा। वज्रप्रहार उस पर होने के पहले ही इन्द्र ने वज्र को पकड़ लिया। इस घटना से सुंसुमारपुर और उसके आसपास के गांवों में सनसनी फैल गई। लोगों के झुंड के झुंड घटना स्थल पर आये और घटना की वस्तुस्थिति को जानकर भगवान् महावीर के चरणों में झुक पड़े। भगवान् महावीर तो वहाँ से विहार कर गये परन्तु लोगों के हृदय में उनके शरणागत–रक्षत्व की छाप सदा के लिए रह गई और घटनास्थल पर एक स्मारक बनवाकर शरणागत-वत्सल भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित की। उस प्रदेश के श्रद्धालु लोग उसे बड़ी श्रद्धा से पूजते तथा कार्यार्थी यात्रीगण, सार्थवाह आदि अपनी यात्रा की निर्विघ्नता के लिए भगवान् की शरण लेकर आगे बढ़ते थे। यही भगवान् महावीर का स्मारक मंदिर आगे जाकर जैनों का "चमरोत्पात"[1] नामक तीर्थ बन गया जिसका आचारांगनिर्युक्ति में स्मरण–वन्दन किया है।

चमरोत्पात तीर्थ आज हमारे विच्छिन्न (भुले हुए) तीर्थों में से एक है। यह स्थान आधुनिक मिर्जापुर जिले के एक पहाड़ी प्रदेश में था, ऐसा हमारा अनुमान है।

(८) शत्रुञ्जय - पर्वत :

"शत्रुञ्जय" आज हमारा सर्वोत्तम तीर्थ माना जाता है। इसका माहात्म्य गाने में शत्रुञ्जय माहात्म्यकार ने कुछ उठा नहीं रखा। यह

(१) चमरेन्द्र के शक्रेन्द्र पर चढ़ाई करने के विषय पर भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु उसमें चमरोत्पात के स्थल पर स्मारक बनने और तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध होने की सूचना नहीं है। मालूम होता है, भगवान् महावीर के प्रवचन का निर्माण होने के समय तक वह स्थान जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध नहीं हुआ था।

पर्वत भगवान् ऋषभदेव का मुख्य विहारक्षेत्र और भरत चक्रवर्ती का सुवर्णमय चैत्यनिर्माण का स्थान माना गया है।

कुछ संस्कृत और प्राकृत कल्पकारों ने भी शत्रुञ्जय के सम्बन्ध में दिल खोलकर गुणगान किया है।

शत्रुञ्जय तीर्थ के गुणगान करने वालों में मुख्यतया "श्री धनेश्वरसूरि" तथा "श्री जिनप्रभसूरि" का नाम लिया जा सकता है। धनेश्वरसूरिजी ने तो माहात्म्य के उपक्रम में ही अपना परिचय दे डाला है। वे कहते हैं–'वलभी नगरी के राजा "शीलादित्य" की प्रार्थना से विक्रम संवत् ४७७ (चार सौ सतहत्तर) में यह शत्रुञ्जयमाहात्म्य मैंने बनाया है। वे स्वयं अपने आपको 'राजगच्छ' का मण्डन बताते हैं। शत्रुञ्जय तीर्थ के संस्कृत-कल्प लेखक श्री जिनप्रभसूरिजी विक्रम की चौहदवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे; इसमें तो कोई शंका ही नहीं। इन्होंने विक्रम सं० १३८५ में यह कल्प लिखा है। इस कल्प की और शत्रुञ्जयमाहात्म्य की मौलिक बातें एक दूसरे का आदान-प्रदान रूप मालूम होती हैं, परन्तु धनेश्वरसूरिजी का अस्तित्व पंचमी शताब्दी में होने का उनकी यह कृति ही प्रतिवाद करती है। इस माहात्म्य में शीलादित्य का तो क्या चौदहवीं सदी के जीर्णोद्धारक समरसिंह तक का नाम लिखा मिलता है। इस स्थिति में इस ग्रन्थ को शीलादित्यकालीन धनेश्वरसूरिजी कृत मानना युक्ति-संगत नहीं है। हमने पाटन गुजरात के एक प्राचीन ग्रन्थ-भण्डागार में एक ताड़पत्रों पर लिखी हुई प्राचीन ग्रन्थसूची देखी थी जिसमें विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक में बने हुए सैंकड़ों जैन जैनेतर ग्रन्थों के नाम मिलते हैं परन्तु उसमें 'शत्रुंजय माहात्म्य' का तथा 'शत्रुञ्जय कल्प' का नामोल्लेख नहीं है। बृहट्टिप्पणिका नामक भारतीय जैन ग्रन्थों की एक बड़ी सूची है जो सोलहवीं शताब्दी में किसी विद्वान् जैन श्रमण ने लिखी है। उसमें "शत्रुञ्जय माहात्म्य" का नाम अवश्य मिलता है परन्तु टिप्पणी-लेखक ने इस ग्रन्थ के नाम के आगे "कूट ग्रन्थ" ऐसा अपना अभिप्राय भी व्यक्त कर दिया है। अष्टम शताब्दी से लगाकर चौदहवीं शताब्दी तक के किसी भी ग्रन्थ में "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" ग्रन्थ अथवा इसके कर्ता धनेश्वरसूरि का नामोल्लेख नहीं मिलता।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि "शत्रुञ्जयमहात्म्य" अर्वाचीन ग्रन्थ है और इसमें लिखी हुई अनेक बातें अनागमिक हैं।

दृष्टान्त के रूप में हम एक ही बात का उल्लेख करेंगे। माहात्म्य ग्रन्थों में लिखा है कि—

"शत्रुंजय पर्वत का विस्तार प्रथम आरे में ८०, द्वितीय आरे में ७०, तृतीय आरे में ६०, चतुर्थ आरे में ५०, पंचम आरे में १२ योजन का होगा, तब षष्ठ आरे में केवल ७ हाथ का ही रहेगा।"

जैन आगमों का ही नहीं किन्तु भूगर्भवेत्ताओं का भी यह सिद्धान्त है कि पर्वत भूमि का ही एक भाग है। भूमि की तरह पर्वत भी धीरे धीरे ऊपर उठता जाता है। लाखों और करोड़ों वर्षों के बाद वह अपने प्रारम्भिक रूप से बड़ा हो जाता है। तब हमारे इन शत्रुंजय माहात्म्यकारों की गंगा उल्टी बहती मालूम होती है, इसलिए इस पर्वत को प्रारम्भ में अस्सी योजन का होकर अन्त में बहुत छोटा होने का भविष्य कथन करते हैं। इसी से इन कल्पों की कल्पितता बताने के लिए लिखना बेकार होगा, वास्तव में पीतल अपने स्वरूप से ही पीतल होता है, युक्ति-प्रयोगों से वह सोना सिद्ध नहीं हो सकता।

हमारे प्राचीन साहित्य-सूत्रादि में इसका विशेष विवरण भी नहीं मिलता। ज्ञाताधर्मकथांग के सोलहवें अध्ययन में पांच पाण्डवों के शत्रुञ्जय पर्वत पर अनशन कर निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्तकृद्दशांग-सूत्र में भगवान् नेमिनाथजी के अनेक साधुओं के शत्रुञ्जय पर्वत पर तपस्या द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध है कि शत्रुञ्जय पर्वत हजारों वर्षों से जैनों का सिद्ध क्षेत्र बना हुआ है। यह स्थान भगवान् ऋषभदेव का विहारस्थल न मानकर नेमिनाथ का तथा उनके श्रमणों का विहारस्थल मानना विशेष उपयुक्त होगा।

आवश्यक-निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् ऋषभदेव उत्तर-पूर्व और पश्चिम भारत के देशों में ही विचरे थे। दक्षिण भारत में अथवा सौराष्ट्र भूमि में वे कभी नहीं पधारे। जैन शास्त्रोक्त भारतवर्ष के नकशे के अनुसार आज का सौराष्ट्र देश ऋषभदेव के समय जलमग्न होगा, अथवा तो एक अन्तरीप होगा। इसके विपरीत नेमिनाथ के समय में यह सौराष्ट्र भूमि समुद्र के बीच होते हुए भी मनुष्यों के बसने योग्य हो चुकी थी। इसी कारण से जरासंध के आतंक से बचने के लिए यादवों ने इस प्रदेश का आश्रय लिया था, तथा इन्द्र के आदेश से उनके लिए कुबेर ने वहां द्वारिका नगरी का निवेश किया था। भगवान् नेमिनाथ ने इसी द्वारिका के बाहर "रैवतक" पर्वत के समीप प्रव्रज्या ली थी और बहुधा इसी प्रदेश में विचरे थे। इस वास्तविक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए हम सौराष्ट्र प्रदेश, उज्जयन्त (गिरनार) और शत्रुञ्जय पर्वत भगवान् नेमिनाथ के विहारक्षेत्र मानेंगे तो वास्तविकता के अधिक समीप रहेंगे।

(९) मथुरा का देव-निर्मित स्तूप :

मथुरा के "देव-निर्मित स्तूप" का यद्यपि मूल आगमों में उल्लेख नहीं मिलता तथापि छेद-सूत्रों तथा अन्य सूत्रों के भाष्य, चूर्णि आदि में इसके उल्लेख मिलते हैं। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"मथुरा नगरी के बाहर वन में एक क्षपक (तपस्वी जैन साधु) तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या और संतोषवृत्ति से वहां की वन-देवता तपस्वी साधु की तरफ भक्ति-विनम्र हो गई थी। प्रतिदिन वह साधु को वन्दना करती और कहती—"मेरे योग्य कार्य-सेवा फरमाना", क्षपक कहता—"मुझे तुम जैसी अविरत देवी से कुछ कार्य नहीं।" देवी जब भी क्षपक को कार्य-सेवा के लिए उक्त वाक्य दोहराती तो क्षपक भी अपनी तरफ से वही उत्तर दिया करता था। एक समय देवी के मन में आया—"तपस्वी बार-बार मुझे कोई कार्य न होने का कहा करते हैं तो अब ऐसा कोई उपाय करूं ताकि ये मेरी सहायता पाने के इच्छुक बनें।

उसने मथुरा के निकट एक बड़े विशाल चौक में रात भर में एक बड़ा स्तूप खड़ा कर दिया। दूसरे दिन उस स्तूप को जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी अपना मानकर उसका कब्जा करने के लिए तत्पर हुए। जैन स्तूप को अपना बताते थे, तब बौद्ध अपना। स्तूप में "लेख" अथवा किसी सम्प्रदाय की "देव-मूर्ति" न होने के कारण, उसने जैन-बौद्धों के बीच झगड़ा खड़ा कर दिया। परिणामस्वरूप दोनों सम्प्रदायों के नेता न्याय के लिए राजा के पास पहुंचे और स्तूप का कब्जा दिलाने की प्रार्थना की। राजा तथा उसका न्याय-विभाग स्तूप जैनों का है अथवा बौद्धों का, इसका कोई निर्णय नहीं दे सके।

जैन संघ ने अपने स्थान में मिलकर विचार किया कि यह स्तूप दिव्य शक्ति से बना है और देवसाहाय्य से ही किसी संप्रदाय का कायम हो सकेगा। संघ में देव सहायता किस प्रकार प्राप्त की जाय इस बात पर विचार करते समय जानने वालों ने कहा—वन में अमुक क्षपक के पास वन-देवता आया करता है। अतः क्षपक द्वारा उस देवता से स्तूप-प्राप्ति का उपाय पूछना चाहिए। संघ में सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि दो साधु क्षपक मुनि के पास भेजकर उनके द्वारा बन देवता की इस विषय में सहायता मांगी जाय।

प्रस्ताव के अनुसार श्रमण-युगल क्षपक मुनि के पास गया और क्षपकजी को संघ के प्रस्ताव से वाकिफ किया। क्षपक ने भी यथाशक्ति संघ का कार्य सम्पन्न करने का आश्वासन देकर आए हुए मुनियों को वापस विदा किया।

नित्य नियमानुसार वनदेवता क्षपक के पास आये और वन्दनपूर्वक कार्य सेवा सम्बन्धी नित्य की प्रार्थना दोहराई। क्षपक ने कहा—एक कार्य के लिए तुम्हारी सलाह आवश्यक है। देवता ने कहा—कहिये वह कार्य क्या है ? क्षपकजी बोले—महीनों से मथुरा के स्तूप के सम्बन्ध में जैन-बौद्धों के बीच झगड़ा चल रहा है। राजा, न्यायाधिकरण भी परेशान हो रहे हैं, पर इसका निर्णय नहीं होता। मैं चाहता हूं तुम कोई ऐसा उपाय

बताओ और साहाय्य करो कि यह स्तूप सम्बन्धी झगड़ा तुरन्त मिटे और स्तूप जैन सम्प्रदाय का प्रमाणित हो।

वनदेवता ने कहा—तपस्वीजी महाराज! आज मेरी सेवा की आवश्यकता हुई न? तपस्वी बोले—"अवश्य यह कार्य तो तुम्हारी सहानुभूति से ही सिद्ध हो सकेगा।"

देवी ने कहा—आप अपने संघ को सूचित करें कि वह आयन्दा राज-सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित करे—"यदि स्तूप पर स्वयं श्वेत ध्वजा फरकने लगेगी तो स्तूप जैनों का समझा जायगा और लाल ध्वजा फरकने पर बौद्धों का।"

क्षपक ने मथुरा जैन संघ के नेताओं को अपने पास बुलाकर वन-देवतोक्त प्रस्ताव की सूचना की। संघनायकों ने न्यायाधिकरण के सामने वैसा ही प्रस्ताव उपस्थित किया। राजा तथा न्यायाधिकारियों को प्रस्ताव पसंद आया और बौद्धनेताओं से उन्होंने इस विषय में पूछा तो बौद्धों ने भी प्रस्ताव को मंजूर किया।

राजा ने स्तूप के चारों ओर रक्षक नियुक्त कर दिये। कोई भी व्यक्ति स्तूप के निकट तक न जाए, इसका पूरा बन्दोवस्त किया, इस व्यवस्था और प्रस्ताव से नगर भर में एक प्रकार का कौतुकमय अद्भुत रस फैल गया। दोनों सम्प्रदायों के भक्त जन अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण कर रहे थे, तब निरपेक्ष नगरजन कब रात बीते और स्तूप पर फहराती हुई ध्वजा देखें, इस चिन्ता से भगवान् भास्कर से जल्दी उदित होने की प्रार्थनाएं कर रहे थे।

सूर्योदय होने के पूर्व ही मथुरा के नागरिक हजारों की संख्या में स्तूप के इर्द-गिर्द स्तूप की ध्वजा देखने के लिए एकत्रित हो गये। सूर्य के पहले ही उसके सारथि ने स्तूप के शिखर, दंड और ध्वजा पर प्रकाश फेंका, जनता को अरुण प्रकाश में सफेद वस्त्र सा दिखाई दिया। जैन जनता के हृदय में आशा की तरंगें बहने लगीं। इसके विपरीत बौद्ध धर्मियों के

दिल निराशा का अनुभव करने लगे, सूर्यदेव ने उदयाचल के शिखर से अपने किरण फेंककर सबको निश्चय करा दिया कि स्तूप के शिखर पर श्वेत-ध्वज फरक रहा है। जैन धर्मियों के मुखों से एक साथ "जैनं जयति शासनम्" की ध्वनि निकल पड़ी और मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का स्वामित्व जैन संघ के हाथों में सौंप दिया गया।

मथुरास्थित देवनिर्मित स्तूप की उत्पत्ति का उक्त इतिहास हमने जैन सूत्रों के भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं के भिन्न-भिन्न वर्णनों को व्यवस्थित करके लिखा है। आचार्य जिनप्रभ सूरि कृत मथुरा-कल्प में पौराणिक ढंग से इस स्तूप का विशेष वर्णन दिया है, जिसका संक्षिप्त सार पाठकगण के अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है—

'श्रीसुपार्श्वनाथ जिनके तीर्थवर्ती धर्मघोष और धर्मरुचि नामक दो तपस्वी मुनि एक समय बिहार करते हुए मथुरा पहुंचे। उस समय मथुरा की लम्बाई बारह योजन तथा विस्तार नव योजन परिमित था। उसके चारों ओर दुर्ग बना हुआ था और पास में दुर्ग को नहलाती हुई यमुना नदी बह रही थी। मथुरा के भीतर तथा बाहर अनेक कूप बावड़ियाँ बनी हुई थीं। नगरी गृहपंक्तियों, हाट-बाजारों और देव-मन्दिरों से सुशोभित थी। इसका बाह्य भूमिभाग अनेक वनों, उद्यानों से घिरा हुआ था। तपस्वी धर्मघोष, धर्मरुचि मुनियुगल ने मथुरा के "भूतरमण" नामक उद्यान में चातुर्मासिक तप के साथ वर्षा-चातुर्मास्य की स्थिरता की। मुनियों के तप ध्यान शान्ति आदि गुणों से आकर्षित होकर उपवन की अधिष्ठात्री "कुबेरा" नामक देवी उनके पास रात्रि के समय जाकर कहने लगी,—मैं आपके गुणों से बहुत ही संतुष्ट हूँ, मुझसे वरदान मांगिये। मुनियों ने कहा—हम निःसङ्ग श्रमण हैं। हमें किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं, यह कहकर उन्होंने "कुबेरा" को धर्म का उपदेश देकर जैन धर्म की श्रद्धा कराई।

चातुर्मास्य की समाप्ति के लगभग कार्तिक सुदि अष्टमी को तपस्वियों ने अपने निवासस्थान की स्वामिनी जानकर कुबेरा को कहा—श्राविके!

चातुर्मास्य पूरा होने आया है, हम यहाँ से चातुर्मास्य की समाप्ति होते ही विहार करेंगे। तुम जिनदेव की पूजा-भक्ति तथा जैन धर्म की उन्नति में सहयोग देती रहना। देवी ने तपस्वियों को वहीं ठहरने की प्रार्थना की, परन्तु साधुओं का एक स्थान पर रहना, आचारविरुद्ध बताकर उसकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। कुबेरा ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है, तो मेरे योग्य धर्म-कार्य का आदेश फरमाइये, क्योंकि देवदर्शन "अमोघ" होता है। साधुओं ने कहा—"मथुरा के जैन संघ के साथ हमें मेरु पर्वत पर ले जाइए", देवी ने कहा—आप दो को मैं वहां ले जा सकती हूँ। मथुरा का संघ साथ में होगा तो मुझे भय है कि मिथ्यादृष्टि देव मेरे गमन में विघ्न करेंगे। साधु बोले—यदि संघ को वहां ले जाने की तेरी शक्ति नहीं है, तो हम दोनों का वहां जाना उचित नहीं है। हम शास्त्र-बल से ही मेरु स्थित जिनचैत्यों का दर्शन वन्दन कर लेंगे। तपस्वियों के इस कथन को सुनकर, लज्जित सी हो कुबेरा बोली—भगवन् ! यदि ऐसा है तो मैं स्वयं जिनप्रतिमाओं से शोभित मेरु पर्वत का आकार यहां बना देती हूँ। वहां पर संघ के साथ आप देववन्दन करलें। साधुओं ने देवी की बात को स्वीकार किया, तब देवी ने सुवर्णमय नाना रत्नशोभित अनेक देव परिवारित, तोरण-ध्वज-मालाओं से अलंकृत, जिसका शिखर छत्रत्रय से सुशोभित हो ऐसा रात भर में स्तूप निर्माण किया, जो मेरु पर्वत की तरह तीन मेखलाओं से सुशोभित था। प्रत्येक मेखला में प्रति दिक् सम्मुख पञ्चवर्ण रत्नमय प्रतिमाएँ सुशोभित थीं। मूल नायक के स्थान पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का बिंब प्रतिष्ठित था।

प्रभात होते ही लोग स्तूप के पास एकत्र हुए और आपस में विवाद करने लगे। कोई कहते—वासुकि नाग के लांछन वाला स्वयंम्भू देव है, तब दूसरे कहते थे—"शेषशायी भगवान् नारायण है।" इसी प्रकार कोई ब्रह्मा, कोई धरणेन्द्र (नागराज), कोई सूर्य तो कोई चन्द्रमा कहकर अपनी जानकारी बता रहे थे। बौद्ध कहते थे—यह स्तूप नहीं, किन्तु 'बुद्धाण्डक' है। इस विवाद को सुनकर मध्यस्थ पुरुष कहते थे—यह दिव्य शक्ति से बना है और दिव्य शक्ति से ही इसका निर्णय होगा। तुम आपस में क्यों

लड़ते हो। अपने-अपने इष्ट देवों को वस्त्र-पटों पर चित्रित करवाकर निज निज मण्डली के साथ ठहरो, स्तूप-स्थित देव जिसका होगा, उसी का चित्रपट रहेगा। शेष व्यक्तियों के पटस्थित देव भाग जायेंगे। जैन संघ ने भी सुपार्श्वनाथ का चित्रपट बनवाया, बाद में अपनी अपनी मण्डलियों के साथ चित्रित चित्रपटों की पूजा करके सब धार्मिक सम्प्रदाय वाले अपने-अपने पट सामने रखकर उनकी भक्ति करने लगे।

नवम दिन की रात्रि का समय था। सभी सम्प्रदायों के भक्तजन अपने अपने ध्येय देव के गुणगान कर रहे थे। बराबर अर्द्धरात्रि व्यतीत हुई तब प्रचण्ड पवन प्रारम्भ हुआ। पवन से तृण रेती उड़े इसमें तो बड़ी बात नहीं थी, परन्तु उसकी प्रचण्डता यहां तक बढ़ चली कि उसमें पत्थर-कंकर तक उड़ने लगे। तब लोगों का ध्यान टूटा, वे प्राण बचाने की चिंता से वहां से भागे। लोगों ने अपने अपने सामने जो देव-पूजा पट रखे थे, वे लगभग सब के सब प्रचण्ड पवन में विलीन हो गये। केवल सुपार्श्वनाथ का पट्ट वहां रह गया। हवा का बवण्डर शान्त हुआ, लोग फिर एकत्रित हुए और सुपार्श्वनाथ का पट्ट देखकर बोले—ये अरिहंत देव हैं और यह स्तूप भी इन्हीं देव की मूर्तियों से अलंकृत है। लोग उस पट्ट को लेकर सारे मथुरा नगर में घूमे और तब से "पट्ट-यात्रा" प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार धर्मघोष तथा धर्मरुचि मुनि मेरुपर्वताकार देवनिर्मित स्तूप में देववन्दन कर नया तीर्थ प्रकाश में लाकर, जैन संघ को आनंदित कर मथुरा से विहार कर गए और क्रमशः कर्म क्षय कर संसार से मुक्त हुए।

"कुबेरा देवी स्तूप की तब तक रक्षा करती रही, जब कि पार्श्वनाथ का शासन प्रचलित हुआ।"

'एक समय भगवान् पार्श्वनाथ विहार कर क्रम से मथुरा पधारे। उन्होंने धर्मोपदेश करते हुए भावी दुष्षमाकाल के भावों का निरूपण किया। पार्श्वनाथ के वहां से विहार करने के बाद कुबेरा ने संघ को बुलाकर

कहा–भविष्य में समय कनिष्ठ आने वाला है, कालानुभाव से राजादि शासक लोभग्रस्त बनेंगे और इस सुवर्णमय स्तूप को नुकसान पहुँचायेंगे। अतः स्तूप भीतर को ईंटों के परदे से ढांक दिया जाय। भीतर की मूर्तियों की पूजा मैं अथवा मेरे बाद जो नयी कुबेरा उत्पन्न होगी वह करेगी। संघ इष्टकामय स्तूप में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रस्तरमयी मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा किया करे। देवी की बात भविष्य में लाभदायक जानकर संघ ने मान्य की और देवी ने विचारित योजनानुसार मूल स्तूप को ईंटों के स्तूप में ढांप दिया।

वीर-निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी में आचार्य बप्पभट्टि हुए। उन्होंने भी इस तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया, पार्श्वनाथ की पूजा करवाई, नित्यपूजा होती रहे, इसके लिए व्यवस्था करवाई।

इष्टकामय स्तूप पुराना हो जाने से उसमें से ईंटें निकलने लगी थीं, इसलिए संघ ने पुराने स्तूप को हटाकर नया पाषाणमय स्तूप बनवाने का निर्णय किया, परन्तु कुबेरा ने स्वप्न में कहा—इष्टकामय स्तूप को अपने स्थान से न हटाइये, इसको मजबूत करना हो तो ऊपर पत्थर का खोल चढ़वा दो। संघ ने वैसा ही किया। आज भी देव-निर्मित स्तूप को अदृश्य रूप से देव पूजते हैं तथा इसकी रक्षा करते हैं। हजारों प्रतिमाओं से युक्त देवालयों, रहने के स्थानों, सुन्दर गन्ध-कुटियों तथा चेलनिका, अम्बा, अनेक क्षेत्रपाल आदि के निवासों से यह स्तूप सुशोभित है।

'पूर्वोक्त बप्पभट्टि सूरिजी ने, जो कि ग्वालियर के राजा आम के धर्मगुरु थे, मथुरा में वि० सं० ८२६ में भगवान् महावीर का बिम्ब प्रतिष्ठित किया।'

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप की उत्पत्ति का निरूपण शास्त्रीय प्रतीकों तथा मथुराकल्प के आधार से ऊपर दिया गया है। कल्पोक्त वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि यह स्तूप है अतिप्राचीन और भारत में विदेशियों के आने के समय

में यह स्तूप जैनों का एक महिमास्पद तीर्थ बना हुआ था। वर्ष के अमुक समय में यहां स्नान-महोत्सव होता और उस प्रसंग पर भारत-वर्ष के कोने कोने से आकर तीर्थ-यात्रिक यहां एकत्रित होते थे, ऐसा प्राचीन जैन साहित्य के उल्लेखों से सिद्ध होता है। इस बात के समर्थन में निशीथ-भाष्य की एक गाथा तथा उसकी चूर्णि का उद्धरण नीचे देते हैं—

"थूभमह सड्ढि समणि,–बोहियहरणं च निवसुयातावे।
मग्गेण य अक्कंदे, कयंमि युद्धेण मोएति ॥"

अर्थात्—'मथुरा के स्तूप महोत्सव पर जैन श्राविकाएँ तथा जैन साध्वियां जा रही थीं, मार्ग में से बोधिक लोग उन्हें घेर कर अपने साथ ले चले, आगे जाते मार्ग के निकट आतापना करते हुए एक राजपुत्र प्रव्रजित जैन–मुनि को देखा, उन्हें देखते ही यात्रार्थिनियों ने आक्रन्द (शोर) किया, जिसे सुनकर मुनि उनकी तरफ आये और बौधिकों से युद्ध कर श्राविकाओं तथा साध्वियों को उनके पञ्जे से छुड़ाया।'

उक्त गाथा की विशेष चूर्णि नीचे लिखे अनुसार है—

"महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मिओ, तस्स महिमानिमित्तं सड्ढीतो समणीहिं समं निग्गयातो, रायपुत्तो तत्थ अदूरे आयावंतो चिट्ठई। ता सड्ढीसमणीतो बोहियेहिं गहियातो तेणं तेणं अणियातो ता ताहिं तं साहुं दट्ठूणं अक्कंदो कओ, ततो रायपुत्तेण साहुणा युद्धं दाऊण मोइयातो। बोधिका–अनार्य म्लेच्छाः।" (नि० वि० चू० २६८२)

अर्थात्—चूर्णि का भावार्थ गाथा के नीचे दिए हुए अर्थ में आ चुका है, इसलिये चूर्णि का अर्थ न लिख कर चूर्णिकार के अन्तिम शब्द "बोधिक" पर ही थोड़ा ऊहापोह करेंगे।

जैन–सूत्रों के भाष्यादि में "बोहिय" यह शब्द बार-बार आया करता है, प्राचीन संस्कृत टीकाकार "बोहिय" शब्द बनाकर कहते हैं—"बोधिक" पश्चिम दिशा के म्लेच्छों को कहते हैं। प्राकृत टीकाकार कहते हैं—"मनुष्य

का अपहरण करने वाले म्लेच्छ "बोहिय" कहलाते हैं। हमारा अनुमान है कि "बोधिक" अथवा "बोहिय" कहलाने वाले लोग "बोहीमिया" के रहने वाले विदेशी थे; वे यूनानियों के भारत पर के आक्रमण के समय भारत की पश्चिम सरहद पर इधर उधर पहाड़ी प्रदेशों में फैल गए थे। मौर्य चन्द्रगुप्त के शासनकाल में भारत के पश्चिम तथा उत्तर प्रदेशों में घुस कर ये मनुष्यों को पकड़ पकड़ कर ले जाते और विदेशों में पहुंचा कर गुलाम खरीद-दारों के हाथ बेच दिया करते थे। उपर्युक्त हमारा अनुमान ठीक हो तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि मथुरा का स्तूप मौर्य-राज्यकालीन होना चाहिए।

मथुरा का देवनिर्मित स्तूप आज भी मथुरा के "कंकाली टीला" के रूप में भग्न अवस्था में खड़ा है। इसमें से मिली हुई कुषाण कालीन जैन-मूर्तियां, आयाग-पट, जैन साधुओं की मूर्तियां आदि ऐतिहासिक साधन आज भी मथुरा तथा लखनऊ के सरकारी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इन पर राजा कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव के राज्यकाल के लेख भी उत्कीर्ण हैं, इससे ज्ञात होता है कि यह तीर्थ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक उन्नत दशा में था। उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमणों से खास कर श्वेत हूणों के समय में जैन श्रमण तथा जैन गृहस्थ सामूहिक रूप से दक्षिण भारत की तरफ राजस्थान, मेवाड़, मालवा, आदि में चले आये और उत्तर भारत के अनेक जैन तीर्थ रक्षण के अभाव से वीरान हो गये थे, जिनमें से मथुरा का देव-निर्मित स्तूप भी एक था।

(१०) सम्मेत शिखर :

सूत्रोक्त जैन तीर्थों में सम्मेत शिखर (पारसनाथ–हिल) का नाम भी परिगणित है। आवश्यक निर्युक्तिकार कहते हैं–ऋषभदेव[१] वासुपूज्य[१२] नेमिनाथ[२२] और वर्धमान[२४] (महावीर) इन चार तीर्थङ्करों को छोड़ शेष इस अवसर्पिणी समस के बीस तीर्थंकर सम्मेत शिखर पर निर्वाण प्राप्त हुए थे, इस दशा में सम्मेत शिखर को तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि होने के कारण तीर्थ कहते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में "निगमगच्छ" के प्रादुर्भावक आचार्य इन्द्रनन्दी के बनाये हुए "निगमों" में एक निगम "सम्मेत शिखर" के वर्णन में लिखा है। जिसमें इस तीर्थ का बहुत ही अद्भुत वर्णन किया है। आज से ४४ वर्ष पहले ये निगम कोडाय (कच्छ) के भण्डार में से मंगवाकर हमने पढ़े थे।

ऊपर लिखे सूत्रोक्त दश प्राचीन तीर्थों के अतिरिक्त वैभारगिरि, विपुलाचल, कोशला की जीवित-स्वामि-प्रतिमा, अवन्ति की जीवितस्वामि-प्रतिमा आदि अनेक प्राचीन पवित्र तीर्थों के उल्लेख सूत्रों के भाष्य आदि में मिलते हैं, परन्तु इन सबका एक निबन्ध में निरूपण करना अशक्य जानकर उन्हें छोड़ देते हैं।

प्राचीन जैन तीर्थों के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है परन्तु एक निबन्ध में इससे अधिक लिखना पाठकगण के लिये रुचिकर न होगा, यह समझकर तीर्थविषयक लेख यहां पूरा किया जाता है। आशा है कि पाठकगण लेखगत त्रुटियों पर नजर न रखकर इसकी ज्ञातव्य बातों पर लक्ष्य देंगे।

卐 卐

: २१ :

मारवाड़ की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ

लेखक—मुनि कल्याणविजयजी

१. उत्थान :

यों तो मारवाड़ में अनेक जगह प्राचीन जैन मूर्तियाँ विद्यमान होंगी, परन्तु आज तक हमने जितनी भी धातुमयी और पाषाणमयी जैन मूर्तियों के दर्शन किये उन सब में पिण्डवाड़ा (सिरोही) के महावीर स्वामी के मन्दिर में रही हुई कतिपय सर्व धातु की मूर्तियाँ अधिक प्राचीन हैं।

पहले पहल हमने संवत् १९७८ के पौष सुदि ७ के दिन इन मूर्तियों के दर्शन किये थे और कुछ मूर्तियों के लेख तथा तत्सम्बन्धी जरूरी नोट भी लिख लिये थे; परन्तु इनके विषय में लिखने की इच्छा होने पर भी कुछ लिखा नहीं जा सका। कारण यह था कि उनमें की सबसे प्राचीन एक मूर्ति पर जो लेख था वह पूरा पढ़ा नहीं गया था। यद्यपि उसका प्रथम और अन्तिम पद्य-संवत् स्पष्ट पढ़ा गया था, परन्तु अक्षरों के घिस जाने के कारण बिचले दो पद्य पढ़े नहीं जा सके थे और इच्छा, लेख पूरा पढ़कर कुछ भी लिखने की थी।

इस साल गत आषाढ़ वदि ६ के दिन फिर हमने प्रस्तुत मूर्तियों के दर्शन किये और उनके सम्बन्ध में फिर भी कुछ बातें नोट कीं। बाद में वहीं पर सुना कि 'कोई ४–५ दिन पहले ही रायबहादुर महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशंकरजी ओझा यहाँ की इस प्राचीन कार्योत्सर्गिक मूर्ति का लेख ले गये हैं, यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पण्डितजी से लेख की नकल मंगवा लेने के विचार से इस बार उक्त लेख पढ़ने का हमने प्रयत्न ही नहीं किया।

पिण्डवाड़ा से विहार कर जब हम रोहिड़ा आये तो पण्डितजी यहीं थे। खबर पहुंचते ही आप उपाश्रय में पधारे और बराबर तीन घण्टों तक पुरातत्त्वविषयक ज्ञानगोष्ठी करते रहे। दर्मियान उक्त जैन लेख के बारे में पूछने पर ज्ञात हुआ कि "वह लेख आपके नोट में भी पूरा नहीं है, घिस जाने के कारण बिचला भाग ठीक नहीं पढ़ा गया।"[1] हमें बड़ी निराशा हुई। अब लेख के सम्पूर्ण पढ़ जाने की कोई आशा नहीं रही और उन मूर्तियों तथा लेख के सम्बन्ध में जो कुछ लिखने योग्य है उसे लिख देने का निश्चय कर लिया।

२. मूर्तियों का मूल प्राप्ति-स्थान :

प्रस्तुत मूर्तियाँ यद्यपि इस समय पिण्डवाड़ा के जैन मन्दिर में स्थापित हैं, परन्तु इनका मूल प्राप्तिस्थान जहाँ से कि ये लाई गई हैं **वसन्तगढ़** है।

'**वसन्तगढ़**' पिण्डवाड़ा से अग्निकोण में करीब ३ कोस की दूरी पर एक पहाड़ी किला है, जो इसी नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के भील मेदजन आदि पहाड़ी लोग इसे "चवलियो रो गढ़"[2] इस नाम से अधिक पहिचानते हैं। सोलहवीं सदी के शिलालेखों में इस स्थान का नाम "वसन्तपुर" लिखा है, तब कोई कोई पुरातत्त्वज्ञ इसका प्राचीन नाम "वसिष्ठपुर" बताते हैं। कुछ भी हो, लेकिन "वसन्तगढ़" मारवाड़ के अतिप्राचीन स्थानों में से एक है। यह बात वहाँ के क्षेमार्या देवी के मन्दिर के विक्रम की सातवीं सदी के एक शिलालेख से ही सिद्ध है।

वसन्तगढ़ में इस समय भी तीन-चार अर्धध्वस्त दशा में जैन मन्दिर दृष्टिगोचर होते हैं। दो-तीन जैनेतर देवताओं के मन्दिर भी वहां खण्डित

---

१. बाद में हमने पण्डितजी से उस लेख की नकल भी अजमेर से मंगवाई, परन्तु आपके कहने मुजब ही उसके बिचले दो पद्य अधिकांश में अक्षरों के घिस जाने से पढ़े नहीं गये थे, फिर भी हमें पण्डितजी की नकल से दो एक शब्द नये अवश्य मिले और उनके आधार से उन पद्यों का भाव समझने में कुछ सुगमता हो गई।

२. वसन्तगढ़ से करीब डेढ़ मील के फासले पर एक "चवली" नाम का गांव है, उसी के ऊपर से "चवलियो रो गढ़" कहते हैं।

दशा में विद्यमान हैं, जिनमें एक देवी "क्षेमार्या" का प्राचीन मन्दिर भी है।

प्रस्तुत धातु-मूर्तियाँ विक्रम सं० १९५६ तक बसन्तगढ़ के जैन मंदिर के भूमिगृह में थीं, जिनका किसी को पता नहीं था। परन्तु उक्त वर्ष में जो कि एक भयंकर दुष्काल का समय था, धन के लोभ से अथवा अन्य किसी कारण से पुराने खण्डहरों की तलाश करने वालों को इन जैन मूर्तियों का पता लगा। उन्होंने तीन-चार मूर्तियों के अङ्ग तोड़कर उनकी परीक्षा करवाई और उनके सुवर्णमय न होने के कारण उन्हें वहीं छोड़ दिया। बाद में धीरे धीरे यह बात निकटस्थ गांवों वालों के कानों पहुंची, तब पिण्डवाड़ा आदि के जैन श्रावकों ने यहां जाकर छोटी-बड़ी अखण्ड और खंडित सभी धातु-मूर्तियां पिण्डवाड़े ला करके और उनमें जो जो पूजने योग्य थी उन्हें ठीक करवा कर महावीर स्वामी के मंदिर के गूढ मंडप में और पिछली बड़ी देहरी के मंडप में स्थापित की जो अभी तक वहीं पूजी जाती हैं।

३. मूर्तियों की वर्तमान अवस्था :

यों तो वसंतगढ से आई हुई मूर्तियों की संख्या बहुत है, परन्तु उनमें से अधिकांश तीन तीर्थियां, पंच तीर्थियां और चतुर्विशतियां दशवीं ग्यारहवीं और बारहवीं सदी की होने से इस लेख में उनका परिचय देने की विशेष आवश्यकता नहीं। जो जो मूर्तियां नवम-शताब्दी के पूर्वकाल की हैं उन्हीं का परिचय कराना यहां योग्य समझा गया है।

जिन्हें मैं आठवीं सदी की मूर्तियां कहता हूँ वे कुल आठ हैं। उनमें तीन अकेली[१] तीन त्रितीर्थियां और दो अकेली कार्योत्सर्गिक मूर्तियां हैं।

इनमें से पहली तीन अकेली मूर्तियाँ लगभग पौन फुट के लगभग ऊंची हैं और बिल्कुल ही खंडित तथा बेकार बनी हुई हैं। पहले ये भूहरे में रख

१. पहले तमाम मूर्तियां सपरिकर ही होती थीं इस हिसाब से ये मूर्तियां भी पहले सपरिकर ही होगी और बाद में परिकरों से जुदा पड़ जाने से अकेली हुई होंगी ऐसा अनुमान है।

दो गई थीं परन्तु बाद में वहां के एक श्रावक ने गांव के पंचों की राय लिये वगैर ही पालनपुर के एक पुरातत्त्व अन्वेषक गृहस्थ को वे दे दी थीं, परन्तु साल भर के बाद जब गांव के पंचों को इस बात का पता लगा तो देने वाले को मूर्तियां वापिस लाने के लिए तंग किया और ले जाने वाले गृहस्थ से भी मूर्तियां वापिस दे देने के लिए लिखा-पढ़ी की। आखिर वे तीनों मूर्तियां फिर पिण्डवाड़े आ गई, जो अभी पिछली देहरी के कपिलामण्डप के दोनों खत्तकों में रक्खी हुई हैं।

तीन त्रितीर्थियां भी उसी देहरी के मण्डप में भीतर जाते दाहिने हाथ की तरफ विराजमान हैं। ये परिकर सहित सवा फुट के लगभग ऊँचाई में होंगी। ये मूर्तियां अभी तक अच्छी हालत में हैं।

त्रितीर्थियों के मूलनायक की प्राचीनता उनके लम्बगोल और सुनहरे मुख से ही झलकती है। बाकी उन पर न लेख है, न वस्त्र या नग्नता के ही चिह्न। परन्तु इन त्रितीर्थियों में जो दो दो कायोत्सर्गस्थित मूर्तियां हैं उनकी आकृति और कटि भाग के नीचे स्पष्ट दिखने वाला वस्त्रावरण इनकी प्राचीनता का खुला साक्ष्य दे रहा है।

इन त्रितीर्थियों में अर्वाचीन त्रितीर्थियों से दो एक बातें भिन्न प्रकार की देखी गईं। अर्वाचीन त्रितीर्थियों में दोनों कार्योत्सर्गिक मूर्तियां एक ही तीर्थंकर की होती हैं और उनमें यक्ष-याक्षिणी भी मूलनायक की ही होती हैं परन्तु इन त्रितीर्थियों के सम्बन्ध में यह बात नहीं पाई गई। इनमें मूलनायक तो अन्य तीर्थङ्कर हैं ही, परन्तु दो कायोत्सर्गिक भी भिन्न-भिन्न तीर्थङ्कर हैं और केवल मूलनायक के ही नहीं सब के पास अपने-अपने अधिष्ठायकों की मूर्तियां दृष्टिगोचर होती हैं।

दो अकेली कायोत्सर्गिक मूर्तियां मूलमन्दिर के गूढ़ मण्डप में दाहिने और बायें भाग में सामने ही खड़ी हैं। दोनों मूर्तियों के नीचे धातुमय पाद-पीठ हैं, जिनसे मूर्तियां काफी ऊँची दीखती हैं। पादपीठ सहित इन कायोत्सर्गिकों की ऊँचाई ६ फुट से अधिक होगी। सामान्यतया दोनों

मूर्तियां अच्छी हालत में हैं परन्तु ध्यान से देखने से इनकी भुजाओं में श्वेत धातु के टांके स्पष्ट दिखाई देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनकी भुजायें अनार्य लोगों ने तोड़ दी होंगी अथवा तोड़ने के लिए इन पर शस्त्र प्रहार किये होंगे, जिससे भुजाओं में गहरी चोटें लगी हैं, जो बाद में चांदी से भर दी गई मालूम होती हैं।

दो मूर्तियों में से उक्त बायें हाथ तरफ की मूर्ति के पादपीठ पर ५ पंक्ति का एक संस्कृत भाषा में लेख है जो विवेचनपूर्वक आगे दिया जायगा।

४. मूर्तियों की विशिष्टता :

प्रस्तावित मूर्तियों की विशिष्टता भी देखने योग्य है। गुप्तकालीन शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने होने के कारण तो ये दर्शनीय हैं ही, परन्तु अन्य भी अनेक विशिष्टतायें इनमें संनिहित हैं।

१. आज तक जितनी कायोत्सर्गस्थित प्राचीन जिनमूर्तियां हमने देखी हैं उन सब के कटिभाग में तीन पांच अथवा सात सर का कच्छ बंधा हुआ और उनके अंचल सामने गुह्यभाग से लेकर जंघामध्य तक लम्बे देखे गये हैं। परन्तु इन मूर्तियों के विषय में यह बात नहीं है। इनके कटि-प्रदेश में कच्छ या लंगोट नहीं किन्तु कंदोरा सा बंधा हुआ दिखाई देता है, जिसका गठबन्धन सामने ही मूर्ति के दाहिने हाथ की तरफ किया हुआ है और वहीं उसके छोर लटकते हुए दिखलाये है। परन्तु रस्सी का एक छोर सामने की तरफ भी नीचे लटकता हुआ दिखाया गया है, जो कपड़े के एक अंचल से बंधा हुआ सा ज्ञात होता है। इससे मूर्ति के दाहिने भाग में तो कंदोरे की गांठ मात्र ही दीखती है, परन्तु बायीं तरफ जघन भाग से सटा हुआ कपड़ा दिखाई दे रहा है जो सामने के बायें अर्ध भाग को ढंकता हुआ घुटनों के भी नीचे पतली जांघों तक चला गया है। बायें भाग में कपड़े पर बल पड़े होने से वह स्पष्ट दिखाई देता है। दाहिने भाग में वैसा न होने से कपड़े का चिह्न स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता, परन्तु दोनों जांघों के निचले भागों में टखनों के कुछ ही ऊपर कपड़े की किनारी स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे "मूर्तियों का कमर के नीचे का भाग वस्त्रावृत है" यह बात

स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। इस प्रकार की उक्त मूर्तियां न तो कच्छवाली कही जा सकती हैं और न नग्न ही, किन्तु जिस प्रकार श्वेताम्बर जैन साधु आजकल चोलपट्टा पहिन कर ऊपर कन्दोरा बांधते हैं; ठीक उसी प्रकार ये मूर्तियां भी कमर से जंघा तक कपड़ा पहिनी और ऊपर कन्दोरा बंधी हुई प्रतीत होती हैं। प्रस्तुत मूर्तियों की सबसे पहली यह विशिष्टता है और इससे हमारे समाज में चिर प्रचलित एक दन्तकथा निराधार लिखी हुई साबित होती है।

कहा जाता है और अनेक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थों में लिख भी चुके है कि पूर्वकाल में जैन मूर्तियां न तो नग्न होती थीं और न वस्त्रावृत किन्तु वे उक्त दोनों आकारों से विलक्षण आकार वाली होती थीं, जिन्हें श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों वाले मानते थे। परन्तु बप्पभट्टि आचार्य के समय में (विक्रम की नवमी शताब्दी में) एक बार गिरनार तीर्थ के स्वामित्व हक के बारे में श्वेताम्बर-दिगम्बरों में झगड़ा हुआ। झगड़े का फैसला बप्पभट्टि आचार्य के प्रभाव से श्वेताम्बरों के हक में होकर उक्त तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणित हुआ, परन्तु इस झगड़े से दोनों सम्प्रदाय वाले चौकन्ने हो गये और भविष्य में फिर कभी वांधा न उठे इस वास्ते एक सम्प्रदाय वालों ने अपनी मूर्तियां कच्छ-कन्दोरे वाली बनवाने की प्रथा प्रचलित की और दूसरों ने बिल्कुल नग्नाकार वाली, परन्तु प्रस्तुत मूर्तियों के आकार प्रकार से उक्त दन्तकथा केवल निराधार प्रमाणित होती है। जिस समय बप्पभट्टि का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय भी जब इस प्रकार की वस्त्रधारिणी जैन मूर्तियां बनती थीं तब यह कैसे माना जाय कि बप्पभट्टि के समय से ही सवस्त्र जिनमूर्तियां बनने लगी।[1]

---

१. मथुरा के प्राचीन खण्डहरों में से विक्रम की छठवीं सदी के लगभग समय की कुछ जैन मूर्तियां निकली हैं जो आधुनिक दिगम्बर मूर्तियों की तरह बिल्कुल नग्नाकार हैं। इससे भी उक्त दन्तकथा कि नग्नमूर्तियां बप्पभट्टि के समय से बनने लगीं, निराधार प्रमाणित होती है। सच बात तो यह है कि सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा के समय से ही उनकी अभिमत मूर्तियां भी अपनी २ मान्यतानुसार बनने लगी थीं। परन्तु समय समय पर होने वाली शिल्पशास्त्र की उन्नति अवनति के कारण कालान्तरों में उनका मूल रूप कई अंशों मे परिवर्तित हो गया और मूर्तियां वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हो गई।

२. अधिकृत मूर्तियों की दूसरी विशिष्टता यह है कि इनके मस्तक केशोर्णाओं (केशों के मणिकों) से भरे हुए हैं, जब कि दशवीं शताब्दी और इसके बाद की जिनमूर्तियों के मस्तक पर ज्यादा से ज्यादा और कम से कम ३ मणिक मालाएँ देखी जाती हैं, तब प्रस्तुत मूर्तियों की ऊँची शिखाएँ भी मणिकों से परिपूर्ण हैं। जवान आदमी का शिर जैसा घुंघर-वाले बालों से सुशोभित होता है, ठीक वैसे ही इन मूर्तियों के शिर हैं।

३. इनमें से कुछ खड़ी मूर्तियों के स्कन्धों पर स्पष्ट रूप से जटायें रखी हुई प्रतीत होती हैं, यद्यपि किन्हीं-किन्हीं अर्वाचीन मूर्तियों के स्कन्धों पर भी जटाओं के आकार देखे जाते है। पर वे आकार जटाओं के न होकर कानों के निचले भाग के पास स्कन्धों पर एक दूसरी से चिपटी हुई तीन गोलियां बना दी जाती हैं जिनको जटा मानकर उनके आधार पर वह मूर्ति ऋषभदेव की कही जाती है। परन्तु इन मूर्तियों के स्कन्धों पर की जटायें हूबहू जटायें होती हैं। मूल में एक एक होती हुई भी कुछ आगे जाकर वह तीन तीन भागों में बंट जाती है, जिससे समूचा दृश्य हवा से बिखरी हुई एक जटा सा सुन्दर दीखता है। यह इन मूर्तियों की तीसरी विशिष्टता है।

४. प्रस्तावित मूर्तियों की चौथी विशिष्टता यह है कि वे भीतर से पोली हैं। आज तक जितनी भी सर्वधातुमयी मूर्तियां हमने देखीं सब ठोस ही ठोस देखीं, परन्तु उक्त छोटी-बड़ी सभी कायोत्सर्गिक मूर्तियां भीतर से पोली हैं जो लाख जैसे हल्के लाल पदार्थ से भरी हुई हैं।

५. मूर्ति के लेख का परिचय :

इन सब में से पूर्वोक्त एक ही बड़ी कायोत्सर्गिक मूर्ति के पादपीठ पर पांच पंक्ति का एक पद्यबद्ध लेख है। लेख को आरम्भ "ॐ कार" से किया गया है, दो श्लोक हैं। तीसरा आर्यावृत्त है, लेख का चौथा पद्य श्लोक है। प्रत्येक पंक्ति में पूरा एक एक पद्य आ गया है। प्रथम पंक्ति में द्वितीय पद्य के ४ अक्षर आ गये हैं। इनमें से प्रथम तथा चतुर्थ पद्य तो स्पष्ट पढ़े जा सकते हैं, परन्तु इनके बिचले दो पद्य अधिक घिस जाने से ठीक पढ़े नहीं

जा सकते। प्रथम पद्य में मूर्ति के दर्शन की आवश्यकता की सूचना है, दूसरे पद्य में मूर्तियुगल का निर्माण करवाने वाले गृहस्थों के नाम हैं जो घिस जाने से पढ़े नहीं जा सके। उनमें से सिर्फ एक 'यशोदेव' नाम स्पष्ट पढ़ा गया है। तीसरी पंक्ति में मूर्तिदर्शन से होने वाले लाभों की प्राप्ति की प्रार्थना है। चौथी पंक्ति में प्रतिष्ठा का संवत् है और उसके नीचे पांचवीं पंक्ति में मूर्ति बनाने वाले शिल्पी की प्रशंसा लिखी गई है।

६. मूल लेख और उसका अर्थ :

मूल लेख की अक्षरशः नकल नीचे मुजब है—

१. ॐ "नीरागत्वादिभावेन, सर्वज्ञत्वविभावकं। ज्ञात्वा भगवतां रूपं जिनानामेव पावनं॥ द्रो वक...'

२. "यशादेव देव..................भि.। ....रिहं जैनं ....कारितं युग्ममुत्तमं॥"

३. "भवशत परम्पराञ्जित-गुरुकर्म्मरसो (जो) त......................... ....वर दर्शनाय शुद्ध-सज्ज्ञानचरण लाभाय॥"

४. "संवत् ७४४।"

५. "साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना।
शिल्पिना शिवनागेन, कृतमेतज्जिनद्वयम्॥"

अर्थ—'वीतरागता आदि गुणों से सर्वज्ञत्व सूचित करने वाली जिन-भगवन्तों की पवित्र मूर्ति ही है।

(ऐसा) जानकर यशोदेव...................आदि ने जिनमूर्तियों की यह जोड़ी बनवाई।

सैंकड़ों भव परम्पराओं में उपार्जन किये कठिन कर्म-रज........... ....(के नाश के लिए तथा) सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान और चारित्र के लाभ के लिए (हो)।

विक्रम सं० ७४४ में (इस मूर्तियुगल की प्रतिष्ठा हुई) साक्षात् ब्रह्मा की तरह सर्व प्रकार के रूपों (मूर्तियों) को बनाने वाले शिल्पी (मूर्ति-निर्माता स्थपति) शिवनाग ने ये दोनों जैन मूर्तियां बनाईं।'

७. उपसंहार :

मारवाड़ में हजारों प्राचीन जैनमूर्तियां हैं, परन्तु ज्ञात मूर्तियों में दशवीं सदी के पहले की बहुत कम होंगी, जो कि विक्रम की पांचवीं सदी के पहले ही यह प्रदेश जैन धर्म का क्रीड़ास्थल बन चुका था और छठी, सातवीं तथा आठवीं सदी तक यह देश जैन धर्म का केन्द्र बना हुआ था। इस हिसाब से उक्त पिण्डवाड़ा की मूर्तियों से भी यहां प्राचीन मूर्तियां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिए थीं। परन्तु हमारे अनुसंधान में वैसी मूर्तियों का अभी तक पता नहीं लगा, इसका कारण प्रायः राज्यक्रान्तियां हो सकती हैं। इस भूमि में आज तक कई जातिया राज्याधिकार चला चुकी हैं। राज्यसत्ता एक वंश से दूसरे वंश में यों ही नहीं जाती, कई प्रकार की धमालों और घातक युद्धों के अन्त में नई राज्यसत्ता स्थापित हो सकती है। इस प्रकार के कष्टमय राज्यक्रान्तिकाल में प्रजा का अपने जानमाल की रक्षा के लिये इधर-उधर हो जाना अनिवार्य हो जाता है। जिस समय प्राणों की रक्षा होनी भी मुश्किल हो जाती है उस समय मूर्तियों और मन्दिरों की रक्षा की तो बात ही कैसी ? लोग मूर्तियां जमीन में गाड़कर जहां तहां भाग जाते, उनमें से जो बहुत दूर निकल जाते वे प्रायः वहीं ठहर जाते थे, जो निकटवर्ती होते शांति स्थापित होने पर फिर आ जाते थे। पर वे भी त्रास से इतने भयभीत हो जाते थे कि उनकी मनोवृत्तियां स्थिर नहीं रहतीं। राज्य की तरफ से कब बखेड़ा उठेगा और कब भागना पड़ेगा ये ही विचार उनके दिमागों में घूमते रहते। परिणामस्वरूप भूगर्भशायी की हुई मूर्तियां निकालने का उन्हें उत्साह नहीं होता, मूर्तिविरोधियों की चढ़ाइयों के समय तो वे मूर्तियों को भूगर्भ में रखने में ही लाभ समझते। राज्य-विप्लवों की शान्ति और मनुष्यों की मनोवृत्तियां स्थिर होते होते पर्याप्त समय बीत जाता। मूर्तियों को जमीन में सुरक्षित करने वाले या उन स्थानों की जानकारी रखने वाले प्रायः परलोक सिधार जाते, फलतः पिछले भाविक गृहस्थ नयी मूर्तियां और मन्दिर बनवाकर अपना भक्तिभाव सफल करते और भूमिशरण की हुई प्राचीन मूर्तियां सदा के

लिये भूमि के उदर में समा जातीं। आज हमें अधिक प्राचीन मूर्तियां उपलब्ध नहीं होतीं उसका यही कारण है। आज यदि प्राचीन स्थानों में खुदाई की जाय तो बहुत संभव है कि सैंकड़ों ही नहीं, हजारों की संख्या में हमारी प्राचीन मूर्तियां जमीन में से निकल सकती हैं, परन्तु राज्यसत्ता के अतिरिक्त ऐसा कौन कर सकता है? और जब तक ऐसा न हो और अधिक प्राचीन मूर्तियां उपलब्ध न हों तब तक हमें पिण्डवाडा की उक्त मूर्तियों को ही मारवाड़ की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियां मानना रहा।

वासा
ता० १५-८-३६

मुनि कल्याणविजय

: २२ :

प्रतिष्ठाचार्य

प्रतिष्ठा-विधियों-कल्पों में प्रतिष्ठा-कारक आचार्य, उपाध्याय, गणि, अथवा साधु को "प्रतिष्ठाचार्य" इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। तथा श्रीगुणरत्नसूरिजी ने अपने प्रतिष्ठाकल्प के प्रथम श्लोक में लिखा है—

"महावीरजिनं नत्वा, प्रतिष्ठाविधिमुत्तमम् ।
यति-श्रावक-कर्तव्य-व्यक्त्या वक्ष्ये समासतः ।।१।।"

अर्थात्—'महावीर जिन को नमस्कार करके साधु-श्रावक कर्तव्य के विवेक के साथ उत्तम प्रतिष्ठाविधि का संक्षेप से निरूपण करूँगा।

आचार्य श्री गुणरत्न सूरिजी अपने उक्त श्लोक में "सूरि-श्रावक कर्त्तव्य" ऐसा निर्देश न करके "यति-श्रावक कर्त्तव्य" ऐसा उपन्यास करते हैं, इससे ध्वनित होता है कि प्रतिष्ठाकर्त्तव्य आचार्य मात्र का नहीं है, किन्तु मुनि सामान्य का है, जिसमें आचार्यादि सब आ जाते हैं। विधि-विधान के प्रसंग पर भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त "इति गुरुकृत्यं" इत्यादि उल्लेखों पर से साबित होता है कि प्रतिष्ठाकर्त्तव्य गुरु सामान्य का है, न कि आचार्य मात्र का। आचारदिनकर में खरतर श्री वर्धमानसूरिजी प्रतिष्ठाकारक के सम्बन्ध में कहते हैं—

"आचार्यैः पाठकैश्चैव, साधुभिर्ज्ञानसत्क्रियैः ।
जैनविप्रैः क्षुल्लकैश्च, प्रतिष्ठा क्रियतेऽर्हतः ।।१।।"

अर्थात्—'आर्हती प्रतिष्ठा आचार्यों, उपाध्यायों, ज्ञानक्रियावान् साधुओं, जैन ब्राह्मणों और क्षुल्लकों (साधु-धर्म के उमेदवारों) द्वारा की

जाती है। यहां एक शंका को अवकाश मिलता है कि उक्त श्री गुणरत्न-सूरिजी तथा श्री वर्धमानसूरिजी का कथन "प्रतिष्ठाविधि" तथा "प्रतिष्ठा-करण" विषयक है तो भले ही "प्रतिष्ठा"-"जिनबिम्ब-स्थापना" आचार्यादि कोई भी कर सकते हों पर अंजनशलाका-नेत्रोन्मीलन तो आचार्य ही करते होंगे ? इस शंका का समाधान यह है कि आचार्य की हाजरी में आचार्य, उनके अभाव में उपाध्याय, उपाध्याय के अभाव में पदस्थ साधु और पदस्थ साधु की भी अनुपस्थिति में सामान्य रत्नाधिक साधु और साधु के अभाव में जैन ब्राह्मण अथवा क्षुल्लक भी नेत्रोन्मीलन कर सकते हैं। गुणरत्न-सूरि तथा वर्धमानसूरि की प्रतिष्ठा-विधियां वास्तव में अंजनशलाका की विधियां हैं, इसलिये इनका कथन स्थापना-प्रतिष्ठा विषयक नहीं किन्तु अंजनशलाका-प्रतिष्ठा विषयक है। क्योंकि प्रतिमा को नेत्रोन्मीलन पूर्वक पूजनीय बनाना यही खरी प्रतिष्ठा है, जब कि पूर्व-प्रतिष्ठित प्रतिमा को आसन पर विधि-पूर्वक विराजमान करना यह "स्थापनप्रतिष्ठा" मानी जाती है। गुणरत्नसूरि और वर्धमानसूरि की प्रतिष्ठा-विधियाँ अंजनशलाका-प्रतिष्ठा का विधान-प्रतिपादन करती हैं न कि स्थापनाप्रतिष्ठा का। इससे सिद्ध होता है कि वे "प्रतिष्ठा" कारक के विषय में जो निरूपण करते हैं वह अंजनशलाकाकार को ही लागू होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अंजनशलाकाकार योग्यता प्राप्त किया हुआ साधु भी हो सकता है और वह "प्रतिष्ठाचार्य" कहलाता है।

प्रतिष्ठाचार्य की योग्यता : : :

प्रतिष्ठाचार्य की शारीरिक और बौद्धिक योग्यता के विषय में आचार्य श्री पादलिप्तसूरि अपनी प्रतिष्ठापद्धति में (निर्वाणकलिकान्तर्गत में) नीचे मुजब निरूपण करते हैं—

" सूरिश्चार्यदेशसमुत्पन्नः, क्षीणप्रायकर्ममलश्च, ब्रह्मचर्यादिगुण-गणालंकृतः, पञ्चविधाचारयुतः, राजादीनामद्रोहकारी, श्रुताध्ययनसंपन्नः, तत्त्वज्ञः, भूमि-गृह-वास्तु-लक्षणानां ज्ञाता, दीक्षाकर्मणि प्रवीणः; निपुणः सूत्रपातादिविज्ञाने, स्रष्टा सर्वतोभद्रादिमण्डलानाम्, असमः प्रभावे, आलस्य-वर्जितः, प्रियंवदः, दीनानाथवत्सलः सरलस्वभावो, वा सर्वगुणान्वितश्चेति।"

अर्थात्—'प्रतिष्ठाचार्य आर्य देशजात १, लघुकर्मा २, ब्रह्मचर्यादि गुणोपेत ३, पंचाचारसंपन्नः ४, राजादि सत्ताधारियों का अविरोधी ५; श्रुताभ्यासी ६, तत्त्वज्ञानी ७, भूमिलक्षण-गृहवास्तुलक्षणादि का ज्ञाता ८, दीक्षाकर्म में प्रवीण ९, सूत्रपातादि के विज्ञान में विचक्षण १०, सर्वतोभद्रादि चक्रों का निर्माता ११, अतुल प्रभाववान् १२, आलस्यविहीन १३, प्रिय वक्ता १४, दीनानाथ वत्सल १५, सरलस्वभावी १६, अथवा मानवोचित सर्व-गुण-संपन्न १७। प्रतिष्ठाचार्य के उक्त १७ गुणों में नम्बर ३, ४, ६, ७, ८, १०, ११ और १३ ये गुण विशेष विचारणीय हैं। क्योंकि आजकल के अनेक स्वयंभू प्रतिष्ठाचार्यों में इनमें से बहुतेरे गुण होते नहीं हैं। ब्रह्मचर्य, पंचाचार संपत्ति, श्रुताभ्यास, तत्त्वज्ञातृत्व, सूत्रपातादि विज्ञान, भूमिलक्षणादि वास्तुविज्ञान, प्रतिष्ठोपयोगी चक्रनिर्माणकला और अप्रमादिता ये मौलिक गुण तो प्रतिष्ठाचार्य में होने ही चाहिये। क्योंकि ब्रह्मचर्य तथा पंचाचार संपत्तिविहीन के हाथों से प्रतिष्ठित प्रतिमा में प्रायः कला प्रकट नहीं होती। शास्त्र-ज्ञान-हीन और तत्त्व को न जानने वाला प्रतिष्ठाचार्य पग-पग पर प्रतिष्ठा के कार्यों में शंकाशील बनकर अज्ञानतावश विधिवैपरीत्य कर बैठता है, परिणामस्वरूप प्रतिष्ठा सफल नहीं हो सकती।

भूमिलक्षणादि विज्ञान से शिल्प, सूत्रपातादि विज्ञान से ज्योतिष और चक्रनिर्माण से प्रतिष्ठा-विधि शास्त्र का उपलक्षण समझना चाहिए। शिल्पशास्त्रज्ञाता प्रतिष्ठाचार्य ही प्रासाद, प्रतिमा, कलश दंडादिगत शुभाशुभ लक्षण और गुण-दोष जान सकता है। ज्योतिष शास्त्रवेत्ता प्रतिष्ठाचार्य ही प्रतिष्ठा-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य—अभिषेक, अधिवासना, अंजनशलाका, बिंबस्थापना आदि कार्य शुभलग्न नवमांशादि षड्वर्गशुद्ध समय में कर सकता है और प्रतिष्ठाविधिशास्त्र का ज्ञाता तथा अनुभवी प्रतिष्ठाचार्य ही प्रतिष्ठा-प्रतिबद्ध प्रत्येक अनुष्ठान को कुशलता-पूर्वक निर्विघ्नता से कर तथा करा सकता है और अप्रमादिता तो प्रतिष्ठाचार्य के लिए एक अमूल्य गुण है। अप्रमादी प्रतिष्ठाकारक ही अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। प्रमादी विद्यासाधक ज्यों अपने कार्य में सफल नहीं होता, वैसे प्रमादी प्रतिष्ठाचार्य भी अपने कार्य में सफल नहीं होता।

वेष-भूषा : : :

यों तो प्रतिष्ठाचार्य की वेष-भूषा, यदि वह संयमी होगा तो साधु के वेष में ही होगा, परन्तु प्रतिष्ठा के दिन इनकी वेष-भूषा में थोड़ा सा परिवर्तन होता है। निर्वाणकलिका में इसके सम्बन्ध में नीचे लिखे अनुसार विधान किया है—

"वासुकिनिर्मोकलघुनी, प्रत्यग्रवाससी दधानः करांगुलीविन्यस्त-काञ्चनमुद्रिकः, प्रकोष्ठदेशनियोजितकनककङ्कणः, तपसा विशुद्धदेहो वेदि-कायामुदङ्मुखमुपविश्य ।" (नि० क० १२-१)

अर्थात्—'बहुत महीन्, श्वेत और कीमती नये दो वस्त्रधारक, हाथ की अंगुली में सुवर्ण-मुद्रिका (वींटी) और मणिबन्ध में सुवर्ण का कंकण धारण किये हुए उपवास से विशुद्ध शरीर वाला प्रतिष्ठाचार्य वेदिका पर उत्तराभिमुख बैठकर।'

श्री पादलिप्तसूरिजी के उक्त शब्दों का अनुसरण करते हुए आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरि, श्री जिनप्रभसूरि, श्री वर्धमानसूरिजी ने भी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा-पद्धतियों में "ततः सूरिः कङ्कणमुद्रिकाहस्तः सदशवस्त्रपरिधानः" इन शब्दों में प्रतिष्ठाचार्य की वेष-भूषा का सूचन किया है।

जैन साधु के आचार से परिचित कोई भी मनुष्य यहां पूछ सकता है कि जैन आचार्य जो निर्ग्रन्थ साधुओं में मुख्य माने जाते हैं उनके लिए सुवर्ण-मुद्रिका और सुवर्ण-कंकण का धारण करना कहां तक उचित गिना जा सकता है? स्वच्छ नवीन वस्त्र तो ठीक पर सुवर्णमुद्रा, कंकण धारण तो प्रतिष्ठाचार्य के लिए अनुचित ही दीखता है। क्या सुवर्ण-मुद्रा-कंकण पहिने बिना अंजनशलाका हो ही नहीं सकती?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है—प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा कंकण धारण करना अनिवार्य नहीं है। श्री पादलिप्तसूरिजी ने जिन मूल गाथाओं को अपनी प्रतिष्ठा-पद्धति का मूलाधार माना है और अनेक स्थानों में

"यदागमः" इत्यादि शब्दप्रयोगों द्वारा जिसका आदर किया है उस मूल प्रतिष्ठा-गम में सुवर्णमुद्रा अथवा सुवर्णकंकण धारण करने का सूचन तक नहीं है। पादलिप्तसूरि ने जिस मुद्रा-कंकण-परिधान का उल्लेख किया है वह तत्कालीन चैत्यवासियों की प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब है। पादलिप्तसूरिजी आप चैत्यवासी थे या नहीं इस चर्चा में उतरने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है, परन्तु इन्होंने आचार्याऽभिषेक विधि में तथा प्रतिष्ठा-विधि में जो कतिपय बातें लिखी हैं वे चैत्यवासियों की–पौषधशालाओं में रहने वाले शिथिलाचारी साधुओं की हैं, इसमें तो कुछ शंका नहीं है। जैन सिद्धान्त के साथ इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आचार्याऽभिषेक के प्रसंग में इन्होंने भावी आचार्य को तैलादि विधि-पूर्वक अविधवा स्त्रियों द्वारा वर्णक (पीठी) करने तक का विधान किया है। यह सब देखते तो यही लगता है कि श्री पादलिप्तसूरि स्वयं चैत्यवासी होने चाहिए। कदापि ऐसा मानने में कोई आपत्ति हो तो न मानें फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि पादलिप्त-सूरि का समय चैत्यवासियों के प्राबल्य का था। इससे इनकी प्रतिष्ठा-पद्धति आदि कृतियों पर चैत्यवासियों की अनेक प्रवृत्तियों की अनिवार्य छाप है। साधु को सचित्त जल, पुष्पादि द्रव्यों द्वारा जिन-पूजा करने का विधान जैसे चैत्यवासियों की आचरणा है, उसी प्रकार से सुवर्णमुद्रा, कंकण-धारणादि विधान ठेठ चैत्यवासियों के घर का है, सुविहितों का नहीं।

श्रीचन्द्र, जिनप्रभ, वर्धमानसूरि, स्वयं चैत्यवासी न थे, फिर भी वे उनके साम्राज्यकाल में विद्यमान अवश्य थे। इन्होंने प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा कंकण धारण का विधान लिखा, इसका कारण श्रीचन्द्रसूरिजी आदि की प्रतिष्ठा-पद्धतियां चैत्यवासियों की प्रतिष्ठा-विधियों के आधार से बनी हुई हैं, इस कारण से इनमें चैत्यवासियों की आचरणाओं का आना स्वाभाविक है। उपर्युक्त आचार्यों के समय में चैत्यवासियों के क़िले टूटने लगे थे फिर भी वे सुविहितों द्वारा सर नहीं हुए थे। चैत्यवासियों के मुकाबिले में हमारे सुविहित आचार्य बहुत कम थे। उनमें कतिपय अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार भी थे, तथापि उनके ग्रन्थों का निर्माण चैत्यवासियों के ग्रन्थों के आधार से होता था। प्रतिष्ठा-विधि जैसे विषयों

में तो पूर्वग्रन्थों का सहारा लिये विना चलता ही नहीं था। इस विषय में आचारदिनकर ग्रन्थ स्वयं साक्षी है। इसमें जो कुछ संग्रह किया है वह सब चैत्यवासियों और दिगम्बर भट्टारकों का है, वर्धमानसूरि का अपना कुछ भी नहीं है।

प्रतिष्ठा-विधियों में क्रान्ति का प्रारम्भ : १ :

प्रतिष्ठा-विधियों में लगभग चौदहवीं शती से क्रान्ति आरम्भ हो गयी थी। बारहवीं शती तक प्रत्येक प्रतिष्ठाचार्य विधि-कार्य में सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श और सुवर्ण मुद्रादि धारण अनिवार्य गिनते थे, परन्तु तेरहवीं शती और उसके बाद के कतिपय सुविहित आचार्यों ने प्रतिष्ठा-विषयक कितनी ही बातों के सम्बन्ध में ऊहापोह किया और त्यागी गुरु को प्रतिष्ठा में कौन-कौन से कार्य करने चाहिए इसका निर्णय कर नीचे मुजब घोषणा की—

"थुइदाण १ मंतनासो २; आहवणं तह जिणाणं ३ दिसिबंधो ४।
नित्तुम्मीलण ४ देसण, ६ गुरु अहिगारा इहं कप्पे ॥"

अर्थात्—'स्तुतिदान याने देववन्दन करना स्तुतियां बोलना १, मन्त्रन्यास अर्थात् प्रतिष्ठाप्य प्रतिमा पर सौभाग्यादि मन्त्रों का न्यास करना २, जिनका प्रतिमा में आह्वान करना ३, मन्त्र द्वारा दिग्बंध करना ४, नेत्रोन्मीलन याने प्रतिमा के नेत्रों में सुवर्णशलाका से अंजन करना ५, प्रतिष्ठाफल प्रतिपादक देशना (उपदेश) करना। प्रतिष्ठा-कल्प में उक्त छः कार्य गुरु को करने चाहिए।'

अर्थात्—इनके अतिरिक्त सभी कार्य श्रावक के अधिकार के हैं। यह व्याख्या निश्चित होने के बाद सचित्त पुष्पादि के स्पर्श वाले कार्य त्यागियों ने छोड़ दिये और गृहस्थों के हाथ से होने शुरु हुए। परन्तु पन्द्रहवीं शती तक इस विषय में दो मत तो चलते ही रहे, कोई आचार्य-विधिविहित अनुष्ठान गिन के सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श तथा स्वर्ण मुद्रादि धारण निर्दोष गिनते थे, तब कतिपय सुविहित आचार्य उक्त कार्यों

को सावद्य गिन के निषेध करते थे। इस वस्तुस्थिति का निर्देश आचार-दिनकर में नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"ततो गुरुर्नवजिनबिम्बस्याग्रतः मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन रौद्रदृष्ट्या तर्जनीमुद्रां दर्शयति। ततो वामकरेण जलं गृहीत्वा रौद्रदृष्ट्या बिम्बमाछोटयति। केषांचिन्मते स्नात्रकारा वामहस्तोदकेन प्रतिमामाछोटयन्ति।" (२५२)

अर्थात्—उसके बाद गुरु नवीन जिनप्रतिमा के सामने दो मध्यमांगुलियां खड़ी करके क्रूर दृष्टि से तर्जनी मुद्रा दिखायें और बायें हाथ में जल लेके रौद्र दृष्टि करके प्रतिमा पर छिड़कें। किन्हीं आचार्यों के मत से बिम्ब पर जल छिड़कने का कार्य स्नात्रकार करते हैं। वर्धमानसूरि के "केषाञ्चिन्मते" इस वचन से ज्ञात होता है कि उनके समय में अधिकांश आचार्यों ने सचित्त जलादि-स्पर्श के कार्य छोड़ दिये थे और सचित्त जल, पुष्पादि सम्बन्धी कार्य स्नात्रकार करते थे।

इस क्रान्ति के प्रवर्तक कौन ? : : :

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि प्रतिष्ठा-विधि में इस क्रान्ति के आद्यस्रष्टा कौन होंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहिले हमको बारहवीं तेरहवीं शती की प्रतिष्ठाविषयक मान्यता पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। बारहवीं शती के आचार्य श्री चन्द्रप्रभसूरि ने पौर्णमिक मत-प्रवर्तन के साथ ही "प्रतिष्ठा द्रव्यस्तव होने से साधु के लिए कर्त्तव्य नहीं", ऐसी उद्घोषणा की। उसके बाद तेरहवीं शती में आगमिक आचार्य श्री तिलकसूरि ने नव्य प्रतिष्ठाकल्प की रचना करके प्रतिष्ठा-विधि के सभी कर्त्तव्य श्रावक-विधेय ठहरा के चन्द्रप्रभसूरि की मान्यता को व्यवस्थित किया। इस कृति से भी हम चन्द्रप्रभ और श्री तिलक को प्रतिष्ठा-विधि के क्रान्तिकारक कह नहीं सकते, किन्तु इन दोनों आचार्यों को हम "प्रतिष्ठा-विधि के उच्छेदक" कहना का पसंद करेंगे। क्योंकि आवश्यक संशोधन के बदले इन्होंने प्रतिष्ठा के साथ का साधु का सम्बन्ध ही उच्छिन्न कर डाला है।

क्रान्तिकारक तपागच्छ के आचार्य जगच्चन्द्रसूरि : : :

उपाध्याय श्री सकलचन्द्रजी ने अपने प्रतिष्ठाकल्प में श्री जगच्चन्द्रसूरि कृत "प्रतिष्ठा-कल्प" का उल्लेख किया है। हमने जगच्चन्द्रसूरि का प्रतिष्ठा-कल्प देखा नहीं है, फिर भी सकलचन्द्रोपाध्याय के उल्लेख का कुछ अर्थ तो होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है कि त्यागी आचार्य श्री जगच्चन्द्र-सूरिजी ने प्रचलित प्रतिष्ठा-विधियों में से आवश्यक संशोधन करके तैयार किया हुआ संदर्भ अपने शिष्यों के लिए रक्खा होगा। आगे जाकर तपागच्छ के सुविहित श्रमण उसका उपयोग करते होंगे और वही जगच्चन्द्र-सूरि के प्रतिष्ठाकल्प के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। उसी संशोधित संदर्भ को विशेष व्यवस्थित करके आचार्य श्री गुणरत्नसूरिजी तथा श्री विशालराजशिष्य ने प्रतिष्ठा-कल्प के नाम से प्रसिद्ध किया ज्ञात होता है। समयोचित परिवर्तन किये और विधान विशेष सम्मिलित किये हुए प्रतिष्ठा-कल्प में गुरु को क्या-क्या कार्य करने और श्रावक को क्या-क्या, इसका पृथक्करण करके विधान विशेष सुगम बनाये हैं।

गुणरत्नसूरिजी अपने प्रतिष्ठा-कल्प में लिखते हैं—

"थुइदाण-मंतनासो, आह्वणं तह जिणाण दिसिबंधो।
नेत्तुम्मीलणदेसण, गुरु अहिगारा इहं कप्पे ॥१॥"

"एतानि गुरुकृत्यानि, शेषाणि तु श्राद्धकृत्यानि इति तपागच्छ-सामाचारीवचनात् सावद्यानि कृत्यानि गुरोः कृत्यतयाऽत्र नोक्तानि"

अर्थात्—'थुइदाण' इत्यादि गुरु कृत्य हैं तब शेष प्रतिष्ठा सम्बन्धी सर्व कार्य श्रावककर्त्तव्य हैं। इस प्रकार की तपागच्छ की सामाचारी के वचन से इसमें जो जो सावद्य कार्य हैं वे गुरु-कर्त्तव्यतया नहीं लिखे, इसी कारण से श्री गुणरत्नसूरिजी ने तथा विशालराज शिष्य ने अपने प्रतिष्ठा-कल्पों में दी हुई प्रतिष्ठासामग्री की सूचियों में कंकण तथा मुद्रिकाओं की संख्या ४–४ की लिखी है और साथ में यह भी सूचन किया है कि ये कंकण तथा मुद्रिकाएँ ४ स्नात्रकारों के लिए हैं। उपाध्याय सकलचन्द्रजी ने

अपने कल्प में कंकण तथा मुद्राएँ ५-५ लिखी हैं; इनमें से १-१ इन्द्र के लिए और ४-४ स्नात्रकारों के लिए समझना चाहिए।

अन्य गच्छीय प्रतिष्ठा-विधियों में आचार्य को द्रव्य पूजाधिकार–
विधिप्रपाकार श्री जिनप्रभसूरिजी लिखते हैं—

"तदनन्तरमाचार्येण मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन बिम्बस्य तर्जनी-मुद्रा रौद्रदृष्ट्या देया। तदनन्तरं वामकरे जलं गृहीत्वा आचार्येण प्रतिमा आछोटनीया। ततश्चन्दनतिलकं, पुष्पपूजनं च प्रतिमायाः।"

अर्थात्—उसके बाद आचार्य को दो मध्यमा अंगुलियां ऊंची उठाकर प्रतिमा को रौद्र दृष्टि से तर्जनी मुद्रा देनी चाहिये, बाद में बायें हाथ में जल लेकर क्रूर दृष्टि से प्रतिमा पर छिड़के और अन्त में चन्दन का तिलक और पुष्प पूजा करे।

इसी विधिप्रपागत प्रतिष्ठा-पद्धति के आधार से लिखी गई अन्य खरतरगच्छीय प्रतिष्ठा-विधि में उपर्युक्त विषय में नीचे लिखा संशोधन हुआ दृष्टिगोचर होता है—

"पछइ श्रावक डावइ हाथिइं प्रतिमा पाणीइं छांटइ।"

खरतरगच्छीय प्रतिष्ठाविधिकार का यह संशोधन तपागच्छ के संशोधित प्रतिष्ठा-कल्पों का आभारी है। उत्तरवर्ती तपागच्छीय प्रतिष्ठा-कल्पों में जलाछोटन तथा चन्दनादि पूजा श्रावक के हाथ से ही करने का विधान हुआ है जिसका अनुसरण उक्त विधिलेखक ने किया है।

आज के कतिपय अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्य : : :

आज हमारे प्रतिष्ठाकारक गण में कतिपय प्रतिष्ठाचार्य ऐसे भी हैं कि प्रतिष्ठा-विधि क्या चीज होती है इसको भी नहीं जानते। विधिकारक श्रावक जब कहता है कि "साहिब वासक्षेप करिये" तब प्रतिष्ठाचार्य साहब वासक्षेप कर देते हैं। प्रतिमाओं पर अपने नाम के लेख खुदवा करके नेत्रों में सुरमे की शलाका से अंजन किया कि अंजनशलाका हो गई। मुद्रा,

मन्त्रन्यास, होने न होने की भी प्रतिष्ठाचार्य को कुछ चिन्ता नहीं। उनके पास क्रियाकारक रूप प्रतिनिधि तो होता ही है, जब प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा-विधि को ही नहीं जानता तब तद्गत स्वगच्छ की परम्परा के ज्ञान की तो आशा ही कैसी ? हमारे गच्छ के ही एक प्रतिष्ठाचार्य हैं, उनकी सुविहित साधुओं में परिगणना है। उनको प्रतिष्ठाचार्य बनकर सोने का कड़ा हाथ में पहिन कर अंजनशलाका करने की बड़ी उत्कंठा रहती है। जहां-तहां बगैर जरूरत अंजनशलाकाएँ तैयार करा कर सोने का कड़ा पहिन के वे अपने आपको धन्य मानते हैं। परन्तु उस भले मनुष्य को इतनी भी जानकारी नहीं है कि सुविहित तपागच्छ की इस विषय में मर्यादा क्या है और वे स्वयं कर क्या रहे हैं ?

प्रतिमाओं में कला-प्रवेश क्यों नहीं होता ? : : :

लोग पूछा करते हैं कि पूर्वकालीन अधिकांश प्रतिमाएँ सातिशय होती हैं तब आजकल की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ प्रभाविक नहीं होतीं, इसका कारण क्या होगा ? पहिले से आजकल विधि-विषयक प्रवृत्तियां तो बढ़ी हैं, फिर आधुनिक प्रतिमाओं में कला-प्रवेश नहीं होता इसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए।

प्रश्न का उत्तर यह है कि आजकल की प्रतिमाओं में सातिशयिता न होने के अनेक कारणों में से कुछ ये हैं—

(१) प्रतिमाओं में लाक्षणिकता होनी चाहिए जो आज की अधिकांश प्रतिमाओं में नहीं होती। केवल चतुःसूत्र वा पंचसूत्र मिलाने से ही प्रतिमा अच्छी मान लेना पर्याप्त नहीं है। प्रतिमाओं की लाक्षणिकता की परीक्षा बड़ी दुर्बोध है, जो हजार में से एक दो भी मुश्किल से जानते होंगे।

(२) जिन प्रतिष्ठा-विधियों के आधार से आजकल अंजनशलाकाएँ कराई जाती हैं, वे विधि-पुस्तक अशुद्धि-बहुल होते हैं। विधिकार अथवा प्रतिष्ठाकार ऐसे होशियार नहीं होते जो अशुद्धियों का परिमार्जन कर शुद्ध विधान करा सकें। जैसा पुस्तक में देखा वैसा बोल गये और विधि-

विधान हो गया। विधिकार भले ही "परमेश्वर के स्थान" पर "परमेश्वरी" की क्षमा मांग कर बच जाय, पर अयथार्थ अनुष्ठान कभी सफल नहीं होता।

(३) प्रतिष्ठाचार्य और स्नात्रकार :

विधिकार पूर्ण सदाचारी और धर्मश्रद्धावान् होने चाहिए। आज के प्रतिष्ठाचार्यों और स्नात्रकारों में ऐसे विरल होंगे। इनका अधिकांश तो स्वार्थसाधक और महत्त्वाकांक्षी है, कि जिनमें प्रतिष्ठाचार्य होने की योग्यता ही नहीं होती। स्नात्रकारों में पुराने अनुभवी स्नात्रकार अवश्य अच्छे मिल सकते हैं। उनमें धर्म-श्रद्धा, सदाचार और अपेक्षाकृत निःस्वार्थता देखने में आती है, पर ऐसों की संख्या अधिक नहीं है। मारवाड़ में तो प्रतिष्ठा के स्नात्रकारों का बहुधा अभाव हो है। कहने मात्र के लिए दो चार निकल आयें यह बात जुदी है। हाँ मारवाड़ में कतिपय यतिजी प्रतिष्ठाचार्य का और स्नात्रकारों का काम अवश्य करते हैं। परन्तु इनमें प्रतिष्ठाचार्य की शास्त्रोक्त योग्यता नहीं होती, स्नात्रकारों के लक्षण तक नहीं होते। ऐसे प्रतिष्ठाचार्यों और स्नात्रकारों के हाथ से प्रतिष्ठित प्रतिमाओं में कलाप्रवेश की आशा रखना दुराशामात्र है।

(४) स्नात्रकार अच्छे होने पर भी प्रतिष्ठाचार्य की अयोग्यता से प्रतिष्ठा अभ्युदयजननी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिष्ठा के तंत्रवाहकों में प्रतिष्ठाचार्य मुख्य होता है। योग्य प्रतिष्ठाचार्य शिल्पी तथा इन्द्र सम्बन्धी कमजोरियों को सुधार सकता है, पर अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य की खामियां किसी से सुधर नहीं सकती। इसलिये अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य के हाथों से हुई प्रतिमा प्रतिष्ठा अभ्युदयजनिका नहीं होती।

(५) प्रतिष्ठा की सफलता में शुभ समय भी अनन्य शुभसाधक है। अच्छे से अच्छे समय में की हुई प्रतिष्ठा उन्नतिजनिका होती है। अनुकूल समय में बोया हुआ बीज उगता है, फूलता, फलता है और अनेक गुनी समृद्धि करता है। इसके विपरीत अवर्षण काल में धान्य बोने से बीज नष्ट होता है और परिश्रम निष्फल जाता है, इसी प्रकार प्रतिष्ठा के

सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। ज्योतिष का रहस्य जानने वाले और अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्य के हाथ से एक ही मुहूर्त में होने वाली प्रतिष्ठाओं की सफलता में अन्तर पड़ जाता है। जहां शुभ लग्न शुभ षड्वर्ग अथवा शुभ पंचवर्ग में और पृथ्वी अथवा जल तत्त्व में प्रतिष्ठा होती है वहाँ वह अभ्युदय-जनिका होती है, तब जहां उसी लग्न में नवमांश, षड्वर्ग, पंच-वर्ग तथा तत्त्वशुद्धि न हो ऐसे समय में प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है तो वह प्रतिष्ठा उतनी सफल नहीं होती।

(६) प्रतिष्ठा के उपक्रम में अथवा बाद में भी प्रतिष्ठा-कार्य के निमित्तक अपशकुन हुआ करते हों तो निर्धारित मुहूर्त में प्रतिष्ठा जैसे महाकार्य न करने चाहिए, क्योंकि दिनशुद्धि और लग्नशुद्धि का सेनापति 'शकुन' माना गया है। सेनापति की इच्छा के विरुद्ध जैसे सेना कुछ भी कर नहीं सकती, उसी प्रकार शकुन के विरोध में दिनशुद्धि और लग्न-शुद्धि भी शुभ फल नहीं देती। इस विषय में व्यवहार-प्रकाशकार कहते हैं—

> "नक्षत्रस्य मुहूर्त्तस्य, तिथेश्च करणस्य च।
> चतुर्णामपि चैतेषां शकुनो दण्डनायकः ॥१॥"

अर्थात्—नक्षत्र, मुहूर्त, तिथि और करण इन चार का दण्डनायक अर्थात् सेनापति शकुन है।

आचार्य लल्ल भी कहते हैं—

> "अपि सर्वगुणोपेतं, न ग्राह्यं शकुनं विना।
> लग्नं यस्मान्निमित्तानां, शकुनो दण्डनायकः ॥१॥"

अर्थात्—भले ही सर्व-गुण-सम्पन्न लग्न हो पर शुभ शकुन बिना उसका स्वीकार न करना। क्योंकि नक्षत्र, तिथ्यादि निमित्तों का सेना-नायक शकुन है। यही कारण है कि वर्जित शकुन में किये हुए प्रतिष्ठादि शुभ कार्य भी परिणाम में निराशाजनक होते हैं।

(७) प्रतिष्ठाचार्य, स्नात्रकार और प्रतिमागत गुण दोष :

उक्त त्रिकगत गुण-दोष भी प्रतिष्ठा की सफलता और निष्फलता में अपना असर दिखाते हैं, यह बात पहिले ही कही जा चुकी है और शिल्पी की सावधानी या बेदरकारी भी प्रतिष्ठा में कम असरकारक नहीं होती। शिल्पी की अज्ञता तथा असावधानी के कारण से आसन, दृष्टि आदि यथा-स्थान नियोजित न होने के कारण से भी प्रतिष्ठा की सफलता में अन्तर पड़ जाता है।

(८) अविधि से प्रतिष्ठा करना यह भी प्रतिष्ठा की असफलता में एक कारण है। आज का गृहस्थवर्ग यथाशक्ति द्रव्य खर्च करके ही अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ मान लेता है। प्रतिष्ठा सम्बन्धो विधिकार्यों के साथ मानों इसका सम्बन्ध ही न हो ऐसा समझ लेता है। मारवाड़ जैसे प्रदेशों में तो प्रतिष्ठा में होने वाली द्रव्योत्पत्ति पर से ही आज प्रतिष्ठा की श्रेष्ठता और हीनता मानी जाती है। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकार कैसे हैं, विधि-विधान कैसा होता है इत्यादि बातों को देखने की किसी को फुरसत ही नहीं होती। आगन्तुक संघजन की व्यवस्था करने के अतिरिक्त मानो स्थानिक जैनों के लिए कोई काम ही नहीं होता। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकारों के हाथ में उस समय स्थानिक प्रतिष्ठा कराने वाले गृहस्थों की चुटिया होती है, इसलिये वे जिस प्रकार नचाये, स्थानिक गृहथों को नाचना पड़ता है। इस प्रकार दस पन्द्रह दिन के साम्राज्य में स्वार्थी प्रतिष्ठाचार्य अपना स्वार्थ साधकर चलते बनते हैं। पीछे क्या करना है इसको देखने की उन्हें फुरसत ही नहीं होती, पीछे की चिन्ता गाम को है। अच्छा होगा तब तो ठीक ही है पर कुछ ऊंचा-नीचा होगा तो प्रत्येक नंगे सिर वाले को पूछेंगे—मन्दिर और प्रतिमाओं के दोष ? परन्तु यह तो "गते जले कः खलु पालिबन्धः" इस वाली बात होती है।

स्वार्थसाधक प्रतिष्ठाचार्यों के सम्बन्ध में आचार्य श्री पादलिप्तसूरि की फिट्कार देखिये—

"अवियाणिऊण य विहिं, जिणबिंबं जो ठवेति मूढमणो।
अहिमाणलोहजुत्तो, निवडइ संसार-जलहिंमि ॥७७॥"

अर्थात्—"प्रतिष्ठा-विधि को यथार्थ रूप में जाने विना अभिमान और लोभ के वश होकर जो "जिनप्रतिमा को स्थापित करता है, वह संसार-समुद्र में गिरता है।"

उपसंहार : : :

प्रतिष्ठाचार्य और प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में कतिपय ज्ञातव्य बातों का ऊपर सार मात्र दिया है। आशा है कि प्रतिष्ठा करने और कराने वाले इस लेख पर से कुछ बोध लेंगे।

जैन विद्याशाला,
अहमदाबाद
ता० १६-८-५५

कल्याणविजय गणी

: २३ :

क्या क्रियोद्धारकों से शासन की हानि होती है ?

पं० कल्याणविजय गणि

ता० १ तथा ८ वीं जून सन् १९४१ के 'जैन' पत्र में मुनि श्री ज्ञान-सुन्दरजी का एक लेख छपा है जिसका शीर्षक "क्या उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराज ने क्रिया उद्धार किया था" यह है। इस लेख में मुनिजी ने अपनी समझ का जो परिचय दिया है वह अति खेदजनक है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने क्रियोद्धार किया था या नहीं, इस प्रश्न को एक तरफ छोड़कर पहले हम मुनिजी की उन दलीलों की जाँच करेंगे जो उन्होंने उपाध्यायजी के क्रियोद्धारक न होने के समर्थन में दी हैं।

आप कहते हैं—"क्रिया उद्धारकों से होने वाली शासन की हानि से भी आप अपरिचित नहीं थे। क्रिया उद्धारक समाज की संगठित शक्ति को अनेक भागों में विभक्त कर शासन को क्षति पहुंचाते हैं यह भी आप से प्रच्छन्न नहीं था।"

क्या ही अच्छा होता, अगर मुनिजी पहले क्रिया उद्धार का अर्थ समझ लेते और फिर इस विषय पर लिखने को कलम उठाते। मुनिजी की उक्त पंक्तियों को पढ़ने से तो यही ज्ञात होता है कि क्रियोद्धारकों को आप मत-पन्थवादी समझ बैठे हैं, जो निराधार ही नहीं शास्त्रविरुद्ध भी है। क्रिया उद्धार का अर्थ मतवाद नहीं शिथिलाचार के नीचे दबी हुई चारित्राचार की क्रियाओं को ऊपर उठाना है।

शास्त्र में क्रियोद्धारक दो प्रकार के बताये हैं—

(१) उपसम्पन्नक और (२) शिथिलाचारवर्जक।

(१) जिसकी गुरुपरम्परा सात-आठ पीढ़ी से शिथिलाचार में फंसी हुई है, ऐसा कोई शिथिलाचारी आचार्य अथवा साधु यदि उग्रविहारी बनना चाहे तो उसे अपने पूर्व गच्छ और पूर्व गुरु का त्याग कर दूसरे सुविहित गच्छ और गुरु को स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार का क्रियोद्धार करने वाले का नाम शास्त्र में "उपसम्पन्नक" लिखा है।

(२) जिसकी गुरुपरम्परा में दो तीन पीढ़ी से ही शिथिलाचार प्रविष्ट हुआ हो ऐसा आचार्य अथवा साधु क्रियोद्धार करना चाहे तो अपनी गुरुपरम्परा में जो जो असुविहित प्रवृत्तियाँ प्रचलित हों उनका त्याग कर सुविहित मार्ग पर चलें। उसे अपने गच्छ और गुरु को त्याग कर नया गुरु धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

विक्रम की १३वीं शती में चैत्रगच्छीय श्रीदेवभद्र गणि और बृहद्-गच्छीय श्री जगच्चन्द्र सूरिजी ने जो क्रियोद्धार किया था वह इसी प्रकार का था। देवभद्र गणि और जगच्चन्द्रसूरि की गुरु-परम्पराओं का शिथिलाचार नया ही था इस कारण से उन्होंने एक दूसरे की सहायता से क्रियोद्धार किया था। जगच्चन्द्रसूरि और देवभद्र गणि इन दोनों महापुरुषों ने शिथिलाचार को छोड़कर जो उग्रविहार और सुविहिताचार का पालन किया था उसके प्रभाव से निर्ग्रन्थ श्रमण मार्ग फिर एक बार अपने खरे रूप में चमक उठा और लगभग दश पीढ़ी तक ठीक ढंग पर चलता रहा।

दुष्षमकाल के प्रभाव और जनप्रकृति के निम्नगामी स्वभाव के कारण फिर धीरे-धीरे गच्छ में शिथिलता का प्रवेश होने लगा। श्री-आनन्दविमल सूरिजी के समय तक यतियों में चोरी छिपी से द्रव्य संग्रह तक की खराबियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। श्री आनन्दविमल सूरिजी ने अपने गच्छ में से इन बदियों को दूर करने का निश्चय किया। उन्होंने सं० १५८२ में क्रियोद्धार कर गच्छ में जो जो शिथिलताएँ घुसी थीं उनको दूर करने का प्रयत्न किया। परन्तु आपका यह क्रियोद्धार गच्छ की पूर्ण शुद्धि नहीं कर सका। गच्छ का एक बड़ा भाग आपके उग्रविहार और

त्याग मार्ग का स्वीकार करने में असमर्थ रहा, परिणामस्वरूप श्री विजयदेवसूरि तथा श्री विजयसिंहसूरि के समय तक शिथिलाचार बहुत फैल गया। यदि लोग खुल्लंखुल्ला द्रव्यसंग्रह करके ब्याज बट्टा खाने और बोहरगत करने लग गये थे। उत्तर गुणों की तो बात ही क्या, मूल गुणों का भी ठिकाना नहीं रहा था। साधुमार्ग का यह पतन पं० श्री सत्यविजयजी आदि आत्मार्थी श्रमणगण को बहुत अखरा। उन्होंने अपने गच्छपति आचार्य की आज्ञा लेकर क्रियोद्धार किया और त्यागी जीवन गुजारने लगे।

पं० पद्मविजयजी महाराज के लेखानुसार पंन्यासजी के इस क्रियोद्धार में उनके समकालीन विद्वान् उपाध्याय श्री विनयविजयजी, न्यायाचार्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि बहुतेरे आत्मार्थी साधुजन शामिल हुए थे। क्या मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी बतायेंगे कि उक्त क्रियोद्धारक महानुभाव विद्वान् साधुओं से शासन की क्या हानि हुई, अथवा इन्होंने समाज की संगठित शक्ति को किस प्रकार विभक्त किया? वास्तविकता तो यह कहती है कि श्री जगच्चन्द्रसूरि, श्री आनन्दविमलसूरि और श्री सत्यविजयजी पंन्यास जैसे महापुरुषों ने अपने-अपने समय में क्रियोद्धार द्वारा श्रमणमार्ग की शुद्धि न की होती तो तपागच्छीय संविज्ञ श्रमणों की भी आज वही दशा हुई होती जो 'मथेरण' तथा 'पौषालवासी भट्टारकों' की हुई है।

खरतर, आंचलिक आदि गच्छों में जो थोड़ा बहुत साधु-साध्वियों का समुदाय दृष्टिगोचर होता है वह भी इनके पुरोगामी नायकों के क्रियोद्धार का ही फल है।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी जिसका उद्धार करने की चेष्टा कर रहे हैं उस "ऊकेश गच्छ" के एक आचार्य "श्री यक्षदेवसूरि ने भी चन्द्रकुल प्रवर्तक श्री चन्द्रसूरिजी के पास उपसम्पदा लेकर क्रियोद्धार किया था और वे पार्श्वस्थावस्था छोड़कर महावीर की सुविहित श्रमण परम्परा में दाखिल हुए थे।" अगर मुनिजी इस प्रसंग को भूल गये हों तो "ऊकेश गच्छ चरित्र" की वही प्राचीन प्रति मंगाकर किसी विद्वान् के पास समझ लें।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी का कथन है कि—"उपाध्यायजी महाराज ने क्रिया उद्धार नहीं किया था; पर यतिसमुदाय में रहकर ही उभयपक्ष को (क्रिया उद्धारक श्रमणों को एवं शिथिलाचारी यतियों को) हित शिक्षा दी थी ।

क्या मुनिजी बतायेंगे कि उभय को शिक्षा देने वाले उपाध्याय श्री यशोविजयजी खुद किस वर्ग में थे ? शिथिलाचारियों में अथवा उग्रविहारियों में ? यदि वे स्वयं शिथिलाचारी थे तब तो शिथिलाचारियों को उपदेश देने का उन्हें कोई अधिकार ही नहीं था । वैसा उपदेश करने को उनकी जबान ही न चलती पर आपने शिथिलाचारियों को उपदेश दिया है और खूब दिया है । "उन्हें परमपद के चोर और उन्मत्त तक कह कर फटकारा है", इससे प्रकट है कि उपाध्यायजी आप शिथिलाचारी नहीं थे । आप भी अन्त में यह तो कबूल करते हैं कि उपाध्यायजी महाराज शिथिलाचारियों में नहीं थे । जब वे शिथिलाचारी नहीं थे तो अर्थतः वे 'उग्रविहारी थे' यही कहना होगा । आप सुविहिताचारी श्रमण कहते हैं इसका अर्थ भी उग्रविहारी ही होता है और उग्रविहारी मान लेने के बाद उन्हें क्रियोद्धारक मानना ही तर्कसंगत हो सकता है ।

उपाध्यायजी कृत–विज्ञप्ति स्तवन की—

"विषम काल ने जोरे, केई उठ्या जड़मलधारी रे ।
गुरु गच्छ छंडी मारग लोपी, कहे अमे उग्रविहारी रे ॥१॥'

× × × × ×

"गीतारथ विण भूला भमता, कष्ट करे अभिमाने रे ।
प्राये गंठी लगे नवि आव्या, ते खूंता अज्ञाने रे ॥श्री॥३॥
तेह कहे गुरु गच्छ गीतारथ, प्रतिबंधे शुं कीजे रे ।
दर्शन; ज्ञान, चारित्र आदरिये, आपे आप तरीजे रे ॥श्री॥४॥"

इत्यादि गाथाएँ उद्धृत करके मुनिजी कहते हैं—इसमें उपाध्यायजी ने क्रियोद्धारकों को हित शिक्षा दी है । इस पर हमें दुःख के साथ लिखना

पड़ता है कि मुनिजी श्री उपाध्यायजी के उक्त वचनों का मर्म ठीक नहीं समझे। उ० महाराज का उक्त उपदेश क्रियोद्धारकों के लिए नहीं पर ढुंढक, वीजामती आदि गुरुगच्छ-वर्जित स्वयम्भू साधुओं के लिए है। जड़मलधारी, गुरुगच्छ छंडी, मारग लोपो आदि विशेषण ही कह रहे हैं कि यह शिक्षा ढुंढक और वीजामतियों के लिए है। क्रियोद्धारक जड़ नहीं पर सभी विद्वान् थे; वे मलधारी नहीं पर शास्त्रानुसारी साधु-वेषधारी थे। उन्होंने न गुरु को छोड़ा था, न गच्छ को। वे अपने गुरु और गच्छ की आज्ञा में रहकर क्रियोद्धारक बने थे और चारित्र पालते थे। उनके ही क्यों, उनके शिष्यों तक के ग्रन्थों की प्रशस्तियां देखिये, वे उनमें अपने गच्छ और गच्छपति गुरु का आदरपूर्वक उल्लेख करते हैं।

क्रियोद्धारकों को मार्ग का लोपक समझना बुद्धि का विपर्यास है। क्योंकि उन्होंने मार्ग लोपा नहीं, बल्कि मार्ग की रक्षा की थी, यह जग-जाहिर है। गीतार्थ विना उस समय कौन भूले भटके थे, इसका भी मुनिजी ने कोई विचार नहीं किया। पंन्यास सत्यविजयजी और उनके सहकारी क्रियोद्धारक सभी विद्वान् थे। उनको उपाध्यायजी का उक्त वर्णन कभी लागू नहीं हो सकता।

वास्तविकता तो यह है कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लोंकामत में से विजयऋषि ने अपना एक स्वतन्त्र मत निकाला था। वे मूर्ति-पूजा को मानते थे। श्वेताम्बर साधुओं की तरह दंड कंबल वगैरह भी रखते थे। फिर भी उनके वेष में कुछ लोंकापन्थ की झलक रह गई थी।

वीजा ऋषि बड़े ही तपस्वी थे। आपने इस तपोबल से लोगों का काफी आकर्षण किया था। लोंकापन्थ से निकलकर के भी उन्होंने कोई नया गुरु धारण नहीं किया और न किसी सुविहित गच्छ में ही प्रवेश किया था। फलतः उनकी परम्परा का उन्हीं के नाम से "विजयगच्छ" यह नाम प्रसिद्ध हुआ। मेवाड़, मेवात-प्रदेश आदि देशों में इसका विशेष प्रसार हुआ। उपाध्यायजी के समय तक इस मत ने अपना निश्चित रूप धारण कर लिया था।

इधर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में ऋषि लवजी, ऋषि अमीपालजी, धर्मसी आदि कतिपय व्यक्तियों ने लोंकापन्थ में से निकलकर उग्रविहार शुरु किया। बाह्य कष्ट-क्रियाओं के प्रदर्शन से इनकी तरफ भी लोक-प्रवाह पर्याप्त रूप से बहने लगा, आगे जाकर यही परम्परा "ढुंढक" इस नाम से प्रसिद्ध हुई।

उक्त दोनों मत (बीजा मत और ढुंढक मत) के साधु प्रायः निरक्षर होते थे, फिर भी मलिन वस्त्र, उग्रविहार, कठोर तप आदि गुणों से वे जन-समूह को अपनी तरफ खींच रहे थे और प्रतिदिन उनका पंथ वृद्धिगत हो रहा था।

उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी ने अपनी कृतियों में इन्हीं दो मत के उग्रविहारी जड एवं गुरुगच्छ विहीन साधुओं को लक्ष्य करके हित शिक्षा दी है, जिसे मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी मार्गगामी और गच्छप्रतिबद्ध विद्वान् क्रियोद्धारकों के साथ जोड़ने की भूल कर बैठे हैं।

उपाध्यायजी की भाषा-कृतियों के कुछ पद्य उद्धृत करके ज्ञानसुन्दर-जी कहते हैं—"उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट पाया जाता है कि श्रीमान् उपाध्यायजी महाराज ने न तो क्रिया उद्धार ही किया था और न शासन में छेद-भेद डालकर आप क्रिया करना ठीक ही समझते थे। इस समय कतिपय यति शिथिलाचारी हो गये थे, पर उनके ऊपर एक विशेष नायक तो अवश्य ही था, पर क्रियोद्धारकों पर तो कोई नायक ही नहीं रहा। परिणाम यह निकला कि आज इस निर्नायकता के साम्राज्य में एक ही गच्छ में अनेक आचार्य और अनेक प्रकार के बाह्य मतभेद दृष्टिगोचर होने लगे।"

उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी ने उग्रविहारियों को लक्ष्य कर जो भी कथन किया है वह गच्छानुयायी क्रियोद्धारकों को लागू नहीं हो सकता।

उपाध्यायजी क्रियोद्धारकों के विरोधी नहीं पर उनके परम सहायक थे। इसके बदले में वे यतियों द्वारा कई बार सताये भी गये थे, पर आपने

उग्रविहारियों का साथ नहीं छोड़ा और कई शिथिलाचारियों को प्रेरणा करके क्रियोद्धारक बनाया पर उनकी उपेक्षा नहीं की। इस स्थिति में उपाध्यायजी क्रियोद्धारक हो सकते हैं या नहीं इसका मुनिजी स्वयं विचार करें।

श्रीमान् मुनि ज्ञानसुन्दरजी ने क्रियोद्धार का जो निष्कर्ष निकाला वह इस विषय के आपके कच्चे ज्ञान का परिचायक है और क्रियोद्धारकों पर शासनभेद का बार-बार इल्जाम लगाते हैं, यह क्रियाविषयक कुरुचि का द्योतक है।

वास्तव में जिन्होंने क्रियोद्धार किया था उन्होंने शासन का उत्कर्ष किया था। शिथिलाचार के निरंकुश वेग को रोक कर जैन श्रमण-संस्कृति की रक्षा करने के साथ ही शिथिलाचारियों को सुधारने की चुनौती दी थी।

उस समय कतिपय यति ही शिथिलाचारी नहीं हुए थे, अपितु सारा समुदाय ही बिगड़ चुका था। गच्छपति और उनके निकटवर्ती कतिपय गीतार्थ अवश्य ही मूल गुणों को बचाये हुए थे, परन्तु अधिकांश यतिवर्ग की स्थिति यहां तक बिगड़ चुकी थी कि क्रियोद्धार के बिना विशुद्ध जैन श्रमण-मार्ग का अस्तित्व रहना मुश्किल था। यही कारण है कि आत्मार्थी विद्वानों ने क्रियोद्धार करने का निश्चय किया और तत्कालीन गच्छनायक ने उनके शुभ विचार का अनुमोदन किया था।

मुनिजी क्रियोद्धारकों को निर्नायक कहकर अपने इतिहास विषयक अज्ञान का परिचय मात्र दे रहे हैं। वास्तव में तो यतियों के ऊपर जो नायक थे वे ही क्रियोद्धारकों के भी नायक थे। क्रियोद्धारक भी उन्हीं की आज्ञा से विचरते, चातुर्मास्य करते और संयम पालते थे। मुनिजी ने क्रियोद्धारक-संविग्न श्रमणों के और उनकी शिष्यपरम्परा के ग्रन्थ पढ़े होते तो संभव है कि आप यह कहने का कभी दुस्साहस नहीं करते कि क्रियो-द्धारक निर्नायक थे। क्रियोद्धारक श्रमण ही नहीं किन्तु उनकी शिष्य-परम्परा उन्नीसवीं सदी तक गच्छपति श्रीपूज्यों को किसी अंश में मानती थी। हाँ जब से श्री पूज्यों ने रुपया लेकर यतियों को क्षेत्रादेश पट्टक देना

शुरु किया तब से संविग्न शाखा ने उनसे क्षेत्रादेश पट्टक लेना बंद कर दिया था और इसका अनुकरण कतिपय यतियों ने भी किया था, जिससे मजबूर होकर क्षेत्रादेश पट्टक के बदले में रुपया लेना श्रीपूज्यों को बन्द करना पड़ा था। फिर भी गच्छपतियों के पतन की कोई हद नहीं रही थी। प्रतिदिन मूल उत्तर गुणों से वंचित होते जाते थे और समाज की श्रद्धा उन पर से हटती जाती थी। समय रहते यदि गच्छपतियों ने भी क्रियोद्धार कर लिया होता तो न संविग्न साधुपरम्परा उनके अंकुश से बाहर निकलती और न जैन संघ ही उनसे मुंह मरोड़ता। पर यति नहीं चेते और गच्छ-पति के स्थान के वारिशदार श्रीपूज्य भी नहीं चेते, जिसका परिणाम प्रत्यक्ष है। जैन संसार से ही नहीं आज जगत् भर से उनका नामोनिशान मिटने की तैयारी में है। कोई अज्ञानी इस दशा का कारण भले ही संविग्न साधुओं का प्राबल्य मानने की भूल करे, पर जो धर्म-सिद्धान्त के जानकार हैं वे तो यही कहेंगे कि इस दशा के जवाबदार श्रीपूज्य और यति स्वयं हैं। क्योंकि खासकर के जनसमाज हमेशा से धर्मगुरुओं को पूजता आया है, पर धर्मगुरुओं के निर्गुण खण्डहरों को नहीं, इस सत्य को वे नहीं समझ सके।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी आधुनिक श्रमणसंघ की अव्यवस्था और पारस्परिक अनमेल की जिम्मेदारी क्रियोद्धारको के ऊपर किस अभिप्राय से मढ़ते हैं यह समझ में नहीं आता। कोई दस पीढ़ी पहले के क्रियोद्धारकों की संतति में आज कुछ दोष दीखे तो वह क्रियोद्धार का परिणाम नहीं किन्तु क्रियोद्धार की जीर्णता का परिणाम है और इससे तो उल्टा यों कहना चाहिए कि क्रियोद्धार हुए बहुत समय हो गया है। उसका असर किसी अंश में मिट गया है अतः नये क्रियोद्धार की आवश्यकता निकट आ रही है। अन्त में मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी लिखते हैं—

"उपाध्याय महाराज ने न क्रियोद्धार किया और न यतियों की स्वाभाविक शिथिलता को ही सेवन किया। वे तो थे "तटस्थ-सुविहिता-चारी श्रमण" जिन्होंने समयानुकूल सभी को सदुपदेश दिया।"

उपाध्यायजी को सुविहिताचारी श्रमण मानते हुए भी मुनिजी उन्हें क्रियोद्धारक नहीं मानते। यह बात तो "माता मे वन्ध्या" जैसी हुई।

"सुष्ठु विहितं विधानं येषां ते सुविहिताः उग्रविहारिणः, सुविहितानामाचारः सुविहिताचारः सो यस्यास्तीति "सुविहिताचारी" इस प्रकार सुविहित शब्द मात्र का अर्थ भी आप समझ लेते तो उपाध्यायजी के क्रियोद्धार का विरोध करने की कदापि भूल नहीं करते ।

अब भी मुनिजी समझ लें कि सुविहिताचारी मुनि वही कहलाते हैं जो मूल और उत्तर गुणों को समयानुसार शुद्ध पालते हुए अप्रतिबद्ध विहार करते हैं ।

यदि उपाध्यायजी ऐसे थे तो आप माने, चाहे न माने वे क्रियोद्धारक थे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

अन्त में मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी से सानुरोध प्रार्थना करूंगा कि क्रियोद्धारकों के सम्बन्ध में आपने जो अभिप्राय व्यक्त किया है, वह एकदम गलत है । क्रियोद्धारकों से शासन की हानि नहीं पर हित हुआ है और होगा । भूतकाल में समय-समय पर क्रियोद्धार होते रहे हैं, तभी आज तक निर्ग्रन्थ श्रमणों का आचार-मार्ग अपना अस्तित्त्व टिका सका है और भविष्य में भी क्रियोद्धारकों द्वारा ही श्रमणों का क्रियामार्ग अक्षुण्ण रहेगा यह निश्चित समझियेगा ।

आशा है, मुनिजी क्रियोद्धार विषयक अपने अभिप्राय की अयथार्थता महसूस करेंगे और शासन के हित के खातिर उसे बदलने की सरलता दिखायेंगे ।

हमें आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है कि इस थोड़े से विवेचन से ही मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी क्रियोद्धार विषयक अपनी भूल को समझ सकेंगे और समाज के हितार्थ उसका परिमार्जन करने की सरलता दिखायेंगे ।

हरजी (राजस्थान) ता० २८-६-१९४१

मु० हरजी, पो० गुड़ा बालोतरा (मारवाड़) ता० ६-७-४१;

विनयादि गुणविभूषित मुनिराज श्री मुनि ज्ञानसुन्दरजी आदि
फलोदी-मारवाड़

अनुवन्दना सुख शाता के बाद निवेदन कि पत्र मिला, समाचार विदित हुए।

उ० श्री यशोविजयजी ने क्रियोद्धार किया था ऐसा उल्लेख उनके किसी बड़े स्तवन के टिबे में पं० श्री पद्मविजयजी ने किया है, ऐसा मुझे स्मरण है। पर यहां पुस्तक न होने से निश्चित नहीं बता सकता।

पं० पद्मविजयजी, रूपविजयजी, वीरविजयजी आदि संविग्न शाखा के पिछले विद्वानों ने पूजा आदि ग्रन्थों में अपने समय के श्री पूज्यों को गच्छपति के तौर पर स्वीकार करके उनके धर्म-राज्य में कृति निर्माण होने के निर्देश किये हैं, इसी तरह इनके गुरु, प्रगुरु आदि ने भी गच्छपतियों को अपना गच्छपति गुरु माना है। यदि वे उनको छोड़कर स्वतन्त्र हुए होते तो अपनी कृतियों में तत्कालीन गच्छपतियों के धर्म-राज्य का उल्लेख करना असंगत होता।

उपाध्यायजी क्रियोद्धार में शामिल हुए थे इस बात के समर्थन में उपाध्यायजी के—

"परिग्रह ग्रहवशे लिंगीया, लेई कुमति रज सीस,
सलूणे जिम तिम जग लवता फिरे, उन्मत्त हुइ निस दोस सलूणे ॥५॥"

इत्यादि वचन ही प्रमाण है।

पं० पद्मविजयजी कृत उपाध्यायजी के स्तवन के टवे के उपरान्त आज कोई पूरावा नहीं है। पर श्री उपाध्यायजी ने यति समाज की जो लीलाएँ प्रकाशित की हैं इससे ही स्पष्ट होता है कि वे यतियों के कट्टर विरोधी थे। दन्तकथा तो यहां तक प्रचलित है कि यतियों का विरोध

और संविग्नों की तरफदारी करने के कारण यति लोगों ने श्री पूज्य की सलाह से उपाध्यायजी को तीन दिन तक एक कमरे में कैद कर रक्खा था। जिसका गर्भित सूचन आपने "शंखेश्वर पार्श्वनाथ के स्तवन" में किया है फिर भी आपने यतियों के पक्ष में रहना मंजूर नहीं किया था।

उपाध्यायजी ने स्वच्छन्द विहारियों के लिए कुछ भी लिखा हो पर वह क्रियोद्धारकों के लिए नहीं हो सकता। चाहे उन्होंने संवेगी या संविग्न शब्दों का भी प्रयोग किया हो, पर वर्तमान संवेगी परम्परा को लक्ष्य करके नहीं हो सकता। कई जगह आपने प्राचीन ग्रन्थों का अर्थ ही नहीं लिया बल्कि उनके शब्द तक अपनी कृतियों में उतारे हैं। ऐसे प्रसंगों में प्रयुक्त संवेगी, संविग्न आदि शब्द, जो वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों से इनकी कृतियों में आए हुए हैं, उनको वर्तमान व्यक्तियों को लागू करना अनुचित है। उपदेशपद, उपदेशमाला, षोडशक, पंचाशक, अष्टक आदि प्राचीन ग्रन्थों को पढ़कर आप उपाध्यायजी के स्तवन, द्वात्रिंशिकायें, अष्टकादि प्रकरण पढ़िये। आपको यही ज्ञान होगा कि उपाध्यायजी के ग्रन्थ वास्तव में प्राचीन ग्रन्थों का रूपान्तर मात्र हैं।

पं० सत्यविजयजी आदि विद्वानों ने आचार्य श्री विजयप्रभसूरिजी की आज्ञा से उनके गच्छपतित्व के समय में क्रियोद्धार किया था, तब उ० श्री यशोविजयजी ने जिन कृतियों में स्वेच्छा विहारियों की टीका की है, वे बहुधा विजयदेवसूरिजी के समय में बन चुकी थीं, जब कि क्रियोद्धार अभी भविष्य के गर्भ में था। इससे भी सिद्ध है कि उपाध्यायजी के टीका-पात्र क्रियोद्धारक संवेगी नहीं पर गच्छविहीन 'विजयमती' और 'ढुंढक' आदि थे। संवेगी शब्द को किसी भी क्रियोद्धारक ने अपने लिये रजिस्टर्ड नहीं करवाया था। कोई भी त्यागी और तपस्वी उस समय 'संवेगी' कहलाता था।

आपका जिन की तरफ संकेत है वे चन्द्रप्रभ, आर्य रक्षित, जिनवल्लभ आदि आचार्य क्रियोद्धारक नहीं पर मताकर्षक थे। इन्होंने क्रियोद्धार नहीं पर क्रियाभेद और मर्मभेद किया था। इनको क्रियोद्धारक कहना

सरासर भूल होगी। इन्होंने संघभेद करके शासन की हानि की है यह बात मैं मानता हूँ, मतप्रवर्तक अथवा नूतन गच्छ प्रवर्तकों के नाते आप इनके लिये कुछ भी लिखें हमारा विरोध नहीं, बाकी इनको "क्रियोद्धारक" मानकर कुछ भी लिखना वास्तविकता से दूर होगा। "ऊकेश गच्छ चरित्र" का वह प्रसंग याद होगा जहां कि ऊकेश गच्छ के एक प्रसिद्ध आचार्य के— "चन्द्रकुल प्रवर्तक श्री चन्द्रसूरिजी" के निकट क्रियोद्धार करके उपसंपदा ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है। तेरहवीं शती में "श्री देवभद्र गणि" तथा "श्री जगच्चन्द्रसूरि" और उन्हीं की परम्परा में "श्री आनन्द-विमलसूरिजी" आदि प्रसिद्ध क्रियोद्धारक हो गये हैं, पर आप यह नहीं बता सकेंगे कि इन्होंने कोई मत पंथ खड़ा किया था, अथवा संघभेद किया था।

यदि उपर्युक्त क्रियोद्धारकों पर आपका कटाक्ष नहीं है तो आप जो कुछ लिखें (मत प्रवर्तक) अथवा (नूतन गच्छ सर्जक) इस हेडिंग के नीचे लिखें और उसमें "क्रियोद्धारक शब्द" का प्रयोग करने की गल्ती न करें।

भवदीय :
कल्याणविजय
मु० हरजी, पो० गुढ़ा बालोतरा
(मारवाड़) ता० २७–७–४१

विनयादि गुणविभूषित मुनिराज श्री ज्ञानसुन्दरजी गुणसुन्दरजी,
फलोदी—मारवाड़

अनुवन्दना सुख शाता के साथ निवेदन कि पत्र आपका मिला समाचार जाने।

आप उपाध्यायजी के जिन उल्लेखों के आधार पर क्रियोद्धारकों का खण्डन करना चाहते हैं, वास्तव में वे उल्लेख क्रियोद्धारकों के लिए नहीं पर तत्काल निकले हुए स्थानकवासी वेषधारियों, ढुंढकों तथा पासत्थों के लिये हैं।

"विषम काल ने जोरे केई" इत्यादि पांचों ही गाथाएँ नवीन बेषधारियों के लिये हैं। मैं ही नहीं इस स्तवन के टबार्थ लेखक भी जो उपाध्यायजी के अधिक पश्चाद्वर्ती नहीं थे, यही कहते हैं कि उपाध्यायजी का यह उपदेश ढुंढकों के लिए है। देखिये नीचे का उल्लेख—

"प्राइं ए ढाल ढुढीया लूंका भ्राश्रिने छे, पछें बीजीइं जीव ने सीषामरण छें, हवें तें ढुंढिया ने माथें गुरु नथी ते माटे इम कह्यं जे "उठ्या जड़ मलधारी" इत्यादि शब्दों में अर्थकार ने उपाध्यायजी का उक्त कथन ढुंढकों में घटाया है और "श्रुत हीलनोत्पत्ति" कारकों के विषय में लिखे गये "वंग चूलिया" प्रकरण का पाठ उद्धृत किया है।

"गुरु गच्छ छोडी" इन शब्दों ने आपके दिमाग को भ्रमित कर दिया है, इसलिये आप कहते हैं कि इनके गुरु गच्छ नहीं थे तो छोड़ना कैसा? परन्तु स्वस्थ चित्त से सोचेंगे तो इसमें अनुपपत्ति कुछ भी नहीं है। गुरु गच्छ छोड़ने का अर्थ "गुरु गच्छ में से निकल कर" यह नहीं है किन्तु इसका अर्थ 'गुरु गच्छ की निरपेक्षतावाले' ऐसा होता है, जैसे "कौआ सरोवर को छोड़कर छीलर जल पीता है" यहां सरोवर छोड़ने का अर्थ उसमें से निकलना नहीं होता, किन्तु उसकी उपेक्षा करना होता है। इसी तरह प्रकृत में श्री गुरु गच्छ छोड़ने का अर्थ गुरु गच्छ की उपेक्षा मात्र होता है। उपेक्षक गच्छ में से निकला हो या स्वयंभू हो, जब तक वे गुरु गच्छ की दरकार न करेंगे दोनों गुरु गच्छ छोड़ने वाले ही कहलायेंगे।

"नाणतणों संभागी होवे" इत्यादि गाथायें भी गुरु की जरूरत न समझने वाले ढुंढकों के लिये हैं। देखिये उनमें के नीचे के शब्द—

"दुख पाम्या तिम गच्छ तजी ने, आपमती मुनि थाता रे"

क्या गुरु के पास दीक्षा लेकर क्रियोद्धार करने वालों के लिए "आपमती मुनि थाता" ये शब्द संगत हो सकते हैं? कभी नहीं, गुरु के पास संघ समक्ष पंच महाव्रत उच्चरने के उपरान्त अधिक समय तक गुरु के पास रहकर सिद्धान्त पढ़ने के बाद उग्रविहार करने वाले क्रियोद्धारकों के

लिये "पंच महाव्रत किहाँ उच्चरियाँ सेव्युं केहनुं पासुं रे" इत्यादि कथन किया जा सकता है ? ये शब्द उन्हीं के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं जो गुरु निरपेक्ष होकर स्वयं साधु बने हों। सचमुच ही ढुंढकादि ऐसे थे और उन्हीं को लक्ष्य करके उपाध्यायजी ने उक्त शब्द लिखे हैं।

"चढ्या पढ्यानों अन्तर समभी" इत्यादि दो गाथाएँ भी ऐसे ही स्वयम्भू साधुओं की उत्कृष्टता की पोल खोलने के लिये कही गई हैं और इनके नीचे की "पासत्थादिक सरीखे वेषे" यह गाथा उन उद्भट वेषधारी यतियों के लिये है, जो पासत्थों की कोटि में प्रविष्ट हो चुकने पर भी अपने को साधु मानते थे। वर्ण बदल कर कपड़े पहनने वालों का इससे कोई वास्ता नहीं है।

"हीणो निज परिवार वढ़ावे" इत्यादि तीन गाथागत उपदेश ढुंढकों के लिए है।

"पहेली जे व्रत भूठ उच्चरियां" यह कथन स्वयम्भू साधुओं को लक्ष्य करके किया गया है।

उपाध्यायजी कहते हैं—'तुमने पहले जो महाव्रत गुरु विना स्वयं उच्चरे हैं वे प्रामाणिक नहीं हैं, इसलिए तुम फिर गुरुसाक्षिक महाव्रत धारण करो।'

जो क्रियोद्धारक गुरु-आज्ञा से उत्कृष्ट चारित्र पालते थे उनके लिये उक्त कथन कभी संगत नहीं हो सकता।

"पासत्थादिक ज्ञाति न तजई" ये शब्द उन यतियों के लिये हैं जो आप "पासत्थों के लक्षण युक्त तथा पासत्थों से संसक्त रहते हुए भी साधु होने का दावा करते थे।"

उपाध्यायजी के इन वचनों से यही सिद्ध होता है कि उपाध्यायजी स्वयं पासत्थों और पासत्थों के शामिल रहने वाले यतियों से दूर रहते थे। इसके आगे की गाथायें उन कपटी साधु नामधारियों के सम्बन्ध में हैं जो त्यागी होते हुए भी आत्मप्रशंसक और परनिन्दक होते थे। उपाध्यायजी

की इन गाथाओं में पूर्व ग्रन्थों की छायामात्र है। वर्तमान के साथ इनका खास सम्बन्ध नहीं है ।

तत्कालीन यतियों में भी "उग्रविहारी वर्ग होने की आपकी कल्पना निराधार है।" अठारहवीं सदी में जहां तक मैं समझ सका हूँ यतियों में व्यापक रूप से शिथिलाचार फैल चुका था। यदि तब तक उग्रविहारी विद्यमान होते तो क्रियोद्धार कर उग्रविहार स्वीकार करने की पं० सत्यविजयजी आदि की कभी जरूरत नहीं पड़ती। यह सही है कि कितनेक यति सर्वथा पतित अवस्था को पहुँच चुके थे, तब एक वर्ग ऐसा भी था जो मूल गुणों को लिए हुए था। पर उग्रविहारी जैसी कोई चीज नहीं रही थी।

अभी न तो हमारे पास उपाध्यायजी के ग्रन्थ है और न उतनी फुरसत हो है कि उन्हें मंगवाकर पढ़ूँ। हमारी तरफ से इस विषय में जो कुछ मंतव्य था लिख दिया है।

श्री विजयप्रभसूरिजी स्वयं उग्रविहारी तो न थे, पर उनके मूल गुणों में कोई खामी नहीं थी। उनके पास मध्यम और कनिष्ठ स्थिति के यति थे। अतः वहाँ रहकर उग्रविहारिपन रखना मुश्किल था इस कारण से सत्यविजयजी आदि ने गच्छपति की सम्मति से क्रियोद्धार करके यतियों का संसर्ग छोड़ा था। पर गच्छपति के साथ वन्दन-व्यवहार रखते थे और उनकी धार्मिक आज्ञाओं को भी मानते थे।

संवेगी और संविग्न शब्द पुराने हैं। क्रियोद्धारकों के लिए ही नहीं, किसी भी त्यागी तपस्वी के लिये व्यवहृत होते थे।

"संबोधप्रकरण" आदि ग्रन्थ पढ़ने से आपको इन शब्दों की प्राचीन रूढ़ता का पता लगेगा। यही नहीं बल्कि उपाध्यायजी के बहुत से वचन उक्त ग्रन्थ के अनुवाद मात्र हैं यह भी ज्ञात होगा।

"ऊकेश गच्छचरित्र" के अनुसार "श्री यक्षदेवसूरि ने श्री चन्द्रसूरिजी के पास उपसम्पदा ली थी" और यही हकीकत सत्य भी है।

तत्कालीन पार्श्वनाथ संतानीय साधु पूर्णरूपेण शिथिलाचारी हो चुके थे और कुगुरुओं में पासत्था के नाम से वे पहले नम्बर में गिने जाते थे, इसलिये पार्श्वसंतानीय आचार्य ने सुविहित गच्छ की उपसम्पदा धारण कर अपने को शिथिलाचार से मुक्त किया था। "ऊकेश गच्छ चरित्र" फिर पढ़कर निर्णय कर लीजिये। उपकेश गच्छीय पट्टावली में जो इस विषय में विपरीत लिखा है, वह पिछले यतियों की करतूत है और सर्वथा अप्रामाणिक है।

इस विषय में अब मैं आपसे ज्यादा लिखा-पढ़ी नहीं करूँगा, यदि आपको जंचे तो अपने विचारों को परिष्कृत कर प्रकट कीजिये अन्यथा जनता के भ्रमनिवारण के लिए जो उचित होगा लेख के रूप में प्रतीकार किया जायगा।

भवदीय :

कल्याणविजय

: २४ :

जैन संघ के बंधारण की रूपरेखा की अशास्त्रीयता

❖

ले० पं० कल्याणविजय गरिण

कुछ दिन पहले यहां के धार्मिक अध्यापक ने हमें एक छोटी पुस्तिका दी, जिसका शीर्षक "जैन संघ के बंधारण की रूपरेखा" था। पुस्तिका को पढ़कर अपनी सम्मति प्रदान करने का भी अनुरोध किया। इस पर पुस्तिका को पढ़ने के उपरान्त हमें जो कुछ इसके सम्बन्ध में विचार स्फुरित हुए वे नीचे लिखे अनुसार हैं।

रूपरेखा की पुस्तिका पर लेखक का कोई नाम नहीं है, परन्तु प्रकाशक के "आमुख" के पढ़ने से ज्ञात हुआ कि इसके लेखक दो हैं। पहले एक साधुजी जो गरिणपदधारी हैं और दूसरा गृहस्थ है जो पण्डित कहलाता है। लेखकों ने अपना नाम टाइटल पेज पर नहीं दिया इसका कारण तो वे ही जाने, परन्तु ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण लेख में लेखकों को अपने नाम अवश्य देने चाहिए थे।

लेखकों ने पीठबन्ध में ही "जैन शासन" अर्थात् "संघ" की व्यवस्था करने में भूल की है। क्योंकि जैन शासन का प्राथमिक सूत्र तत्त्वत्रयी है, जिसमें देव, गुरु और धर्म का समावेश होता है। देवतत्त्व में अरिहन्त और सिद्ध, गुरु तत्त्व में आचार्य, उपाध्याय तथा श्रमणगण और धर्म-तत्त्व में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र सन्निविष्ट हैं। "जैन-प्रवचन", "जैन-संघ" या "जैन-तीर्थ" सब तत्त्वत्रयी में समा जाते हैं। ज्ञानाचारादि पंचाचार (पांच आचार) आदि सभी बातें इसके प्रत्यंग मात्र हैं, मौलिक अंग नहीं।

(१) शासन-रक्षक देव और देवियाँ :

लेखक मानते हैं कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन का रक्षक एक देव-देवी युगल होता है, जैसे ऋषभदेव के शासन का रक्षक "गोमुख यक्ष; चक्रेश्वरी देवी।" लेखकों का यह कथन जैनागम से विरुद्ध है। जैनागमों तथा उसके प्राचीन अंगों में इन देव-देवियों का नाम निर्देश तक नहीं है। सर्वप्रथम "निर्वाणकलिका" और उसके बाद "प्रवचनसारोद्धार" नामक प्रकरण में ये देव-देवी युगल दिखाई देते हैं, परन्तु वे शासनरक्षक के रूप में नहीं किन्तु तीर्थङ्करों के "चरणसेवकों" के रूप में बताये गये हैं। 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ के बाद के तीर्थङ्कर-चरित्र-ग्रन्थों में भी उन यक्ष-यक्षिणियों के नाम मिलते हैं। परन्तु उन्हें 'शासन-रक्षक' वा 'प्रवचन-रक्षक' कहना भूल है। प्राचीन काल में जब सपरिकर जिनमूर्तियां प्रतिष्ठित होती थीं, उस समय इन देव-युगलों को जिनमूर्ति के आसन के निम्न भाग में दिखाया जाता था। परिकरपद्धति हट जाने के बाद उस प्रकार के सिंहासन भी हट गए और मन्दिरों में से इन देव-युगलों का अस्तित्व भी मिट सा गया था, परन्तु गत शताब्दी से इन देव-युगलों की पृथक् मूर्तियां बनवाकर मन्दिरों में बैठाने की प्रथा चल पड़ी है, जो शास्त्रीय नहीं है, इन देवयुगलों का आवश्यक-निर्युक्ति में निरूपण बताना लेखकों की आवश्यक-निर्युक्ति से अनभिज्ञता सूचित करता है। आवश्यक-निर्युक्ति में इन देव-देवियों का निरूपण तो क्या इनका सूचन तक नहीं है।

जैन प्रतिष्ठाकल्पादि ग्रन्थों में "पवयणदेवया; सुयदेवया" अथवा "शासन देवया" नाम से जिन देवताओं के कायोत्सर्ग अथवा स्तुतियाँ बताई हैं, वे वास्तव में जिनप्रवचन पर भक्ति रखने वाली देवियों के पर्याय नाम हैं। कहीं-कहीं तीर्थङ्कर-विशेष पर भक्ति रखने वाले अजैन देवों को भी शासन देव के नाम से निर्दिष्ट किया है, जैसे "सर्वानुभूति-यक्ष", "ब्रह्मशान्ति देव" इत्यादि। परन्तु इनके जैनशासन-देव होने का यह तात्पर्य नहीं है, कि ये जिनप्रवचन अथवा जिनशासन के अधिष्ठायक हैं।

इस स्थिति में "चौबीस तीर्थङ्करों के यक्ष, यक्षिरिगयों को जिन-शासन का अधिष्ठायक देव मानना अथवा कहना शास्त्र-विरुद्ध है।"

(२) "शासन की संपत्ति के संचालन के अधिकारी" :

शासन की सम्पत्ति के अधिकारियों का निरूपण करते हुए लेखक कहते हैं—"शासन की मिलकत का रक्षण करने का अधिकार चतुर्विध संघ को है। परन्तु यह लिखना भी जैन निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ की शासन-व्यवस्था-पद्धति सम्बन्धी लेखकों की अनभिज्ञता का सूचक है, क्योंकि "श्रमणसंघ की शासन-व्यवस्था अपने आचारों, विचारों, पठनों, पाठनों, परस्पर के सम्बन्धों को ठीक रखने और विशेष संयोगों में संघस्थविर द्वारा संघ समवसरण बुलाकर झगड़ों बखेड़ों का निपटारा करने तक ही सीमित थी।" जंगम, स्थावर मिलकतों पर न श्रमणों का दखल था, न अधिकार। इन बातों में श्रमणगण उपदेशक रूप में गृहस्थों को मार्ग-दर्शन करा सकते थे। जंगम-स्थावर मिलकतों का रक्षण और व्यवस्था करना, जैन गृहस्थों तथा उपासकों का काम था, न कि जैन श्रमण-श्रमणियों का। जब से श्रमण वनवास को छोड़कर अधिकांश में ग्रामवासी हुए, उसके बाद धीरे-धीरे चैत्यवास और चैत्यों की व्यवस्था में उनका सम्पर्क बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि श्रमणसंघ की मौलिक विशुद्ध शासन-व्यवस्था निर्बल होती गई और चैत्यवासी साधुओं के प्रावल्य से उनके बहुमत से शासन-पद्धति ने नया रूप धारण किया जो किसी अंश में आज तक चला आ रहा है। परन्तु ऐसी शिथिलाचारियों के बहुमत से दृढ़मूल बनी हुई अनागमिक शासन-व्यवस्था को जैन संघ के बंधारण में स्थान देना शास्त्रीय-दृष्टि से उचित नहीं है।

आगे लेखक कहते हैं—"संघ के शाश्वत अधिकारों को क्षति पहुँचाने वाले और संघ का अनुशासन नहीं मानने वाले जैन नामधारियों को सड़े पान की तरह संघ से दूर कर देना चाहिए। लेखकों के इस कथन से हम सम्पूर्णतया सहमत हैं, परन्तु लेखक महोदय यदि पिछले २१०० वर्षों का जैन संघ का इतिहास जान लेते तो उपर्युक्त कथन करने का साहस ही

नहीं होता। अन्तिम श्रुतधर आर्यरक्षित सूरि के समय तक कोई भी श्रमण जिनवचन का विरोध कर विपरीत प्ररूपणा करता तो उसे संघ बाहर कर दिया जाता था। यह संघ बाहर की परम्परा महावीर-निर्वाण के बाद ६०० वर्ष तक चलती रही। इस समय के दर्म्यान जमालि से लेकर गोष्ठा माहिल तक सात साधु संघ बाहर किए गए, जो जैन शास्त्र में "निन्हव" के नाम से प्रख्यात हैं। इसके बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास वसति में होता गया, गृहस्थों से सम्पर्क बढ़ता गया। पहले जो दिनभर का समय पठन-पाठन तथा स्वाध्याय में व्यतीत होता था, उसका कुछ भाग जिनचैत्य निर्माण, उनकी व्यवस्था आदि का उपदेश देने में बीतने लगा, गृहस्थों का परिचय बढ़ा। इसके फलस्वरूप संघ बाह्य करने का शस्त्र धीरे-धीरे अनुपयोगी हो जाने से तत्कालीन श्रुतधरों ने इस शस्त्र का प्रयोग करना ही बन्द कर दिया। यदि कोई शास्त्र अथवा प्रामाणिक प्रणाली के विरुद्ध की बात कहता भी तो उसके आचार्य उसे समझा देते, इस पर भी कोई अपना हठाग्रह न छोड़ता तो उसे अपने समुदाय से जुदा कर देते। संघ बाहर करने तक की नौबत आती नहीं थी। अन्तिम शताब्दी के पिछले ५५ वर्षों के भीतर मैंने देखा कि संघ बाहर के हथियार का उपयोग कुछ साधु श्रावकों ने अमुक व्यक्तियों पर किया, परन्तु उसमें कुछ भी सफलता नहीं मिली और जब तक श्रमण समुदाय में ऐक्य न होगा और गृहस्थों का अतिसंसर्ग न मिटेगा, तब तक संघ से बाहर करने की बात, बात ही रहेगी।

(३) शासन-संचालन किस आधार पर ? :

उक्त शीर्षक के नीचे लेखक कुछ ग्रन्थों और सूत्रों का नामोल्लेख करते हैं, जैसे 'आचार-दिनकर, आचार-प्रदीप, आचारोपदेश, गुरु-तत्त्व-विनिश्चय, व्यवहार, बृहत्कल्प, महानिशीथ, निशीथ; इन ग्रन्थ-सूत्रों के नामोल्लेखों से तो ज्ञात होता है कि उन्होंने इन ग्रन्थ सूत्रों में से एक को भी पढ़ा या तो सुना तक नहीं है। मैंने इन सभी को पढ़ा है और महानिशीथ, निशीथ को दो-दो बार पढ़ा है। अन्तिम चार सूत्रों के नोट तक मैंने लिये हैं। इन आठ ग्रन्थों में से एक में भी न संघ के बंधारण की

बात है, न लेखकों की शासन-संस्था का शिस्त भंग करने वाले व्यक्ति को संघ से निकाल देने की बात। १५ वीं सदी के अन्त में बने हुए 'आचार-प्रदीप' में ज्ञानाचारादि पाँच प्रकार के आचारों को शुद्ध पालने का उपदेश है और उनमें अतिचार लगाने पर भवान्तर में उनको अशुभ फल मिलने के दृष्टान्त हैं। 'आचार दिनकर' १५वीं सदी का एक ग्रन्थ है, इसमें शिथिलाचार्यों की मान्यताओं का निरूपण है और दिगम्बर भट्टारकों के प्रतिष्ठा-पाठ, पूजा-पाठ और पौराणिक शान्तियों का संग्रह है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार प्रामाणिक कहा नहीं जा सकता और इसमें भी संघ के बंधारण का निरूपण नहीं है। "आचारोपदेश" सत्रहवीं सदी के लगभग प्रारम्भ का छोटा-सा ग्रन्थ है, इसमें श्रावकों के उपयुक्त पूजा आदि आचार मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। संघ के बंधारण में इसकी कोई उपयोगिता नहीं। "गुरुतत्त्वविनिश्चय" ग्रन्थ में गुरुतत्त्व की पहिचान के लिए शिथिलाचारियों का खण्डन किया है और गुरु कैसे होने चाहिए, इस बात का प्रतिपादन किया है। इसमें भी संघ के बंधारण की रूपरेखा का कोई साधन नहीं है, न शासन संस्था का शिस्त भंग करने वालों के लिए प्रतिकार है।

"व्यवहार" और "बृहत्कल्प" दोनों छेद सूत्र हैं। कल्प में किन-किन बातों से श्रमण-श्रमणी को प्रायश्चित लगता है, यह निरूपण है। व्यवहार में भी वर्णन तो अपराध पदों तथा प्रायश्चित पदों का ही है, परन्तु इसमें प्रायश्चित देने का तरीका विशेष रूप से बताया गया है, जिसके कारण इसका नाम "व्यवहार" रखा।

"निशीथ" उपर्युक्त छेद-सूत्रों के बाद व्यवस्थित किया गया छेद-सूत्र है। इसमें कल्प, व्यवहार, दोनों सूत्रों का प्राय: सारभाग आ जाता है। "महानिशीथ" प्राचीनकाल में जो था, वह अब नहीं है। वर्तमान महानिशीथ प्राय: विक्रम की नवमी शताब्दी का सन्दर्भ है। इसके उद्धारक प्रसिद्ध श्रुतधर हरिभद्रसूरि कहे गए हैं, परन्तु हरिभद्रसूरि के समय में इसका अस्तित्व ही नहीं था। यह बात अनेक प्रमाणों के आधार पर निश्चित हुई है। महानिशीथ के सप्तम अध्याय में प्रायश्चितों का निरूपण

है, जो जैन संघ में कभी व्यवहार में नहीं आए। शेष अध्यायों में से कुछ औपदेशिक गाथाओं से भरे हुए हैं, तब अधिकांश कथा दृष्टान्तों से भरे हुए हैं, जिनमें कि कई बातें प्रचलित आगमों से विरुद्ध पड़ती हैं।

उपर्युक्त सूत्रों में से प्रथम के तीन सूत्रों में केवल साधु-साध्वी के आचार मार्ग में होने वाले अपराधों का प्राश्चित निरूपण है। लेखकों की चतुर्विध संघात्मक शासन-संस्था का बंधारण नहीं।

महानिशीथ में भी अधिकांश श्रमण-श्रमणियों के योग्य उपदेश और दृष्टान्त हैं, श्रावक श्राविकात्मक संघ की कोई चर्चा नहीं।

जिस संघ के बंधारण की रूपरेखा घड़ने में सहायक होने की बात लिखी गई है। उन ग्रन्थों में वास्तविक क्या हकीकत है, इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन ऊपर कराया है, लेखक इस पर विचार करेंगे तो उक्त ग्रन्थों के नाम बताने में उनकी भूल हुई है, यह बात वे स्वयं समझ सकेंगे।

(४) संचालकों की कथाएँ :

उपर्युक्त शीर्षक नीचे लेखकों ने शासन संचालन के अधिकारियों की नामावली देते हुए कहा है कि "शासन संचालकों में सर्वोच्च अधिकारी तीर्थङ्कर, उनके बाद गणधर, फिर आचार्य, गौणाचार्य, फिर गणि गणावच्छेदक, वृषभ, गीतार्थ मुनि, पंन्यास आदि पदस्थों को क्रमशः शासन संचालन के अधिकार दिए गए हैं।"

लेखकों के उपर्युक्त विवरण में भी अनेक आपत्तिजनक बातें हैं। तीर्थङ्करों को शासन संचालन के सर्वोच्च अधिकारी कहना भ्रान्ति-पूर्ण है। तीर्थङ्कर संचालक नहीं, किन्तु तीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। वे अपने प्रधान शिष्यों को प्रवचन का बीज "उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" यह त्रिपदी सुनाते हैं और शिष्य इससे शब्द विस्तार द्वारा द्वादशाङ्गी की रचना करते हैं और अपने परम गुरु तीर्थङ्कर भगवन्त की आज्ञा पाकर इस प्रवचन अथवा द्वादशाङ्गी रूप तीर्थ का

देश-प्रदेशों में लोक-हितार्थ उपदेश करते हैं। तीर्थङ्कर स्वयं भी धर्म तथा तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया करते हैं और उनके उपदेश से जो वैराग्य प्राप्त कर उनके श्रमण संघ में दाखिल होना चाहते हैं, उन्हें निर्ग्रन्थ श्रमण की प्रव्रज्या देकर श्रमण-श्रमणियों के प्रमुखत्व में श्रमण श्रमणीगण की व्यवस्था शिक्षा करने वाले स्थविरों तथा प्रवर्तिनियों को सुपुर्द करते हैं और वे अभिनव श्रमण-श्रमणियों को ग्रहण, आसेवन नामक दो प्रकार की शिक्षा से ज्ञान तथा आचार में प्रवीण बनाते हैं, यही श्रमण संघ का संचालन है। तीर्थङ्कर इस संचालन में उपदेश प्रदान के अतिरिक्त कोई उत्तरदायित्व नहीं रखते। गणधरों के निर्वाण के बाद उनके उत्तराधिकारी आचार्य इसी क्रम से शासन संचालन करते हैं। श्रमण समुदाय के सामान्य कार्यों में हस्तक्षेप न कर केवल ग्रहण-शिक्षा में अर्थानुयोग प्रदान करते हैं और जैन प्रवचन के ऊपर होने वाले अन्य धर्म-शासकों के आक्षेपों-आक्रमणों का सामना करने का उत्तरदायित्व रखते हैं। इन कार्यों का सुचारु रूप से संचालन हुआ करे, इसके लिए अपने सम्प्रदाय में से योग्य व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न कार्यों पर नियुक्त कर देते हैं। ऊपर कहा गया है कि आचार्य विद्यार्थी साधुओं को अर्थ का अनुयोग मात्र देते हैं। वे सूत्र-पाठ देने के लिए अन्य श्रमण को नियुक्त करते हैं, जो साधुओं को सूत्र पढ़ाता है और उपाध्याय कहलाता है। समुदाय के साधुओं को उनकी योग्यतानुसार कार्यों में नियुक्त करने के लिए एक योग्य बुद्धिमान् साधु नियुक्त होता था, जो गण के साधुओं को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करने और प्रमाद न करने का उपदेश दिया करता था। यह अधिकारी "प्रवर्ती" अथवा "प्रवर्तक" कहलाता था। साधुओं से प्रमादवश होने वाले अपराधों; राग-द्वेष से होने वाले मतभेदों और झगड़ों का निराकरण करने के लिए, एक गीतार्थ समभावी वृद्ध श्रमण नियुक्त किया जाता था, जो श्रमणों को प्रायश्चित-प्रदान और आपसी झगड़ों का न्याय देता था। यह पुरुष "स्थविर" अथवा "रत्नाधिक" नाम से सम्बोधित होता था। गण के साधुओं के गच्छ (टुकड़ियाँ) बनाकर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विहार कराना और टुकड़ियों में से साधुओं को इधर-उधर अन्यान्य टुकड़ियों में जुटाना

इत्यादि कार्यों के लिए एक योग्य श्रमण नियुक्त होता था, जो "गणावच्छेदक" नाम से पहिचाना जाता था।

उपर्युक्त गण-व्यवस्थापक का पाँच पुरुषों की नामावलि के साथ कभी-कभी "गणी" तथा "गणधर" इन दो नामों से भी निर्देश होता है। "गणी" का अर्थ निशीथचूर्णि में "इन्चार्ज अधिकारी" के रूप में किया गया है। आचार्य की अनुपस्थिति में वह "आचार्य" का काम बजाता था और उपाध्याय की अनुपस्थिति में "उपाध्याय" का। इसी से "गणी" शब्द का अर्थ कहीं आचार्य और कहीं उपाध्याय किया गया है। "गणधर" शब्द का तात्पर्य यहां गणावच्छेदक-कृत श्रमणों की टुकड़ियों के नेता गीतार्थ श्रमण से हैं, न कि तीर्थङ्कर-दीक्षित मुख्य शिष्य गणधर से।

उपर्युक्त आगमोक्त गणव्यवस्था का दिग्दर्शन मात्र है। सर्व गणों का सम्मिलित समुदाय संघ कहा गया है। इससे समझना चाहिए कि गणों की व्यवस्था ही संघ-शासन-व्यवस्था थी। संघ सम्बन्धी विशेष कामों के लिए ही संघ समवसरण होता था और उसमें विशेष कामों का खुलासा होता था, बाकी सब श्रमणगण अपने-अपने गणाधिकारियों की शास्त्रीय व्यवस्थानुसार चलते थे। संघ के कार्यों में वृषभ, पन्न्यास आदि को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। वृषभ उस साधु को कहते थे, जो शारीरिक बल वाला और कृतपरिश्रम होने के उपरान्त गीतार्थ होता। समुदाय के साधुओं के लिए वस्त्र-पात्रादि की प्राप्ति कराना और चातुर्मास्य योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करना, ये वृषभ साधु के मुख्य काम होते थे। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गुणों के उपरान्त वृद्धावस्था वाला वृषभ श्रमणियों के बिहार में भी उनका सहायक बना करता था। पंन्यास यह कोई अधिकार-सूचक पद नहीं है, किन्तु व्यक्ति के पाण्डित्य का सूचक पद है। इस पदधारी में जैसी योग्यता होती, वैसे अधिकार पर वह नियुक्त कर लिया जाता था और उस हालत में वह अपने अधिकार-पद से ही सम्बोधित होता था, न कि पन्न्यासपद से।

उपर्युक्त शास्त्रीय संघ-शासन की व्यवस्था का निरूपण पढ़कर विज्ञ पाठकगण अच्छी तरह समझ सकेंगे कि लेखकों का शासन-संचालन

सम्बन्धी कक्षाओं का निरूपण कितना भ्रान्तिजनक है। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि लेखक शासन अथवा प्रवचन का अर्थ तो करते हैं— साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ और संचालकों की कक्षाओं में श्रावक-श्राविका-रूप द्विविध संघ को कोई स्थान ही नहीं देते। इस स्थिति में शासन-संस्था के संचालन में चतुर्विध संघ को अधिकारी मानने का क्या अर्थ होता है, इसका लेखक स्वयं विचार करें।

(५) श्रीसंघ की कार्यपद्धति के आधार तत्त्व :

उपर्युक्त शीर्षक के नीचे लेखकों ने 'पांच व्यवहारों' की चर्चा की है, परन्तु नाम आगम, श्रुत, धारणा और जीत चार लिखे हैं। मालूम होता है, तीसरा 'आज्ञाव्यवहार' उन्हें याद न होगा। इन पांच व्यवहारों को लेखक संघ की व्यवस्था के नियम और संचालन पद्धति के मुख्य तत्त्व मानते हैं।' लेखकों के इस कथन को पढ़कर हमारे मन में यह निश्चय हो गया है कि पाँच व्यवहार किस चिड़िया का नाम है, यह उन्होंने समझा तक नहीं। सुनी सुनायी पंच-व्यवहार की बात को आगे करके संघ की व्यवस्था और उसके संचालन की बातें करने लगे हैं। इन पांच व्यवहारों को सामान्य स्वरूप भी समझ लिया होता तो प्रस्तुत प्रसंग पर इन व्यवहारों का उल्लेख तक नहीं करते, क्योंकि इन व्यवहारों का सम्बन्ध श्रमण-श्रमणियों के प्रायश्चित्त प्रदान के साथ है, अन्य किसी भी व्यवस्था, विधि-विधान या संचालन-पद्धति से नहीं। "केवली, मनःपर्याय-ज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर, दशपूर्वधर तथा नवपूर्वधर" श्रमण-श्रमणियों की दोषापत्तियों का गुरुत्व लघुत्व अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से जानकर उस दोष की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त प्रदान करते थे, उसे "आगमव्यवहार" कहते थे। इसी को "प्रत्यक्ष व्यवहार" भी कहते थे। बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ-सूत्र, पीठिका आदि के आधार से श्रमण-श्रमणियों को जो प्राय-श्चित्त दिया जाता है वह "श्रुतव्यवहार" कहलाता है।

एक प्रायश्चित्तार्थी आचार्य अपने अपराध पदों को सांकेतिक भाषा में लिखकर अपने अगीतार्थ शिष्य द्वारा अन्य श्रुतधर आचार्य से प्राचश्चित्त

मंगवाते थे। तब प्रायश्चित्तदाता श्रुतधर भी सांकेतिक भाषा में ही दोषों का प्रायश्चित्त लिखकर पत्र द्वारा मंगाने वाले आचार्य के पास भेजते हैं। इस रीति से लिए-दिए जाने वाले प्रायश्चित्त-व्यवहार को "आज्ञाव्यवहार" कहते थे। आचार्य अपने शिष्यादि को जिन अपराधों का जो प्रायश्चित्त देते उनको साथ में रहने वाले शिष्य प्रतीच्छकादि याद रखकर अपने शिष्यादि प्रायश्चित्तार्थियों को प्रदान करें तो वह "धारणाव्यवहार" कहलाता है। जिस गच्छ में जो प्रायश्चित्त-विधान-पद्धति प्रचलित हो उसके अनुसार प्रायश्चित्त प्रदान करना उसका नाम "जीत-व्यवहार" है। इस प्रकार से पांच प्रकार के व्यवहारों का सम्बन्ध प्रायश्चित्त प्रदान से है। इन व्यवहारों में से "आगम-व्यवहार" पूर्वधर अधिकारियों के साथ कभी का विच्छिन्न हो चुका है। दूसरा, तीसरा और चौथा व्यवहार भी आजकल बहुत ही कम व्यवहृत होता है। वर्तमान समय में बहुधा "जीत-व्यवहार" प्रचलित है, जिसका यथार्थ रूप में व्यवहार करने वाले मध्यम तथा जघन्य गीतार्थ होते हैं, पर इस प्रकार के गीतार्थ भी अल्प संख्या में पाये जाते हैं। वर्तमान समय में "जीत" शब्द का "कर्त्तव्य" के अर्थ में भी प्रयोग हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु इस जीत का जीत-व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान समय में कतिपय साधु अपनी गुरु-परम्पराओं को "जीत-व्यवहार" के नाम से निभाते हैं। वे आगमिक व्यवहारों से अनभिज्ञ हैं, यही समझना चाहिए।

(६) शासन के प्रतिकूल तत्त्व :

ऊपर के शीर्षक के नीचे मतदानपद्धति को विदेशीय पद्धति कहकर कोसते हैं और जैन शासन के लिए अहितकर मानते हैं। हमारी राय में लेखकों के दिमागों में विदेशीय अनेक बातों के विरुद्ध का जो भूसा भरा हुआ है उसी का यह एक अंश बाहर निकाला है, अन्यथा इस चर्चा का यहां प्रसंग ही क्या था। मतदान-प्रदान की पद्धति विदेशीय नहीं बल्कि भारतीय है। जैन-सूत्रों तथा जैनेतरों के साहित्य में ऐसी अनेक घटनाएँ उपलब्ध होती हैं कि जिनका निर्णय सर्वसम्मति से अथवा बहुमति से किया जाता था। संघसमवसरण, स्नानमह आदि प्रसंगों पर संघहित की

अनेक बातें उपस्थित होती थीं और उन पर वाद-विवाद होकर सर्व-सम्मति से अथवा बहुमति से प्रस्ताव मान्य किये जाते थे। लेखकों ने चुनाव की बात को विदेशियों की कहकर जैन शास्त्रों से अपनी अनभिज्ञता मात्र प्रकट की है।

(७) अनुकम्पा :

संघ के बंधारण की रूपरेखा के १५वें फिकरे में दिए गए "अनुकम्पा" इस शीर्षक के नीचे लेखक लिखते हैं—"जिनेश्वर प्रणीत पाँच प्रकार के दानों में अनुकम्पा का समावेश है।"

ऊपर के अवतरण में लेखक अभय, सुपात्र, अनुकम्पा, उचित और कीर्ति दान इन पाँच दानों को अर्हत्प्रणीत मानते हैं, जो जैन शास्त्र-विरुद्ध है। प्राचीन आगमों, प्रकरणों और विक्रम की दसवीं शताब्दी तक के चरित्रादि ग्रन्थों में केवल तीन दानों का ही प्रतिपादन मिलता है। वे तीन दान १ अभयदान, २ ज्ञानदान, ३ उपष्टम्भदान इन नामों से वर्णित हैं। अनुकम्पा दान का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की "समराइच्चकहा" में मिलता है। उपर्युक्त तीन दानों का सविस्तार प्रतिपादन करने के बाद आचार्य हरिभद्रजी कहते हैं—"अनुकम्पा दान का जिनेश्वरों ने निषेध नहीं किया है" अर्थात् अनुकम्पा दान का न शास्त्र में विधान है, न उसका प्रतिषेध। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आगमों में अनुकम्पादान की चर्चा ही नहीं है। आचार्य हरिभद्रसूरि के उपर्युक्त उल्लेख के बाद लगभग तीन सौ वर्षों के पश्चात् अनुकम्पा-दान को उपर्युक्त तीन दानों के समीप स्थान मिला और उचित तथा कीर्तिदान धार्मिक रूप में कब माने गये इसका तो कोई आधार ही नहीं मिलता। अर्वाचीन औपदेशिक ग्रन्थों में स्थान प्राप्त—

"अभयं सुपत्तदाणं, अणुकम्पा उचिय कित्तिदाणाइं।
दुण्णिहिं मुक्खो भणियो, तिण्णि य भोगाइयं दिंति॥"

इस गाथा में पांच दानों का निरूपण मिलता है, परन्तु यह गाथा किस ग्रन्थ की है, इसका कोई पता नहीं मिलता। इस प्रकार की अर्वाचीन

गाथा के आधार पर पांच दानों को अर्हत्प्रणीत कहना अनभिज्ञता का सूचक है ।

(८) जीवदया :

उसी परिशिष्ट के १६वें फिकरे में लेखकों ने "जीवदया" यह शीर्षक देकर अनुकम्पा से जीवदया को पृथक् किया है। अनुकम्पा-दान के पात्र लेखकों ने मनुष्यों को बताया है; तब जीवदया के पात्र पशु, पंखियों को। लेखकों के इस पृथक्करण का आधार शास्त्र अथवा प्रामाणिक परम्परा तो नहीं है। अतः इसका आधार इनकी कल्पना ही हो सकती है।

दान-क्षेत्रों की संख्या आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने सात होना लिखा है—जिनप्रतिमा, जिनचैत्य; ज्ञान, साधु; साध्वी, श्रावक, श्राविका, ये सात स्थान जैन समाज में सात क्षेत्र के नाम से पहिचाने जाते हैं। बारहवीं शताब्दी के आचार्य जिनचन्द्रसूरिजी ने साधारण, पौषधशाला, जीवदया, इन तीन को बढ़ाकर दानक्षेत्रों को १० बनाया। परन्तु "रूपरेखा" के लेखकों ने तो एक-एक स्थान को अनेक विभागों में बांटकर दान के स्थानक १७ बना दिए। जिन-शासन संस्था के नियमों के शाश्वतपन की बातें करने वाले लेखकों को कोई पूछेगा, कि आपने दानक्षेत्रों की यह लम्बी सूची किस शास्त्र अथवा प्रामाणिक परम्परा के आधार पर बनाई है। हम तो निश्चय रूप से मानते हैं, कि ये सभी लेखकों की फलद्रूप कल्पनाओं के नमूने हैं।

(९) संचालन का अधिकारी :

इस शीर्षक के नीचे के विवेचन में लेखकों ने पंचाशक की दो गाथाएँ दी हैं और उनका स्वाभिमत अपूर्ण अर्थ लिखकर बताया है, कि "इन गुणों से युक्त, श्रद्धावान्, गृहस्थ चैत्यादि कार्य का अधिकारी है।" उक्त गाथाओं में वास्तव में "जिनचैत्य बनाने का अधिकारी कैसा होना चाहिए, इस विषय का आचार्यश्री ने वर्णन दिया है, न कि चैत्य-द्रव्यादि की

व्यवस्था आदि करने वाले के गुणों का।" लेखकों ने गोलमाल बात लिखकर चैत्य-द्रव्यादि धन-सम्पत्ति की व्यवस्था करने वालों को भी इस योग्यता में शामिल करने की चेष्टा की है, परन्तु इस प्रकार करना प्रामाणिकता से विरुद्ध है। पूर्वकाल में न तो धार्मिक क्षेत्रों में इतना खर्च था, न उन क्षेत्रों में आज की तरह लाखों की सम्पत्ति का संचय ही किया जाता था। चैत्य की प्रतिष्ठा के समय चैत्यकारक स्वयं तथा उसके इष्टमित्रादि अपनी तरफ से अमुक द्रव्य इकट्ठा करके आवश्यकता के समय चैत्य में खर्च करने के लिए एक छोटा फण्ड कायम कर लेते थे, जो "नीवि, मूलधन अथवा समुद्रक" इन नामों से व्यवहृत होता था। इस समुद्रक का धन चैत्य के रिपेयरिङ्ग, जीर्णोद्धार अथवा देश में विप्लव होने पर गाँव छोड़कर चले जाने के समय वेतन से पूजक को रखकर प्रतिमा पुजाने के काम में खर्च किया जाता था, इसलिए उसकी रक्षा की विशेष चिन्ता ही नहीं होती थी। धन को इकट्ठा करने वाला गृहस्थ ही बहुधा उस समुद्रक को सम्भाले रखता था अथवा "गोष्ठिक मण्डल" के हवाले कर देता था, जिससे उसके नाश की आशंका ही नहीं रहती और न अमुक योग्यता वाले मनुष्य की खोज करनी पड़ती।

जैन संघ के बंधारण की रूपरेखा "लिखने वाले लेखक युगल में से एक लेखक की इच्छा इस "रूपरेखा" के सम्बन्ध में मेरी सम्मति जानने की है। यह बात जानने के बाद मैंने "बंधारण की रूपरेखा" की समीक्षा के रूप में उपर्युक्त छोटा-सा विवरण लिखा है, जिसके अन्तर्गत जैन संघ के मौलिक नियमों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में वर्तमान जैन संघ की कतिपय रूढ़ियों को लक्ष्य में लेकर लेखकों ने यह रूपरेखा खींची है, जो किसी भी समय के जैन संघ की व्यवस्था के लिये उपयोगी नहीं है। जैन-संघ की व्यवस्था के लिये इस प्रकार की अगीतार्थ, अल्पश्रुत साधुओं और भिन्न-भिन्न बाड़ों में रहने वाले गृहस्थों से बनी हुई इस प्रकार की शासन-संस्था कभी सफल नहीं हो सकती। मेरा स्पष्ट मत तो यह है कि यदि जैन-संघ को दृढ़बल बनाना है तो श्रमण-श्रमणियों को गृहस्थों का अतिपरिचय और अतिभक्ति का मोह छोड़कर श्रमण-श्रमणी

रूप द्विविध संघ को संघटित करना चाहिए और श्रमणधर्म के विरुद्ध जो-जो आचार-विचार प्रवृत्तियां उनमें घुस गई हैं उनका परिमार्जन करना चाहिए। इसी प्रकार श्रावक-श्राविकात्मक द्विविध संघ को भी गच्छ-मतों की बाड़ा-बन्दियों से मुक्त होकर जैन-संघ के एक अंग रूप से अपना संघटन करना चाहिए। इस प्रकार संघ के दो विभाग अपने-अपने कर्त्तव्य की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे और गृहस्थवर्ग साधुओं के कार्य में हस्तक्षेप न करते हुए अपने कार्यों को बजाते हुए जैन-शासन-संस्था की उन्नति कर सकेंगे, इसमें कोई शक नहीं है ! तथास्तु।

卐 卐

: २५ :

बंधारणीय शिस्त के हिमायतिओं को

ले० : पं० कल्याणविजय गणि

ता० ११-७-६१ के "हितमित-पथ्यं सत्यम्" नामक एक मासिक पाने में "महत्त्वनी नोंधो" इस शीर्षक के नीचे उक्त पाने के सम्पादक अरविन्द अेम० पारख ने पण्डित बेचरदासजी दोसी ने "कल्याण-कलिका" की प्रस्तावना के आधार पर कुछ समय पहले "जैन" पत्र में एक लेख प्रकाशित कराया था, उस लेख को पढ़कर शासनसंस्था के अनुशासन की हिमायत करते हुए सम्पादक महोदय ने हमें सलाह देने का साहस किया है। जो कि उन्होंने "कल्याण-कलिका" को अथवा उसकी प्रस्तावना को पढ़ा नहीं है, न हमारी अन्य कतियों को ही पढ़कर हमारे विचारों से परिचित हुए हैं। केवल "जिन-पूजा-पद्धति" को ही पढ़ा हो इतना उनके लेख से ज्ञात होता है।

सम्पादक की टिप्पणी का सार यह है कि 'पंन्यासजी को ऐसी प्रस्तावना लिखने के पूर्व शासन-संस्था के अनुशासन के खातिर इस विषय के ज्ञाता पुरुषों से परामर्श करके ऐसी कोई प्रामाणिक प्रस्तावना लिखनी चाहिए थी।'

श्री पारख को हम पूछना चाहते हैं कि किसी भी शास्त्रविषयक लेख के लिखने के पहले उस विषय के ज्ञाताओं से सलाह लेना हमारे लिए ही जरूरी है अथवा अन्य लेखकों के लिए भी? यदि हमारे लिए ही उनका यह मार्ग-दर्शन है, तो इसका कोई अर्थ ही नहीं। सम्पादक ने हमारा कोई ग्रन्थ पढ़ा नहीं, हमारे विचारों से परिचित नहीं और हमको हित सलाह देने को तत्पर होना, इसका हम कोई अर्थ नहीं समझते। हमारी "जिन-

पूजा-पद्धति'' के सम्बन्ध में विद्वान् साधुओं ने बहुतेरा ऊहापोह किया, फिर भी वे उस पुस्तक का एक शब्द भी अप्रामाणिक ठहरा नहीं सके। यह सब जानते हुए भी सम्पादक महाशय "जिन-पूजा-पद्धति" को भयभीत दृष्टि से क्यों देखते हैं, यह बात हमारी समझ में नहीं आती।

(१) १७वीं शताब्दी में मूर्तिपूजक जैन-गच्छों में कलहाग्नि भड़काने वाले उपाध्याय श्री धर्मसागरजी ने "सर्वज्ञशतक" नामक ग्रन्थ बनाकर सभी जैन-गच्छों को उत्तेजित किया। इतना ही नहीं परन्तु कई ऐसी शास्त्रविरुद्ध बातें लिखीं कि जिनसे उनके गुरु आचार्य भी बहुत नाराज हुए और उन्हें अपने गच्छ से बाहर उद्घोषित किया। इस कड़ी शिक्षा के परिणामस्वरूप इनकी आँखें खुली और गुरु से माफी ही नहीं मांगी बल्कि "सर्वज्ञ-शतक" का संशोधन किये विना प्रचार न करने की प्रतिज्ञा की। वही "सर्वज्ञ-शतक" ग्रन्थ थोड़े वर्ष के पहले एक साधु द्वारा छपकर प्रकाशित हुआ है। जिन जैनशास्त्र-विरुद्ध बातों की प्ररूपणा के अपराध में उसके कर्ता उपाध्याय श्री धर्मसागरजी गच्छ से बाहर हुए थे, वे सभी विरुद्ध प्ररूपणाएँ मुद्रित सर्वज्ञ शतक पुस्तक में आज भी विद्यमान हैं। क्या श्री पारख तथा इनके मुरब्बी ज्ञाता-पुरुष इस विषय में उक्त पुस्तक के प्रकाशक मुनिजी को शासन-संस्था के अनुशासन की सलाह देंगे ?

(२) उक्त उपाध्याय श्री धर्मसागरजी के शिष्य श्री पद्मसागरजी ने दिगम्बराचार्य श्री अमितगति की "धर्मपरीक्षा" में से १५०-२०० श्लोक हटाकर उसे अपनी कृति के रूप में व्यवस्थित किया था और उसे उसी रूप में और उसी नाम से कुछ वर्षों पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक पुस्तक प्रकाशक संस्था ने छपवाकर प्रकाशित भी कर दिया है। वास्तव में पद्मसागर की यह "धर्मपरीक्षा" आज भी दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है। उसमें अनेक दिगम्बरीय मान्यताएँ ज्यों की त्यों विद्यमान हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा को मान्य नहीं हैं। क्या श्री पारख तथा इनके शासन-संस्था के अनुशासनवादियों ने इस विषय पर कभी विचार किया है ?

(३) आज के यांत्रिक युग में प्रतिवर्ष कितनी ही संस्कृत, प्राकृत तथा लोक-भाषा की पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। पिछले सौ वर्षों में

ऐसी सैकड़ों पुस्तकें छपकर जैनों के हाथ में गई हैं। उनमें रही हुई अल्पश्रुत-कर्ताओं की भूलें, अल्पज्ञ और अनुभवहीन सम्पादकों की भूलें और प्रेस की भूलें गिनकर इकट्ठी कर दी जायें तो उनकी संख्या हजारों के ऊपर चली जायेगी। इन साहित्यिक भूलों के परिणामस्वरूप जैन संस्कृति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। इसका शासन-संस्था के अनुशासनवादियों ने कभी विचार किया है ?

(४) उपर्युक्त साहित्यिक भूलों से भी अधिक भयङ्कर घटना तो यह घटी है कि हमारे श्वेताम्बर साहित्य में कुछ ऐसे ग्रन्थ चल पड़े हैं, जो जैन संस्कृति के लिए बहुत ही अहितकर हैं। इनमें कुछ ग्रन्थ तो कल्पित उपन्यासों की तरह गढ़े हुए हैं, तब कतिपय ग्रन्थ अर्वाचीन और मध्य-कालीन शिथिलाचारी साधुओं को कृतियां होने पर भी प्राचीन तथा प्राचीनतर प्रामाणिक आचार्यों के नाम पर चढ़े हुए हैं। ऐसे अनेक ग्रन्थों का हमने पता लगाया है, इन कृत्रिम ग्रन्थों का प्रभाव इतना गहरा पड़ा है कि विक्रम की १०वीं शती से २०वीं शती तक की जैन संस्कृति का कायापलट-सा हो गया है, जिससे आगमिक और अशठगीतार्थाचरित मार्गों और शिथिलाचारी शठगीतार्थों तथा अल्पज्ञ साधुओं द्वारा प्रचारित परम्पराओं का पृथक्करण करना कठिन हो गया है। क्या शासन-संस्था के अनुशासनवादी और श्री पारख इस अन्धेरगर्दी पर विचार कर सकते है ?

श्री पारख के कथन का ध्वनि हमें तो यही मालूम हुआ कि 'शास्त्र का संशोधन भले ही हो पर जो परम्पराएँ आज तक चली आ रही हैं, उनका खण्डन नहीं होना चाहिए।' हम कहना चाहते हैं कि श्री पारख तथा इनके शासन-संस्था के अनुशासनवादी "जैन संस्कृति किसे कहते हैं यह पहले समझ लेते।" "हम स्वयं तो जैन-आगम और अशठ-गीतार्था-चरित मार्गों में व्यवस्थित धार्मिक परम्परा को हो जैन-संस्कृति समझते हैं और इसका रक्षण करना जैन मात्र का कर्त्तव्य मानते हैं। इस संस्कृति का उच्छेद करने वाला जैन नहीं, अजैन कहलाने योग्य है। यदि अना-गमिक, अगीतार्थ-शठाचरित परम्पराओं तथा अल्पज्ञ साधुओं, यतियों द्वारा

प्रचालित रूढ़ियों तथा निर्मूलक गुरु-परम्पराओं को जैन-संस्कृति में सम्मिलित किया जाय तो धीरे-धीरे खरी संस्कृति इन कुपरम्पराओं के नीचे लुप्त ही हो जायेगी, जिस प्रकार वस्त्र पर लगे हुए मैल के स्तर क्षार और निर्मल जल के द्वारा दूर हटते हैं और वस्त्र शुद्ध होता है, इसी प्रकार आगमिक तथा गीतार्थाचरित मार्गों में घुसी हुई निरर्थक परम्पराओं को दूर हटाने से ही जैन-संस्कृति अपने विशुद्ध स्वरूप में रह सकती है।" हमारी इस मान्यता के साथ श्री पारख तथा इनके अनुशासनवादी मुरब्बी सहमत नहीं हो सकते हैं तो उनकी मर्जी की बात है। कोई भी मनुष्य अपनी शुद्ध बुद्धि से अपने सच्चे मन्तव्य पर दृढ़ रहे और उसका प्रतिपादन करे, उसे बुरा कहना सभ्य मनुष्य का काम नहीं।

अनागमिक और शठ-अगीतार्थाचरित परम्पराओं को खुल्ला न पाड़ने से आज जैन-धर्म, इसका उपदेश कई बातों में आगमिक न रहकर पौराणिक बन गया है। यही नहीं पर कई मनस्वी मुनियों ने तो अपनी पौराणिक मान्यताओं को प्रामाणिक साबित करने के लिए नकली ग्रन्थ तक बना डाले हैं, जो "कृत्रिम-कृतियां" इस शीर्षक के नीचे दिए हुए वर्णनों से पाठकगण समझ सकेंगे।

卐 卐

: २६ :

तिथि-चर्चा पर सिंहावलोकन

❖

(१)

१. सांवत्सरिक पर्व की आराधना में मतभेद खड़ा करने वाले श्री सागरानन्दसूरिजी थे, यह मैं ही नहीं लगभग सारा जैन समाज मानता है। सं० १९५२ तथा १९८९ में सागरजी और उनके शिष्यों ने भा० शु० ३ का सांवत्सरिक पर्व किया था, यह सब जानते हैं।

सं० १९९३ में और १९९४ में (गुजराती १९९२-१९९३ में) भाद्रपद शुक्ल ५ की वृद्धि में सागरजी अकेले ही जुदा पड़ते। परन्तु इस समय इनको श्री नेमिसूरिजी, श्री वल्लभसूरिजी, श्री नीतिसूरिजी आदि सहायक मिल जाने से श्री सागरजी का साथ बढ़ गया। तीन-तीन बार पंचमी के क्षय में चतुर्थी को आगे-पीछे न करने वाले हमारे पूज्य मुरब्बियों ने पंचमी की वृद्धि में तृतीया अथवा चतुर्थी की वृद्धि करके तपागच्छ के श्रमण-संघ को दो विभागों में बांट लिया। यह चक्र कैसे फिरा इसका भी इतिहास है, परन्तु गत वस्तु को आज ताजा करने की आवश्यकता नहीं। १९९४ के वर्ष में यह चर्चा उग्र हो उठी, आमने-सामने शास्त्रार्थ की चेलेंजें दी गईं। किसी भी समुदाय के प्रतिनिधित्व के विना ही श्री सागरानन्दसूरिजी अपनी जवाबदारी से शास्त्रार्थ के लिये तैयार हुए। श्री विजयसिद्धिसूरिजी तथा श्री विजयप्रेमसूरिजी की तरफ से तिथि-चर्चा करने के अधिकार-पत्र लिखकर मुझे सुपुर्द किये गये थे। इतना होने पर भी उस प्रसंग पर प्रचार के सिवा अधिक कुछ नहीं हुआ।

२. चातुर्मास्य के बाद हमने अहमदाबाद से मारवाड़ की तरफ विहार किया। तिथि-चर्चा वर्षों तक चलती रही। मारवाड़ में जाने के

बाद हम इस प्रकरण से सर्वथा लक्ष्य खींचकर अन्य कार्यों में व्यस्त हो गये थे। इतने में पालीताना में श्री सागरानन्दसूरिजी तथा श्री रामचन्द्र-सूरिजी के बीच सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई द्वारा तिथिविषयक शास्त्रार्थ करके इस चर्चा का अन्त लाने का निर्णय हुआ। निर्णायक पंच श्री पी० एल. वैद्य की सेठ द्वारा नियुक्ति हुई। वादी की योग्यता से श्री सागरानन्द-सूरिजी ने श्री वैद्य को अपना वक्तव्य सुपुर्द किया। निर्णायक पंच ने वादी के वक्तव्य के उत्तर के लिए उसकी कॉपी श्री रामचन्द्रसूरिजी को दी। श्री रामचन्द्रसूरिजी ने उक्त वक्तव्य अहमदाबाद वाले जौहरी बापालाल चूनीलाल तथा श्री भगवानजी कपासी को देकर पहिली ट्रेन से हमारे पास भेजा। दोनों गृहस्थ सुमेरपुर मे जाने-आने का इक्का लेकर हमारे पास गुड़ा-बालोतरा (मारवाड़) आये। संध्या समय हो गया था, हम प्रति-क्रमण करने बैठ गये थे। प्रतिक्रमण हो जाने पर वे धर्मशाला में आये, सर्व हकीकत कहकर सागरानन्दसूरिजी का वक्तव्य हमारे हाथ में देकर बोले—"साहिब! अभी का अभी आप इसे पढ लें और मुद्दों पर विचार कर प्रातः समय इनके लिखित उत्तर हमें देने की कृपा करें। हमें बहुत उतावल है, इक्का वाला ठहरेगा नहीं।" हमने कहा—हम दीपक के प्रकाश में पढ़ते नहीं हैं और ऐसे गम्भीर मामलों में पूर्ण विचार किये विना कुछ भी लिखना योग्य नहीं है। इस पर वे कुछ ठण्डे पड़े और परदे की ओट में दीपक रखकर सागरजी का वक्तव्य पढ़ सुनाया। हमने कहा—"इसका उत्तर कल चार बजे तक तैयार कर देंगे।" थोड़ा समय बैठकर वे सोने को चले गये।

प्रातःकालीन आवश्यक कार्यों से निपट कर हमने सागरजी महाराज का वक्तव्य ध्यान से पढ़ा और एक एक मुद्दे के उत्तर मन में निश्चित किये। साधन-सामग्री प्रस्तुत करके लिखने की तैयारी करते पहर दिन चढ़ गया। आहार-पानी करके ११॥ बजे ऊपर एकान्त में बैठकर सागरा-नन्दसूरिजी के पूरे वक्तव्य के उत्तर १४ पृष्ठों में पूरे किये। एक साथ लगभग ४॥ घण्टों तक लिखने से हाथ ने भी उत्तर दे दिया था। शाम को ४॥ बजे दोनों को बुलाकर कहा—जवाबदावा का मसविदा तैयार है।

अब कल का दिन ठहरो तो इसकी फेयर कॉपी लिख देंगे। परन्तु उनके लिये तो एक-एक घड़ी एक मास हो गया था, कहने लगे—"साहब ! बड़ा अर्जेन्ट काम है, अब तो हमको जल्दी से जल्दी रवाना करो इसी में लाभ है।" हमने रफ कॉपी और ४ हमारे पट्टक इनको देकर कहा— "देखो ! ये हमारे ४ पट्टक और जवाबदावे की यह हमारे हाथ की रफ कॉपी वहाँ का काम निपटने के बाद हमको वापिस भेजना होगा। बापालाल ने कबूल किया और सांझ का भोजन कर वे गुड़ा-बालोतरा से एरनपुरा रोड स्टेशन के लिए रवाना हुए।

३. हम मारवाड़ में थे तब "जैनविकास" के एक मासिक अङ्क में "श्री आनन्दविमलसूरि" के नाम पर चढ़े हुए एक नकली पन्ने का छपा हुआ ब्लोक देखा। उस पन्ने में श्री आनन्दविमलसूरि के समय में श्रावण शुदि १५ की वृद्धि में त्रयोदशी की वृद्धि की थी ऐसा उल्लेख था, जिस पर से ब्लोक बनाया था। वह पन्ना लिपि की दृष्टि से बीसवीं शती का लिखा हुआ था और भाषा तथा इतिहास की दृष्टि से भी वह स्पष्टतया कल्पित था। यह सब होते हुए भी गणित की कसौटी पर चढ़ा कर जांच करने के लिये हमने उसे "जोधपुर आर्कियोंलोजिकल सुप्रिन्टेण्डेन्ट की ऑफिस में" भेजा। गणितीय तपास होने के बाद वहां से रिपोर्ट मिली कि जिस वर्ष में श्रावण पूर्णिमा की वृद्धि होना इसमें लिखा है उस वर्ष में वास्तव में श्रावणी पूर्णिमा की वृद्धि नहीं हुई थी और न उस दिन तथा उसके पूर्व तथा अगले दिन भी मंगलवार था।" यह रिपोर्ट भी श्री रामचन्द्रसूरि पर भेजी गई थी। इसी असें के दर्मियान श्री सागरानन्दसूरिजी की तरफ से "शास्त्रीय पुरावा संग्रह" इस नाम से कतिपय कूट पन्ने छपकर प्रकाशित हुए थे। हमने इन सब पन्नों को ध्यान से पढ़ा और वे बहुधा कूट साबित हुए थे और लगभग ८० पृष्ठों में उन सब का हमने खण्डन लिखकर तैयार किया था और वह खण्डन भी श्री रामचन्द्रसूरिजी के पास भेज दिया था।

वादि-प्रतिवादियों के वक्तव्यों पर गम्भीर विचार करने के बाद पंच श्री वैद्य ने तिथि-मतभेद विषयक फैसला दिया था जिसमें हमारे पक्ष की

मान्यता को सत्य ठहराया था। परन्तु इस फैसले को सागरानन्दसूरिजी ने नामन्जूर किया। सागरजी के नामन्जूर करने पर उनकी पार्टी के अग्रगण्य आचार्य महाराजों ने कहा—"जिन्होंने शास्त्रार्थ किया है वे जानें। हमारा इस निर्णय के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।"

पंच का निर्णय छपकर बाहर पड़ने पर हमने श्री रामचन्द्रसूरिजी का उत्तर ध्यान से पढ़ा तो ज्ञात हुआ कि हमारे लेख का एक भी शब्द उन्होंने छोड़ा नहीं था। केवल हमारे लेख को उन्होंने अपनी भाषा में परिवर्तित किया था। श्री रामचन्द्रसूरिजी ने अपने उत्तर में "हमारे पट्टक को श्री दानसूरि ज्ञान-मंदिर का पट्टक लिखा था।" इसका कारण शायद यह होगा कि "इस विषय में श्री रामचन्द्रसूरिजी ने कल्याणविजय की सहायता ली है ऐसी किसी को शंका न हो।" कुछ भी हो, परन्तु हमारे पक्ष की सत्यता साबित हुई इतना ही हमें तो संतोषप्रद हुआ।

४. जहां तक हमें स्मरण है १९९६ की साल का चातुर्मास्य बदला उस समय हमारे आराध्य आचार्यप्रवर श्री सिद्धिसूरीश्वरजी के श्रीमुख से इनके नादान भक्तों ने जाहिर करवाया था कि "वह पन्ना आनन्दविमल-सूरिजी का है ऐसा कोई भी साबित कर देगा तो हम उसके अनुसार चलने को तैयार हैं।" जिस पन्ने की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं उसी पन्ने के सम्बन्ध में पूज्य आचार्य की उक्त जाहिरात थी और बिल्कुल सच्ची बात थी। परन्तु उसे सच्चो करके बताने वाला उस समय उनके पास कोई मनुष्य न था। इस अवसर का लाभ लेके श्री हर्षसूरिजी के शिष्य कल्याण-सूरि उछल पड़े और "वह पन्ना आनन्दविमलसूरि का ही है यह सिद्ध करने को मैं तैयार हूं" यह नोटिस पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ।

कल्याणसूरि पर उतनी नाराजगी नहीं हुई, जितनी कि हमारे पक्ष के उन नादान मित्रों पर हुई। जब यह पाना नकली है यह वस्तु सिद्ध करने की किसी में शक्ति न थी, तब इस विषय में पूज्य वृद्ध आचार्य को आगे करने की क्या जरूरत थी? परन्तु हो क्या सकता था, हम दो सौ माईल के अन्तर पर थे। मन मसोस कर रह गये और वृद्ध आचार्य को मौन

करना पड़ा। इस घटना वाले वर्ष में श्री विजयनीतिसूरिजी महाराज का चातुर्मास्य मारवाड़ में वांकली में था। उनकी तबियत नादुरुस्त थी और चातुर्मास्य के बाद ज्यादा नादुरुस्त होने के कारण से श्री कल्याणसूरि भी मारवाड़ में आये थे। ये समाचार हम को भीनमाल तरफ के विहार में मिले। कल्याणसूरि की सिद्धिसूरिजी को दी हुई नोटिस को मैं भूला नहीं था, तुरन्त श्री नीतिसूरिजी महाराज पर पत्र लिखा और सूचित किया कि "आपकी तबीयत अस्वस्थ सुनकर बड़ा दुःख हुआ। अब तबीयत कैसी है, कृपया सूचित करायें। आप श्रीजी की तबीयत अस्वस्थ रहा करती है, हमारे पूज्य आचार्य श्री सिद्धिसूरिजी भी तटद्रुम है। आप दोनों पूज्य पुरुषों की उपस्थिति में तिथि-चर्चा का कुछ निपटारा हो जाता तो अपने गच्छ में से यह मतभेदजन्य जघन्य क्लेश हमेशा के लिए शांत हो जाता।"

हमारे इस पत्र के उत्तर में श्री नीतिसूरिजी महाराज की तरफ से श्री कल्याणसूरि द्वारा लिखा हुआ पत्र हमें नीचे लिखे भाव का मिला—

"तुम और तुम्हारा पक्ष किस रीति से तिथि-मतभेद का निपटारा करना चाहते हो वह लिखना, ताकि उस पर विचार किया जायेगा।"

हमने उक्त पत्र के उत्तर में लिखा—"दूसरे सभी प्रमाण पुरावों को एक तरफ रखकर "जैन विकास" में जिसका ब्लोक छपाया है उसी श्री आनन्दविमलसूरिजी के पन्ने की परीक्षा कराई जाय और यह ब्लोक वाला पन्ना सच्चा साबित हो जायगा तो हम तथा हमारा पक्ष सब मंजूर कर लेंगे। पाने में लिखे मुजब दो पूर्णिमाओं की दो त्रयोदशी करेंगे और यदि पन्ना जाली ठहरेगा तो आपको प्रचलित मान्यता को छोड़कर हमारी मान्यता को स्वीकार करना होगा।"

हमारे उक्त पत्र का श्री नीतिसूरिजी या अहमदाबाद में नोटिस देकर पराक्रम बताने वाले श्री कल्याणसूरि की तरफ से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। हमको जरा निराशा हुई और साथ-साथ संतोष भी हुआ कि सिद्धिसूरिजी को नोटिस देने वाले कितने गहरे पानी में हैं।

५. सं० २०१२ की बात है, हमको अधिकार-पत्र देने वाले पक्ष के साधुओं की एक पार्टी की तरफ से हमारे ऊपर भलामन पत्र आया कि "प्रतिपक्ष यदि समाधान की भावना वाला हो तो अपने पक्ष को भी समाधान का कोई मार्ग सोच रखना जरूरी है।"

ऐसे पत्र लिखने वालों को हमारे मूल उद्देश्य की खबर न थी, इसीलिये वे हमको समाधान के लिए अनुकूल बनाते थे, अन्यथा हमारा तो मूल से उद्देश्य यही था कि जिस तिथि-क्षय-वृद्धि-विषयक भूल के परिणाम-स्वरूप वार्षिक पर्व तक भूल पहुँची है उस मूल भूल को खुल्ली पाड़ने से ही सांवत्सरिक पर्वविषयक भूल का सुधारा हो सकेगा। पिछले १०० वर्ष से देवसूरि गच्छ के यतियों और श्रीपूज्यों ने पूर्णिमा के क्षय-वृद्धि में त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करने का मार्ग निकाला है और इस मार्ग को प्रामाणिक मानकर ही पंचमी के क्षय-वृद्धि में तृतीया का क्षय-वृद्धि करने की कल्पना मूर्तिमती हुई है, इसलिए मूल भूल को पकड़ने से ही वार्षिक पर्व में नयी घुसी हुई भूल सुधर सकेगी और जब इस विषय की चर्चा निपटारे की परिस्थिति में आयेगी तब यदि १०० वर्षों की भूल को चलाने के बदले में सांवत्सरिक भूल सुधरती होगी तो उन पुरानी भूलों को चलाने की हम आनाकानी नहीं करेंगे। १९९३–९४ में हमने इस वस्तु को समझा कर ही अपने पक्ष को चर्चा के मोर्चे पर खड़ा किया था।

६. १९९४ की साल में श्री विजयनीतिसूरिजी महाराज अहमदाबाद चातुर्मास्यार्थ आये तब नगर-प्रवेश के दिन आप विद्याशाला में आकर पूज्य विजयसिद्धिसूरिजी को वन्दन करके आगे गये थे। उस समय के उनके हृदयोद्गारों को सुनने से मुझे नवाई लगी, उन्होंने वन्दन करने के बाद कहा—

"मेरे पर आपका बड़ा उपकार है, मैं इनके नाम की नित्य माला गिनता हूँ।"

सिद्धिसूरि की विरोधी पार्टी को दृढ़ बनाने के लिए पाटन का नियत चातुर्मास्य रद्द करके शिष्यपरिवार के साथ अहमदाबाद आने वाले

आचार्य के उक्त उद्गार को सुनके मुझे आश्चर्य हुआ और उनके जाने के बाद पूज्य बावजी महाराज को इस भावुकता का कारण पूछा और उत्तर में बापजी महाराज ने इस विषय का इतिहास सुनाया।

श्री नीतिसूरिजी की पूज्य बापजी की तरफ की सद्भावना जानने के बाद मुझे लगा कि यदि श्री नीतिसूरिजी महाराज और हमारे बीच कुछ समझौता हो जाय तो अहमदाबाद में तो प्राय: तिथि-विषयक समाधान हो जाय। ऐसा विचार करके मैंने पूज्य आचार्य महाराज की सलाह ली तो आपने कहा—नीतिसूरि का अपनी तरफ सद्भाव है इसमें शक नहीं, पर तिथि-चर्चा के विषय में ये कुछ कर नहीं सकेंगे। मुझे नहीं लगता कि इनके शिष्य इनको कुछ भी करने दें। मैंने कहा—'आपकी आज्ञा हो तो मैं इनको मिलूं? यदि कुछ होगा तो ठीक अन्यथा अपना कुछ जाता तो नहीं।' पूज्य आचार्य श्रीजी ने मुझे लुहार की पोल में श्री नीतिसूरिजी के पास जाने की आज्ञा दी। मैंने पूछा—किस प्रकार का समाधान आपको स्वीकार्य होगा? उत्तर मिला—"तुमको जो योग्य लगे वैसा करना" मैंने कहा—नीतिसूरिजी दूसरे पंचांग के आधार से भाद्रपद सुदि ६ की वृद्धि मानकर बुधवार को सांवत्सरी करने का कबूल करें तो अपने कबूल करना या नहीं? आपने कहा—"अपने दो पंचमियां मानें और वे दो षष्ठी मानें इसमें कुछ फरक नहीं पड़ता, अपने तो औदयिक चतुर्थी और बुधवार आना चाहिए।" पूज्य आचार्य के इस खुलासा के बाद मैंने एक दूसरा प्रश्न पूछा—यदि श्री नीतिसूरिजी पूर्णिमा की क्षय-वृद्धि में त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करवाने की अपने पास स्वीकृति मांगें तो अपने क्या करना? वैसी स्वीकृति देकर भी समाधान करना या आ जाना? पूज्य आचार्य देव ने कहा—"यदि सांवत्सरिक पर्व के सम्बन्ध में एकमत्य हो जाता हो तो दूसरे सामान्य मतभेदों को महत्त्व न देना चाहिए।"

पूज्य गुरुदेव के पास ऊपर लिखित बातों का खुलासा लेकर तीसरे दिन मैं लुहार की पोल विराजते श्री विजयनीतिसूरिजी के पास गया। वे धर्मशाला के पिछले भाग में अकेले बैठे थे। वन्दनादि करके

मैं भी बैठ गया और प्रसंग आते पर्युषणाराधन के सम्बन्ध में बात निकाली। आसपास की बहुत-सी अन्य बातें भी हुईं। अन्त में मैंने १९८९ की साल में उनकी तरफ से छपकर बाहर पड़ी हुई एक पुस्तिका की तरफ उनका ध्यान खींचकर कहा—"नवासी में आपने भाद्रपद शुदि ५ का क्षय माना था तो इस साल में भाद्रपद शुदि ५ की वृद्धि मानने में क्या आपत्ति है ?

श्री नीतिसूरि ने कहा—"१९८९ में हमने भा० शु० ५ का क्षय नहीं माना था, किन्तु दूसरे पंचांग के आधार से भाद्रपद शु० ६ का क्षय माना था।"

मैंने कहा—"भले ही आपने ६ का क्षय किया होगा तो इस वर्ष में भी अन्य पंचांगों में ६ की वृद्धि भी है। वैसे आप भी उन पंचांगों के आधार से ६ की वृद्धि मानकर चतुर्थी के दिन पर्व करें, इसमें हमको कोई आपत्ति नहीं।"

सूरिजी ने विचार करके कहा—"हाँ ऐसा करें तब तो बात बैठ सकती है।"

मैंने कहा—आपको जिस प्रकार ठीक लगे वही कहिये, ताकि मैं पूज्य श्री सिद्धिसूरिजी महाराज को सूचित करूँ।"

सूरिजी ने कहा—कल्याणविजयजी ! ६ की वृद्धि करके चतुर्थी कायम रखने की बात ही हमको समाधानकारक लगती है। पर इसका निश्चित उत्तर मैं आज नहीं दे सकता।"

मैंने पूछा—"निश्चित उत्तर के लिए मैं कब आऊँ ?"

श्री नीतिसूरिजी ने कहा—"निश्चित उत्तर मैं परसों दे सकूँगा।"

मैं खड़ा हुआ और बोला—"तब मैं परसों आऊँगा" कहकर मत्थएण वंदामि कर विद्याशाला पहुँचा। पूज्य आचार्य श्रीजी को सब वृत्तान्त कहा। पूज्य बापजी ने कहा—"हमको कुछ होने की आशा नहीं लगती,

नीतिसूरि के शिष्य उनको रास्ते चढ़ने नहीं देंगे। सचमुच ही वृद्ध आचार्य श्री की वाणी सच्ची हुई। तीसरे दिन मैं लुहार की पोल के उपाश्रय में श्री नीतिसूरिजी के पास गया, पर इस समय उस भले आचार्य के मुख पर प्रसन्नता नहीं थी।

वन्दनादि अनन्तर पूछा—"साहिबजी ! कुछ निर्णय हुआ ?" उत्तर मिला "निर्णय जो होना था वह गतवर्ष हो गया था। अब कोई नया निर्णय होने के संयोग ज्ञात नहीं होते।" ये अन्तिम शब्द उनके मुख से निकले तब मुझे कुछ ग्लानि-सूचक ध्वनि लगी। मैंने कहा—इसमें निराशा जैसी कोई वस्तु न होनी चाहिए। जो भावी होता है, वह होकर ही रहता है। मैं क्षणभर रुका फिर विदा हुआ। चर्चा के सिंहावलोकन में दी जा सकें ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, परन्तु उन सर्व का संग्रह कर अवलोकन को विस्तृत करना बेकार है। जो महत्त्वपूर्ण और अद्यावधि अप्रकाशित बातें थीं उनमें से कतिपय आवश्यक बातों का ऊपर निर्देश कर दिया है।

हमारा उद्देश्य तब और अब

(२)

१. सं० १६०० के आसपास में देवसूरि गच्छ के श्रीपूज्यो और यतियों ने जो तिथि-विषयक परम्पराएँ प्रचलित की थी उनको तपागच्छ पालता था। पूर्णिमा के क्षय-वृद्धि प्रसंग में त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करने की रीति वास्तव में गलत थी तथापि श्रीपूज्य और यतियों के प्राबल्य-काल में प्रचलित हुई कतिपय रीतियों को पालने के लिए हमारी संविग्न शाखा को भी बाध्य होना पडा था और एक बार कोई भी वस्तु व्यवहार में प्रविष्ट होने के बाद वह खरी है या खोटी इसकी कोई परीक्षा नहीं करता। हमारे प्रगुरुओं, गुरुओं और हमने किसी भी परम्परा को एक रीति रूढ़ि के रूप में भी पालन किया कि वह "गीतार्थाचरण" हो गई। यह तिथि-विषयक रूढ़ मान्यता खोटी होने का सर्वप्रथम श्री विजयदान-सूरिजी महाराज ने जाहिर किया था, परन्तु उन्होंने भी इस चीले को छोड़ने का साहस नहीं किया। कारण कि एकरूढ़ और सर्वमान्य बने

हुए गलत चीले का बदलना भी विचारणीय बन जाता है। जब तक समाज गलत चीज को भी गलत के रूप में न समझ ले तब तक वह उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। परन्तु असत्य प्रवृत्ति को सदा उसी रूप में चलाते जाना यह भी कभी हानिकारक हो जाता है।

सं० १९९३ के पर्युषणा-प्रसंग पर अनेक आचार्य अपनी चलती परम्परा से हटकर तृतीया की वृद्धिकारक श्री सागरजी की मान्यता की तरफ झुके। इसका यही कारण था कि प्राचीन भूल का परिमार्जन किसी ने नहीं किया था। सं० १९९३ के भाद्रपद शुदि ५ को वृद्धि थी। परन्तु पर्युषणा तिथि भा० शुदि ६ की होने से मतभेद को अवकाश नहीं था, पर सागरानन्दसूरिजी जिन्होंने सं० १९५२ में भाद्रपद शु० चतुर्थी के क्षय में तृतीया का क्षय मानकर वार्षिक पर्व तपागच्छ की परम्परा से विरुद्ध होकर भाद्रपद शु० ३ को किया था।

सं० १९९३ में किसी ने तृतीया दो मानी, किसी ने चतुर्थी दो मानी पर सांवत्सरिक पर्व भाद्रपद शुदि प्रथम पंचमी रविवार को किया। इसी प्रकार सं० १९९४ को भाद्रपद शुदि प्रथम पंचमी गुरुवार को वार्षिक पर्व किया तब हमारे पक्ष ने तथा खरतर गच्छ ने भा० शु० ४ बुधवार को वार्षिक पर्व मनाया था।

उस समय हमें लगा कि पूर्णिमा अमावस्या की वृद्धि में त्रयोदशी की वृद्धि और उनके क्षय में त्रयोदशी का क्षय करने की जो गलत परम्परा लगभग १०० वर्षों से चली है उसके परिणामस्वरूप ही भा० शुक्ल ५ के क्षय-वृद्धि में तृतीया की क्षय-वृद्धि करने की सागरजी को कल्पना सूझी है। अतः अब मूल भूल को सुधारना आवश्यक है, यह निर्णय कर हमने मूल चण्डु पंचाँग में हो उसी मुजब तिथि का क्षय-वृद्धि मानने का निर्णय किया और उसी प्रकार भींतियें। जैन-तिथि पत्रकों में छपवाने का जारी किया। यह बात हमने लम्बी छानबीन के बाद प्रचलित की थी। जोधपुर दरबार के पुस्तक प्रकाश में रहे हुए १६०१ से १८०० तक में बने हुए तमाम पंचांगों की

फाइलों में जांच करवाकर देखा गया तो श्री विजयहीरसूरिजी की कारकीर्दी दर्मियान ३ बार भा० शु० ५ की वृद्धि आई थी। पर सांवत्सरिक पर्व प्रत्येक बार औदयिक चतुर्थी को ही हुआ था।

प्राचीन कालीन जैन-तिथि पत्रकों में भी पूर्णिमाएँ तथा पंचमियां जहाँ-जहाँ बढ़ी थीं वहां सर्वत्र दो ही लिखी थीं और उनमें दूसरी पूर्णिमा और पंचमियों को पालनीय तिथि लिखा था। सब खुलासों को हृदयंगत करने के बाद ही हमने नवीन भीतियें तिथि-पत्रकों का प्रचार करवाया था। यह बात भी हमारे ध्यान बाहर नहीं थी कि हमारा यह कार्य एक पाक्षिक है, सब मान्य होने की आशा नहीं है। लगभग १०० वर्षों से जो वस्तु रूढ़ हो चुकी है उसे गलत समझ कर सत्य मार्ग को ग्रहण करने वाले मनुष्य विरले निकलेंगे। कुछ समय के लिए मतभेद तो रहेगा ही, पर बार बार के संघर्ष से भविष्य में इस विषय में ऊहापोह होता रहेगा और कोई शुभ समय भी आयेगा कि जब सांवत्सरिक पर्व के दिन का ऐक्य हो जायगा। बाद में दो पूर्णिमादि का ही मतभेद रहेगा, क्योंकि यह भूल प्राचीन है। हमने तथा हमारे गुरु-प्रगुरुओं ने भी यह भ्रान्त मान्यता मानी है। किसी भी प्रकार इसका समाधान न हुआ तो हम इस विषय की सत्य वस्तु को छोड़ के भी गच्छ में समाधान कर लेंगे। यदि तपागच्छ का सर्व संघ औदयिक चतुर्थी के दिन को इधर-उधर न करने का विश्वास दिलायेगा तो दूसरे सब बखेड़ों को छोड़कर समाधान कर लेंगे।

इस समय अहमदाबाद आने के बाद यहां का वातावरण समाधान के लिए अनुकूल लगा। हमने सोचा यदि पूज्यपाद आचार्यदेव श्री विजय-सिद्धिसूरीश्वरजी की भावना समाधान की हो और पूर्णिमा त्रयोदशी की हानि वृद्धि का बखेड़ा छोड़ दें तो तिथि-मतभेद का अन्त आ जाय। पूज्यपाद के जीवन की शताब्दी पूरी होने के प्रसंग पर नयी शती के प्रवेश में आपके मुख से समाधानकारक चार शब्द कहला दिये जायें तो संघ के लिए आनन्ददायक होंगे और धीरे धीरे तपागच्छ में से तिथि-विषयक मतभेद दूर होने का मार्ग भी निकल आयेगा, इस आशय से हमने पूज्यपाद से कोई निवेदन बाहर पड़वाने का निश्चय किया और समय पाकर पूज्य

बापजी महाराज को उक्त निवेदन करने की प्रार्थना की। कुछ समय तक हमने दो के बीच परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होने के बाद पूज्यपाद बोले—ठीक है! पर्युषणा तक में कुछ हो जाय तो बहुत अच्छा 'तहत्ति' कह कर मैं उनसे जुदा पड़ा।

प्रथम भाद्रपद शुदि १२ की शाम को जब मैंने वन्दना कर प्रत्याख्यान मांगा तब पूज्यपाद ने पूछा—कौन ? मैंने कहा 'कल्याणविजय' इन्होंने कहा—'कल्याणविजयजी' उस विषय में—मेरे कहने योग्य जो हो उसे लिख रखना। "महावीर स्वामी के जन्मवाचन-प्रसंग पर मैं व्याख्यान की पाट पर बैठता हूँ उस समय उसे सुना दूंगा"। मैंने 'तहत्ति' कहकर आभार माना। दूसरे ही दिन पूज्यपाद के नाम से जाहिर करने का निवेदन तैयार किया।

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इस कथनानुसार अच्छे कार्य विघ्नबहुल तो होते ही हैं। मैंने इस कार्य सम्बन्धी गुप्तता नहीं रखी थी, न गुप्तता रखने के संयोग ही थे। पूज्य आचार्य की श्रवणेन्द्रिय बहुत ही कमजोर हो गई थी। बात कुछ भी हो, जोरों से कहने पर ही आप सुनते थे। "खंड-कपाली" जो आपका टाइमकीपर था और हर समय समीपवर्ती रहता था, आपको कही हुई बात सर्वप्रथम सुनता था और उसमे वह बात "पश्चात्कृत" के पास जाती। मानों ये दोनों रामचन्द्रसूरि के एजेन्ट थे, मैं बापजी महाराज को बहका न दूँ इसके लिये दोनों नियुक्त थे। हमारी भावना समाधान कराने की अवश्य थी, परन्तु उनके मन का समाधान कायम रख कर। दुर्जनों की उल्टी-सुल्टी बातों से डांवाडोल होकर उनका मन आर्त-ध्यान में पड़े ऐसी परिस्थिति को दूर रखने का हमारा ध्येय था। हमारे कार्य में विघ्नकारक दो मनुष्य थे, इसलिये हमने पहले ही उनको सूचना कर दी थी कि मैं पूज्य बापजी महाराज की जन्म-शती के प्रसंग पर उनकी तरफ से एक निवेदन बाहर पड़वाना चाहता हूँ। खंडकपाली ने निवेदन पढ़कर कहा—"ठीक है, परन्तु मुझे नहीं लगता कि वे ऐसा वक्तव्य बाहर पाड़ें। पश्चात्कृत ने वक्तव्य पढ़कर कहा—साहब यह तो उल्टा होता है। मैंने कहा—तुम और तुम्हारे गुरु दो ही गीतार्थ की पूंछड़ी हो जो सच्चे झूठे को समझते हो। दूसरा कोई समझने वाला रहा ही नहीं।"

पश्चात्कृत ने तब से हमारे पास आना छोड़ दिया और खण्डकपाली की मार्फत पूज्यपाद का सम्पर्क विशेष साधने लगा। पूज्यपाद के ध्यान-रूम में घुस, द्वार बन्द कर दोनों उन पर दबाव डालते और कहते–"ऐसा करने से तो सेठ कस्तूरभाई नाराज हो जायेंगे। आपके पक्ष में रहने वालों का एक प्रकार से विश्वासघात किया माना जायेगा" इत्यादि बातें कानों पर डालकर इस भद्र स्थविर का मन डांवाडोल कर दिया।

कतिपय दिनों के बाद मुझे दोपहर को ध्यान के रूम में बुलाकर कहा–"भाई ! मैं तो बोलते-बोलते भूल जाता हूँ, सभा में एक के स्थान में दूसरा कुछ बोल जाऊँ तो कैसा गिना जाय।

मैंने कहा–साहिबजी आपका वक्तव्य आप ही सुनायें, ऐसा कोई नियम नहीं है। आप दूसरे से कहला सकते हैं, अथवा पढ़वा सकते हैं।

मेरे स्पष्टीकरण के बाद उनके मुंह से ऐसी अनेक बातें निकलीं जो पश्चात्कृत ने भराई थीं। सेठ कस्तूरभाई की नाराजगी के सम्बन्ध में मैंने कहा–साहिब ! सेठ कस्तूरभाई को यह निवेदन पहले पढ़ाकर उनका अभिप्राय ले लेंगे। जो वे कहेंगे कि इसमें कुछ बांधा नहीं है, तब तो यह निवेदन बाहर पाड़ना अन्यथा नहीं। मेरे उक्त कथन से वे मौन रहे।

मैंने आगे कहा–आपको कुछ भी बात गले नहीं उतरती ? आपने कहा–"भाई, मुझे तो कुछ भी गम नहीं पड़ता और संकल्प विकल्प हुआ करते हैं।

मैंने कहा–साहिबजी ! बात प्रसंग के अनुरूप थी, आपका महत्त्व बढ़ाने वाली थी। इस पर भी आपके गले न उतरती हो तो छोड़ दीजिये, मैं अपनी प्रार्थना वापिस खींच लेता हूँ। आप अब इस विषय में कुछ भी संकल्प विकल्प न करें।

मेरे उपर्युक्त कथन पर उन्होंने कहा–"दूसरे बारोबार कर लेते हों तो मैं कब इन्कार करता हूँ। सब दो तेरस करेंगे तो मैं कहाँ जुदा पड़ने वाला हूँ। अहमदाबाद में श्रीपूज्य ने दो पूनम की दो तेरस कराई तब से

सुबाजी ने असत्य प्ररूपणा जानकर उनके व्याख्यान में जाना बन्द किया, फिर भी दो तेरस उन्होंने भी की थी। वैसे दो तेरस करना शास्त्रीय है नहीं, फिर भी दूसरे कर लेंगे तो हम अकेले दो पूनम पकड़ कर नहीं बैठेंगे। तथापि जो बात झूठी है उसे हम सच्ची के रूप में कैसे स्वीकार करें।

मैंने कहा—साहिबजी, अब इस बात को छोड़िये, दूसरे जैसा करना होगा कर लेंगे। आपको उनको कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, आप किसी प्रकार के संकल्प-विकल्पों में न पड़ियेगा।

निबन्ध-निचय

तृतीय खण्ड

卐 卐

दिगम्बर जैन साहित्य
का
अवलोकन

卐

दिगम्बर जैन परम्परा का प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य

दिगम्बर परम्परा, श्वेताम्बर संघ तथा यापनीय संघ से सर्वथा पृथक् हो गई थी और उनके आगमों तक का त्याग कर दिया था। तब उसे अपने साहित्य की चिन्ता उत्पन्न हुई। पार्थक्य के समय तक श्वेताम्बर-मान्य आगमों की दो वाचनाएँ हो चुकी थीं, इसलिए श्वेताम्बर मान्य आगमों का मिलना दुष्कर नहीं था। दिगम्बर मुनियों ने अपने धार्मिक दानों में "पुस्तकदान" को महत्त्व दिया और भक्त गृहस्थों ने कहीं से भी हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त कर अथवा उसकी प्रति लिखवाकर अपने पूजनीय मुनियों को दान देने की प्रथा प्रचलित की। परिणामस्वरूप उन सूत्र पुस्तकों का आधार लेकर विद्वान् साधुओं ने सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थों का सूत्रों में अथवा गाथाओं में निर्माण किया। इस प्रकार के ग्रन्थों में "षट् खण्डागम, भगवती आराधना, मूलाचार" आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। "षट्-खण्डागम" का प्रथम खण्ड भूतबलिकी और शेष पांच खण्ड पुष्पदन्त की कृति मानी जाती है। "भगवती आराधना" आचार्य शिवार्य की कृति है, ऐसा उसकी प्रशस्ति में ग्रन्थकार स्वयं लिखते हैं। "मूलाचार" नामक ग्रन्थ आचार्य "वट्टकेर" अथवा तो "वट्टकेरल" की कृति मानी माती है।

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति को मानने वाले हैं। पिछले दो ग्रन्थ साधुओं के लिए आपवादिक उपधिका भी प्रतिपादन करते हैं और "षट्-खण्डागम" सूत्र में भी कुछ ऐसे विषय हैं जो इन ग्रन्थों का अर्वाचीनत्व सूचित करते हैं। हमारी राय में इन तीनों प्राचीन ग्रन्थों का निर्माण विक्रम की सप्तम शती के पूर्व का और अष्टम शती के बाद का नहीं है,

ऐसा उनके निरूपित विषयों और परिभाषाओं से ज्ञात होता है। पिछले दो ग्रन्थों में श्वेताम्बरमान्य आगमों और उनकी निर्युक्तियों की सैकड़ों गाथाएँ संग्रहीत हैं। यहां पर हम सर्वप्रथम "षट्-खण्डागम" "मूलाचार" और "भगवती आराधना" पर ऊहापोह करके फिर अन्य पठित ग्रन्थों का अवलोकन लिखेंगे।

卐 卐

: २७ :

षट् खण्डागम

षट्-खण्डागम—यह दिगम्बर जैन परम्परा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसके षट्-खण्डों के नाम क्रमशः—(१) जीवस्थान, (२) क्षुद्रबन्ध, (३) बन्धस्वामित्व, (४) वेदनाखण्ड, (५) वर्गणाखण्ड और (६) महाबन्ध हैं। दिगम्बर परम्परा में प्रथम खण्ड के कर्त्ता पुष्पदन्त और शेष पांच खण्डों के कर्त्ता भूतबलि मुनि माने जाते हैं, जो अर्हद्बलि के शिष्य थे। टीकाकार भट्टारक वीरसेन ने भी पाँच खण्डों के कर्त्ता भूतबलि को ही माना है। परन्तु आगम के सम्पादकों ने पिछले पाँच खण्डों के नामों के साथ भी पुष्पदन्त का नाम जोड़ दिया है। इसका कारण पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों ने यह आगम-ज्ञान धरसेन से प्राप्त किया था, ऐसी किंवदन्ती हो सकती है।

सटीक इस सिद्धान्त के पढ़ने से जो विचार हमारे मन में स्फुरित हुए हैं उनका दिग्दर्शन निम्न प्रकार से है—

अर्हद्बलि के पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो शिष्य थे, ऐसा दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य से अथवा शिलालेखों से ज्ञात नहीं होता। दिगम्बरीय मान्यता के अनुसार यतिवृषभ की मानी जाने वाली "तिलोय-पण्णत्ति" में ये नाम उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर जैन विद्वान् यतिवृषभ का समय विक्रम की षष्ठ शती मानते हैं, परन्तु हमारे मत से "यतिवृषभ" ऐतिहासिक व्यक्ति हुए ही नहीं हैं। "यतिवृषभ" यह नाम धवला टीका के कर्त्ता भट्टारक वीरसेन का एक कल्पित नाम है और उनकी कही जाने

वाली "तिलोयपण्णत्ति" भी बारहवीं शती के आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती "माघनन्दी" तथा उनके शिष्य सिद्धान्तचक्रवर्ती "बालचन्द्र" की कृति है।

षट्-खण्डागम में प्रथम खण्ड से लेकर पंचम खण्ड के दो भागों तक सूत्र दिए गए हैं। तृतीय भाग के प्रारम्भ में थोड़े से सूत्र आये हैं, शेष भाग वीरसेन की टीका से भरे हुए हैं। इसके बाद "महाबन्ध" प्रारम्भ होता है। महाबन्ध में भी सूत्र जैसी कोई वस्तु नहीं हैं, केवल टीकाकार वीरसेनसूरि ने इस बन्ध के विषय को भङ्गोपभङ्ग प्रस्तारों द्वारा पल्लवित करके महाबन्ध को एक खण्ड के रूप में तैयार किया है। इसके साथ पुष्पदन्त तथा भूतबलि का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस स्थिति में वीरसेन स्वयं महाबन्ध को "भट्टारक भूतबलि की रचना" कहते हैं, यह आश्चर्य-जनक है।

इन आगम-सूत्रों को ध्यानपूर्वक पढ़कर हमने यह निश्चय किया, कि ये सूत्र विक्रम की अष्टम शती से परवर्ती समय में बने हुए हैं। इनके भीतर अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इनका अर्वाचीनत्व सिद्ध करते हैं। स्थविर धरसेन के सत्ता समय और खण्डों के रचनाकाल के बीच कम से कम ५०० वर्षों का अन्तर बताते हैं। इस दशा में "आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को गिरि नगर में "षट्-खण्डागम का ज्ञान दिया।" यह मान्यता किस प्रकार सत्य हो सकती है, यह एक गम्भीर और विचार-णीय प्रश्न उपस्थित होता है।

हमारी राय में षट्-खण्डगम के टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी स्वयं रहस्यमय पुरुष प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी टीकाओं में तथा इनकी अन्तिम प्रशस्तियों में अपने लिए जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं, वे अवश्य विचारणीय हैं। "एक खण्ड की टीका में आप अपने को प्रसिद्ध सिद्धान्तों का सूर्य, समस्त वैयाकरणों का सिरताज, गुणों की खान. तार्किकों के चक्रवर्ती, प्रखरवादियों में सिंह समान बतलाते हैं।" अन्तिम प्रशस्ति में भी आपने इन्हीं विशेषणों को प्राकृत भाषा में परिवर्तित करके प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त प्रशस्ति में आपने अपने को "छन्दःशास्त्र तथा

ज्योतिष शास्त्र का वेत्ता भी बताया है।" इतना ही नहीं, इस महती टीका में आपने छोटे से छोटे अनुयोग द्वार तथा प्रकरण के प्रारम्भ में "वण्णइस्सामो, कस्सामो" आदि बहुवचनान्त क्रियाओं का प्रयोग करके अपने महत्त्व का परिचय दिया है। मालूम होता है, टीकाओं का पुनरुक्तियों द्वारा दुगुना तिगुना कलेवर बढ़ाने में भी उनका महत्त्वाकांक्षीपन ही काम कर गया है, अन्यथा धवला जयधवला टीकाओं में जो कुछ लिखा है, वह एक चतुर्थांश परिमाण वाले ग्रन्थ में भी लिखा जा सकता था। इसका आपने कई स्थानों पर बचाव भी किया है कि हमने अतिमुग्ध-बुद्धि-शिष्यों के बोधार्थ यह पुनरुक्ति की है। हमारी राय में यह बचाव एक बहाना है। एक वस्तु को घुमा-घुमाकर लिखने से तो मुग्ध-बुद्धि मनुष्य उल्टे चक्कर में पड़ते हैं। खरी बात तो यह है कि भट्टारकजी को इन ग्रन्थों का कलेवर बढ़ाकर इस तरफ अपने अनुयायियों का मन आकृष्ट करना था और इस कार्य में आप पूर्णतया सफल भी हुए हैं।

टीका की प्रशस्ति में आपने अपने इस निर्माण का समय सूचित करने में भी जाने-अजाने गोलमाल किया है।

卐 卐

: २८ :

धवला की प्रशस्ति

"सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण ।
भट्टारएण टीका, लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥
अट्ठत्तीसम्हि सासियविक्कमरायम्हि एयाइ संरंभो ।
पोसे सुतेरसीए, भावविलग्गे धवलपक्खे ॥६॥
जगतुंगदेवरज्जे, रि(हि)यम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते, गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥७॥
चावम्हि वर (धर) णिवुत्ते, सिंघे सुक्कम्मि मेंढि चंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा, टीका हु समापिआ धवला ॥८॥
वोद्दणराय णरिंदे, णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिद्धंतगंथमत्थिय-गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९॥"

भट्टारकजी ने प्रशस्ति की ५ से ९ तक की ५ गाथाओं से यह धवला टीका कब लिखी यह बात सूचित की है। परन्तु निर्माण के समय के सूचक "अट्ठत्तीसम्हि" इन दो शब्दों के अतिरिक्त कोई शब्द नहीं है। "सासिय" अथवा "सामियविक्कमरायम्हि" इन शब्दों से भी कोई स्पष्टार्थ नहीं होता। शासक अथवा स्वामी विक्रम राज्य के समय क्या हुआ? इसका कोई फलितार्थ नहीं मिलता। "अट्ठत्तीसम्हि" से विक्रम का सम्बंध नहीं मिलता, क्योंकि दोनों सप्तम्यन्त हैं। इसके अतिरिक्त "जगतुंगदेवरज्जे" और अन्त में "वोद्दणरायणरिंदे, णरिंद चूडामणिम्हि भुंजंते" इस प्रकार दो राजाओं के सप्तम्यन्त नाम लिखे हैं। "विक्रमराज, जगत्तुङ्गदेव और बोद्दणराजनरेन्द्र" इन तीन राजाओं का सम्मेलन करके भट्टारकजी क्या कहना चाहते हैं, इसका तात्पर्य समझ में नहीं आता। प्रशस्ति की गाथाओं

में मास, पक्ष, तिथि, लग्न और लग्न-कुण्डली स्थित ग्रहों की राशियाँ बताई हैं। इससे इतना जाना जा सकता है कि यह प्रशस्ति विक्रम की दशवीं शती अथवा उसके बाद की हो सकती है पहले की नहीं।

आचार्य वीरसेन ने वेदना-खण्ड की टीका में दिगम्बर साधुओं के पाँच कुलों के नाम दिए हैं, वे ये हैं—"पंचस्तूप, गुहावासी, शालमूल, अशोकवाटक और खण्डकेसर।" इसके साथ ही "गण" तथा "गच्छ" की व्याख्या देते हुए लिखा है—"तिपुरिसओ गणो" "तदुवरि गच्छो" अर्थात् तीन पुरुषों की परम्परा के समुदाय को "गण" कहते हैं। उसके ऊपर होता है उसे "गच्छ" कहते हैं। भट्टारकजी ने "कुल, गण और गच्छ" की यह व्याख्या किस ग्रन्थ के आधार से की है यह कहना कठिन है। धवला के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रन्थ में कुलों के इन नामों को हमने नहीं देखा, न "त्रिपुरुषकगण" होता है—यह व्याख्या भी हमने कहीं पढ़ी। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में "नन्दिगण, सेनगण; देवगण, सिहगण, देशीयगणादि" गणों के नाम मिलते हैं। परन्तु "त्रिपुरुषकगण" होता है ऐसा कहीं भी लेख नहीं मिलता। न "गणों" के ऊपर "गच्छ" होते हैं, यह बात देखने में आई। प्रत्युत गण शब्द ही प्राचीनकाल से साधु-समुदाय के अर्थ में प्रचलित था। "गच्छ" शब्द तो बाद में प्रचलित हुआ है। जहाँ तक हमने देखा है, साधु-समुदाय के अर्थ में "गच्छ" शब्द ग्यारहवीं तथा बारहवीं शती के ग्रन्थों में तथा शिलालेखों में साधु-समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। तब भट्टारक वीरसेन गणों के ऊपर गच्छ कहते हैं। इसका क्या वास्तविक अर्थ है, सो विद्वान् विचार करें। हमारी राय में तो दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन परम्पराओं में सर्वोपरि संघ होता है और संघ के छोटे विभाग "गण" होते हैं। गणों के विभागों को "गच्छ" कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में छठी, सातवीं शताब्दी से "गच्छ" शब्द साधु-समुदाय के अर्थ में प्रचलित हुआ है। तब दिगम्बर परम्परा में तो इसके बहुत पीछे ग्यारहवीं, बारहवीं शती से "गणों" में से "गच्छों" की उत्पत्ति हुई है। इस दशा में भट्टारकजी वीरसेन का उक्त कुलगण-गच्छों का निरूपण एक रहस्यपूर्ण समस्या बन जाती है।

आधुनिक दिगम्बर विद्वान् भट्टारक वीरसेन स्वामी का सत्तासमय विक्रम की नवमी शती में रखते हैं। तब भट्टारकजी स्वयं धवला टीका में "तिलोयपण्णत्ति, तिलोयसार" आदि ग्रन्थों के नाम निर्देश करते हैं। "तिलोयपण्णत्ति" बारहवीं शती के पूर्व का सन्दर्भ नहीं है और "तिलोय-सार" इससे भी अर्वाचीन ग्रन्थ है। इस स्थिति में "धवला" में इन ग्रन्थों का नाम निर्देश होना क्या रहस्य रखता है, यह प्रश्न विचारकों के लिए एक समस्या बन जाती है। इसके अतिरिक्त "धनञ्जयनाममाला" एवं "गोम्मटसार" की पचासों गाथाओं के उद्धरणों का धवला में मिलना भी कम रहस्यमय नहीं है। एक स्थान पर तो वीरसेन भट्टारकजी ने प्रसिद्ध दिगम्बर न्यायाचार्य भट्टारक "प्रभाचन्द्र" का नाम निर्देश भी किया है और "सिद्धि-विनिश्चय टीका" का उद्धरण भी दिया है। इन सभी बातों की समस्या दो प्रकार से ही हल हो सकती है, एक तो यह कि भट्टारक वीरसेन को ग्यारहवीं शती का माना जाय। दूसरा यह कि इनकी टीकाओं में जिन २ अर्वाचीन ग्रन्थों के अवतरण तथा अर्वाचीन ग्रन्थकारों के नाम आते हैं वे बाद में प्रक्षिप्त हुए माने जायें। इसके अतिरिक्त समन्वय का तीसरा कोई उपाय नहीं है। हमारी राय में आचार्य वीरसेन को नवमी शताब्दी का न मानकर ग्यारहवीं शती का मानने से ही सब बातों का समाधान हो सकता है।

धवला टीका की प्रशस्ति जिसकी चर्चा ऊपर कर आये हैं, वीरसेन के समय पर स्पष्ट प्रकाश नहीं डालती, न उसमें दिये हुए राजाओं के नामों से ही समय की सिद्धि होती है। यह प्रशस्ति स्वयं उलझी हुई है। इसके भरोसे पर ग्रन्थकार को पूर्वकालीन ठहराना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। धवला के अन्तर्गत दूसरे भी अनेक शब्दप्रयोग ऐसे मिलते हैं कि जिनसे ग्रन्थकार ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं हो सकते।

षट्-खण्डागम के माने जाने वाले सूत्रों को वीरसेन ने "सूत्र" तथा "चूर्णि" इन दो नामों से निर्दिष्ट किया है। परन्तु हमारी राय में इनको "चूर्णि" कहना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि "चूर्णि" एक प्रकार की टीका मानी गई है और टीका गद्य अथवा पद्यबद्ध ग्रन्थों के ऊपर बनती है।

षट्-खण्डागम के माने गये सूत्र किसी अंश में सूत्र कहे जा सकते हैं, तब कहीं-कहीं सूत्र चूरिण का रूप भी धारण कर लेते हैं। यह मूल ग्रन्थ का दुरगा रूप स्वाभाविक नहीं पर कृत्रिम है। हमारी समझ के अनुसार वास्तव में यह चूर्णी होनी चाहिए, परन्तु बाद मे किसी ने चूर्णी का अंग-भंग कर सूत्र बना दिए हैं। यह परिवर्तन किसने किया यह कहना तो कठिन है, परन्तु चौथे पाँचवें खण्डों में कहीं-कहीं सूत्रों के रूप में गाथाएँ दी गई हैं और उन पर चूरिण न होकर वीरसेन की सीधी धवला टीका बनी है।

कषाय पाहुड़ की गाथाओं के कर्त्ता का नाम 'गुणधर'' लिखा है और उसकी चूरिण के कर्त्ता का नाम ''यतिवृषभ''। हमारी राय में ये दोनों नाम भट्टारकजी की कृति है। असत् को सत् बनाने में भट्टारक वीरसेन एक सिद्धहस्त कलाकार मालूम होते हैं। ''जयधवला'' वाली चूरिण के प्रारम्भ में दो मंगलाचरण की गाथाएँ दी हैं, उनमें ''यतिवृषभ'' नाम आता है, जिसे ''यतिवृषभ'' नामक आचार्य मानकर चूरिण को उनके नाम पर चढ़ा दिया है। यही चूरिण टीका के बिना छपी है। उसमें न मंगल गाथाएँ हैं, न ''यतिवृषभ'' का उल्लेख है। इससे प्रमाणित होता है कि ''जयधवला वाली चूर्णी' में वीरसेन ने अपना परिचय मात्र दिया है।

अपनी टीका में स्थान-स्थान पर ''जईवसहायरिओ'' उल्लेख कर भट्टारकजी ने यति वृषभाचार्य को मूर्तिमन्त बना दिया है। इसी प्रकार कषायपाहुड़ की गाथाओं में कहीं भी कर्ता का नाम निर्देश नहीं है, तथापि वीरसेन ने अपनी टीका में ''गुणहर भडारओ'' इत्यादि स्थान-स्थान पर निर्देशों द्वारा ''गुणधर भट्टारक'' को भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति बना दिया है।

षट्-खण्डागम के चूरिण सूत्र, कषाय पाहुड के चूरिण सूत्र और इन दोनों पर की वीरसेन कीं टीकाओं की प्राकृत भाषा एक है। फरक इतना ही है कि टीकाओं में कहीं-कहीं संस्कृत पद अथवा वाक्य दिए गए हैं; तब चूरिणयों में यह बात नहीं है। प्राकृत भाषा न पूरी शौरसेनी है, न मागधी

ग्रौर न प्राकृत । इसमें शौरसेनी का एक ही लक्षण मजबूत पकड़े रखा है कि "त" को "द" बनाना । मागधी का लक्षण एक ही पकड़ा है कि ती के "त" को "ड़" बनाना । बाकी प्राकृत प्रयोग भी ग्रधिकांश अलाक्षणिक ही हैं, जैसे—"खुद्दाबन्ध, नामागोद, नीचागोद, रहस्स, संघडण" इत्यादि सैकड़ों ऐसे ग्रलाक्षणिक शब्द हैं जो प्राकृत व्याकरण से सिद्ध नहीं हो सकते । इन ग्रलाक्षणिक शब्दों को लाक्षणिक बनाने की इच्छा "प्राकृत शब्दानुशासनकार—श्री त्रिविक्रमदेव" को हुई थी ग्रौर प्रारम्भ में उन्होंने लिखा भी था कि "वीरसेन ग्रादि प्रयुक्त शब्दों को सिद्ध करने की भी मेरी इच्छा है ।" पर बाद में शब्दानुशासन की समाप्ति तक देखा तो वीरसेन ग्रथवा उनके द्वारा प्रयोग में लाए गए प्राकृत शब्दों की सिद्धि कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई । मालूम होता है कि त्रिविक्रम देव को भट्टारकजी के ग्रलाक्षणिक शब्दों को लाक्षणिक बनाने का कार्य ग्रसम्भव प्रतीत हुग्रा होगा । इसी से उन्होंने ग्रपने व्याकरण में कहीं उल्लेख तक नहीं किया ।

भट्टारकजी ग्रपनी भाषा की ग्रलाक्षणिकता जानते थे, इसी से इन्होंने एक स्थान पर प्राकृतव्याकरण के नाम से ग्रर्धपद्य के रूप में एक बॉम फेंका कि "प्राकृत में ए, ऐ ग्रादि सन्ध्यक्षरों के स्थान में ग्रा, ई ग्रादि ग्रक्षर परस्पर एक दूसरे के स्थान में हो जाते हैं ।"

ग्रापकी होशियारी का पार ही नहीं ग्राता, स्थान-स्थान पर "केवि ग्रायरिया, ग्रायरियोवदेसेण, महावाचक-खमासमणा" ग्रादि साक्षी के रूप में तुक्का घर देते हैं, पर नाम न देने की तो प्रतिज्ञा ही कर रखी है । हम तो इसका ग्रर्थ यही समझते हैं कि भट्टारकजी के पास एकाध गणित का कोई ग्रच्छा ग्रन्थ होगा ग्रौर एक दो भंग-प्रस्तारों के कर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ, उनके ग्राधारों से यह टीका ग्रन्थ—जिसे टीका न कहकर "महाभाष्य" कहना चाहिये, बना हुग्रा है । कुछ भी हो, परन्तु दिगम्बर जैन परम्परा के लिये तो वीरसेन एक वरददेव हैं, जिन्होंने "कर्म-सिद्धान्त-विषयक—धवला तथा जयधवला" दो टीकाएँ बनाकर दिगम्बर जैन समाज को उन्नतमस्तक कर दिया है ।

卐 卐

: २६ :

मूलाचार - सटीक

"मूलाचार" ग्रन्थ प्राकृत गाथाबद्ध १२ अधिकारों में पूरा किया गया है। बारह अधिकारों के नाम तथा गाथासंख्या निम्न प्रकार से है—

(१) मूलगुणाधिकार
(२) बृहत्प्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाधिकार
(३) संक्षेप-प्रत्याख्यानाधिकार
(४) सामाचाराधिकार
(५) पंचाचाराधिकार
(६) पिण्डशुद्धि-अधिकार
(७) षडावश्यकाधिकार
(८) द्वादशानुप्रेक्षाधिकार
(९) अनगार-भावनाधिकार
(१०) समय-साराधिकार
(११) शील-गुणाधिकार
(१२) पर्याप्त्यधिकार

ऊपर लिखे अनुसार बारह अधिकारों में क्रमश: ३६–७१–१४–७७–२२२–८३–१९३–७६–१२५–१२४–२६–२०६ गाथा संख्या है, जो सम्मिलित संख्या १२३० होती है। इसके कर्त्ता "वट्टकेर" अथवा "वट्टकेरल" बताये जाते हैं। इस ग्रन्थ पर टीकाकार सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य वसुनन्दी हैं। इनका सत्तासमय ज्ञात नहीं है, फिर भी इनके कतिपय उल्लेखों से ये धारणा से भी अधिक अर्वाचीन प्रतीत होते हैं।

पापश्रुत का निरूपण करते हुए इन्होंने "वात्स्यायन" शास्त्र के साथ "कोकशास्त्र" का भी नाम निर्देश किया है जो इनकी अर्वाचीनता प्रमाणित करता है। वसुनन्दि की "सिद्धान्तचक्रवर्ती" इस उपाधि के अनुसार ये "कर्मग्रन्थ" तथा "तिलोयपण्णत्ति" के विषय के अच्छे जानकार मालूम होते हैं। अधिकार ११-१२ की टीका में इन्होंने जो विद्वत्ता दिखाई है-इससे इनके सिद्धान्त-चक्रवर्तित्व का आभास मिलता है, परन्तु शेष दश अधिकारों की संख्या में इन्होंने कमजोरी ही नहीं अनभिज्ञता तक दिखाई है। इसके दो कारण ज्ञात होते हैं—एक तो यह कि इस ग्रन्थ पर वसुनन्दि के पूर्व की बनी हुई कोई टीका नहीं थी और दूसरा यह कि यह ग्रन्थ खासकर श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ "आवश्यक-निर्युक्ति, दश-वैकालिक सूत्र" आदि के आधार पर संग्रहीत किया गया है और वसुनन्दि के पास न उक्त श्वेताम्बर ग्रन्थ थे, न श्वेताम्बर परम्परा की आचार-विषयक परिभाषाओं का ज्ञान। इसलिये कई स्थानों पर बिना समझे ही मूल ग्रन्थ की बातों को गुड़गोबर कर दिया है। सबसे अधिक इन्होंने "षडावश्यकाधिकार" में अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित की है। अन्य स्थानों पर भी जहाँ कहीं श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों की गाथाओं की व्याख्या की है, वहाँ कुछ न कुछ भूल की ही है। उदाहरण के लिए-पंचाचाराधिकार की ८०वीं गाथा श्वेताम्बरीय-आवश्यक-निर्युक्ति की है। इसमें गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधर स्थविर की रचना को "सूत्र" के नाम से व्यवहार करने का कहा है। इसके चतुर्थ चरण में "अभिण्णदसपुव्विकधिदं च" इसकी व्याख्या करते हुए "अभिन्न दस पूर्व" का अर्थ करते हुए आप कहते हैं-"अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दश पूर्वाणि" अर्थात्-'रागादि से अपरिणत दश पूर्व' ऐसा अर्थ लगाया है। परन्तु वास्तव में इसका अर्थ होता है-"सम्पूर्ण दशपूर्व" और ऐसे "सम्पूर्ण दश पूर्वों के जानने वाले श्रुतधर की कृति को "सूत्र" माना गया है। यह तो एक मात्र उदाहरण बताया है, वास्तव में इस प्रकार की साधारण भूलें अगणित हैं।

आचार्य वसुनन्दी ने इस टीका में अपना विशेष परिचय नहीं दिया। अन्त में एक पद्य में इस मूलाचार की वृत्ति का "वसुनन्दी वृत्ति" के नाम से

परिचय कराया है। यह पद्य यदि वसुनन्दी का खुद का भी हो तब भी इससे इनका तथा इनके समय का कोई परिचय नहीं मिलता। इनके "वसुनन्दिश्रावकाचार, प्रतिष्ठासार" आदि ग्रन्थों में भी इन्होंने अपना परिचय नहीं दिया, ऐसा स्मरण है।

मूलाचार के कर्त्ता का नाम "वट्टकेराचार्य, वट्टेरकाचार्य अथवा वट्टकेरलाचार्य ?"—

प्रस्तुत मुद्रित सटीक ग्रन्थ के सम्पादक ने एक दो स्थान पर "वट्टेरकाचार्य", तब अन्य स्थानों में "वट्टकेराचार्य" लिखा है। वसुनन्दी ने टीका के उपक्रम में इनका नाम "वट्टकेरलाचार्य" लिखा है। इन भिन्न-भिन्न नामोल्लेखों का होना हमारी राय में इस ग्रन्थ के कर्त्ता के नाम का बनावटीपन साबित करता है। इस बात के समर्थन में अन्य भी कई कारण हैं। प्रथम तो दिगम्बरीय शिलालेखों में यह नाम कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ग्रन्थ-प्रशस्तियों में भी इनका नाम कहीं लिखा नहीं मिलता। भट्टारकीय प्रशस्तियों में भी किसी भी लेखक ने नहीं लिखा, ऐसा हमारा ध्यान है। आचार्य श्रुतसागर १६वी शताब्दी के दिगम्बर विद्वान् थे। आचार्य वसुनन्दी भी श्रुतसागर से दो तीन शताब्दियों से अधिक पूर्ववर्ती नहीं हैं। मूलाचार के भिन्न-भिन्न अधिकारों में आने वाले अनेक ऐसे शब्द-प्रयोग हैं जो विक्रम की १२वीं शताब्दी के किसी ग्रन्थ में प्रयुक्त हुए दृष्टिगोचर नहीं होते। मूलाचार ग्रन्थ के अधिकारों की योजना भी इस बेढबी से की गई है कि यह ग्रन्थ एक मौलिक ग्रन्थ नहीं पर संग्रहग्रन्थ प्रतीत होता है। ग्रन्थ की प्राकृत भाषा भी दिगम्बरीय शौरसेनी है, जो १२वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं। छन्दोभंग जैसी भूलों को ध्यान में न भी लें तो भी व्याकरण सम्बन्धी ऐसी अनेक अशुद्धियाँ हैं जो दिगम्बरीय प्राचीन साहित्य में नहीं देखी जातीं। परन्तु बारहवीं तेरहवीं शती और इसके बाद के ग्रन्थों में इनकी भरमार है। संग्रहकार ने शताधिक गाथाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थों से लेकर इसमें रख दी हैं। केवल 'त' 'य' के स्थान पर दिगम्बरीय शौरसेनी का 'द' बना दिया है। नमूने के रूप में कुछ गाथाओं के अङ्क हम नीचे उद्धृत करते हैं—

मूला० पंचाचाराधिकार	गाथा न०	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	
,, सामाचाराधिकार	१२४	आ० नि० ६६७	पृ० २५८
,, ,,	१३२	६८४	२६३
,, ,,	१३३	६८८	२८४
,, पंचाचाराधिकार	१६५	१४१८	७६४
,, षडावश्काधिकार	३	९१८	३८७
,, ,,	४	९२२	४०६
,, ,,	६	९५३	४३८
,, ,,	९	९८४	४४८
,, ,,	१०	९९७	४४९
,, ,,	११	१००२	४४९
,, ,,	१६	८९	६२
,, ,,	२४	७९७	३२९
,, ,,	२५	७९८	३२९
,, ,,	३३	७९९	३२९
,, ,,	३६	१२४६	५६३
,, ,,	४३	१०५८	४९६
,, ,,	५५	१०५९	४९६
,, ,,	५६	१०६०	४९७
,, ,,	५८	१०६२	४९७
,, ,,	५९	१०६१	४९७
,, ,,	६२	१०६६	४९८
,, ,,	६३	१०६९	४९८
,, ,,	६४	१०७६	५००
,, ,,	६५	९२१	४९६
,, ,,	६६	१०७७	५००
,, ,,	६७	१०७९	५००
,, ,,	६८	१०९३	५०८
,, ,,	६९	१०९४	५०८

मूला०	षडावश्यकाधिकार	गाथा	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	पृष्ठ
"	"	७०	१०६५	५०८
"	"	७१	१०६६	५०६
"	"	७२	१०६७	५०६
"	"	७८	अवश्य सूत्र	५११
"	"	७६	आ. नि. ११०२	५११
"	"	८०	११०३	५११
"	"	६३	११६७	५४१
"	"	६४	११६५	५४०
"	"	६५	११०५	५१६
"	"	६६	११०६	५१६
"	"	६८	११०७	५१६
"	"	१००	११०८	५४१
"	"	१०१	११६६	५४१
"	"	१०२	५४१	
"	"	१०३	१२०१	५४२
"	"	१०४	१२०२	५४३
"	"	१०६	१२०७	५४३
"	"	१०७	१२०८	५४४
"	"	१०८	१२०६	५४४
"	"	१०६	१२१०	५४४
"	"	११०	१२११	५४४
"	"	१११	१२१२	५४४
"	"	११३	१२२५	५४६
"	"	११५	१२३४	५५२
"	"	११६	१२४८	६६३
"	"	११७	१२३१	५५१
"	"	११८	१२३२	५५१
"	"	१२०	१२५०	५६४

मूला० षडावश्यकाधिकार		गाथा	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	पृष्ठ
,,	,,	१२९	१२४४	५६३
,,	,,	१३०	१२४५	५६३
,,	,,	१३६	१५५५	८०३
,,	,,	१३९	१५६३	८४०
,,	,,	१४०	१५६४	८४०
,,	,,	१४१	१५६५	८४०
,,	,,	१५१	१४४७	७७०
,,	,,	१५५	१४६०	७८०
,,	,,	१५९	१४५८	७७२
,,	,,	१६०	१५३०	७९५
,,	,,	१६१	१५३१	७९५
,,	,,	१६२	१५३८	७९५
,,	,,	१६९	१५५१	८०१
,,	,,	१७१	१५४६	७९०
,,	,,	१७२	१५४७	७९८
,,	,,	१७४	१५४१	७९७
,,	,,	१७५	२३५	७९७
,,	,,	१७७	१४७९	७७६
,,	,,	१७८	१४८९	७७६
,,		१७९	१४९०	७७६
,,		१८०	१४९२	७७६
,,	,,	१८६	७२२	२७२
,,	,,	१८७	१२२	२६७
,,	,,	१९०	१२१	२६६
,,	समयसाराधिकार	८		
,,	,,	१२१	दशवैकालिक ७	
,,	,,	१२२	दश० ८	
,,	,,	१२३	दश०	

मूला०	शीलगुणाधिकार	गाथा १६	छेद सूत्र
,,	पर्याप्त्यधिकार	१०७	आ० सू० ४६ पृ० ३६

उपर्युक्त गाथाओं में वर्णभेद तो सर्वत्र किया ही है, परन्तु कहीं कहीं दिगम्बर परम्परा की मान्यता के अनुकूल बनाने के लिए शाब्दिक परिवर्तन भी किया है। इनके अतिरिक्त अनेक गाथाओं के चरण तथा गाथार्ध तो सैकड़ों की संख्या में दृष्टिगोचर होते हैं। पंचाचाराधिकारादि में भगवती आराधना की कतिपय गाथाएँ भी ज्यों की त्यों उपलब्ध होती हैं। भगवती आराधना यापनीय संघ के विद्वान् मुनि शिवार्य की कृति है, इसी तरह दिगम्बर ग्रन्थों की गाथाओं का भी अनुसरण किया गया है। इन सब बातों का विचार कर हमने यह मत स्थिर किया है कि मूलाचार न कुन्द-कुन्दाचार्य की कृति है, न वट्टकेर, वट्टेरक अथवा वट्टकेरल नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं। मूलाचार यह संग्रह ग्रन्थ है। इसके संग्राहक यापनीय अथवा अज्ञातनामा कोई दिगम्बर विद्वान् होने चाहिए।

भगवती आराधना :

भगवती आराधना का सविस्तार अवलोकन "श्रमण भगवान् महावीर" पुस्तक के "स्थविरकल्प और जिनकल्प" नामक परिशिष्ट में दिया गया है, जिज्ञासु पाठक वहीं से जान लें।

卐 卐

: ३० :

पंच-संग्रह ग्रन्थ

❖

१. आवश्यक सूचन :

प्रथम पंच-संग्रह जो भाषान्तर के साथ मुद्रित है, करीब २५०० श्लोक परिमाण है। इसके पाँचों प्रकरणों के नाम क्रमशः नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. जीव-समास—गाथा २०६
२. प्रकृति-समुत्कीर्तन—गाथा १२ शेष गद्यभाग
३. कर्म-स्तव—गा० ७७
४. शतक—गा० कुल ५२२, मूल गाथा १०५
५. सप्ततिका—गाथा कुल ५०७, मूल गाथा ७२

यह ग्रन्थ भाषान्तर के साथ ५३९ पेजों में पूरा हुआ है।

२. प्राकृत वृत्ति सहित पंच-संग्रह :

श्रुतवृक्ष का निरूपण उपोद्घात में, गाथा ४३ जिसमें अंग उपांग पूर्वश्रुत के विवरण के साथ सब की पदसंख्या दी है।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन—गाथा १६
२. कर्म-स्तव—गाथा ८८, ९ गाथाएँ इसी विषय की अलग अंक वाली हैं।
३. जीवसमास—गा० १७६, यह ग्रन्थ ५४० से ६६२ तक के १२२ पृष्ठों में पूरा हुआ है।
४. शतक—गा० १३९, अन्त में मङ्गलाचरण की दो गाथाएँ।
५. सचूलिका सप्तति—गाथा ९९,

इस प्राकृत टीका वाले पंच-संग्रह के कर्त्ता पद्मनन्दी नामक आचार्य हैं और टीका भी इनकी स्वोपज्ञ प्रतीत होती है।

३. संस्कृत पद्यबद्ध पंच-संग्रह :

प्राग्वाट वणिक् जाति के विद्वान् श्रीपालसुत डड्ढ की कृति है। इसके पांच प्रकरणों के नाम इस प्रकार हैं—

१. जीव-समास—श्लोक २५७
२. प्रकृति-समुत्कीर्तन—श्लो० ४४
३. कर्म-स्तव—श्लो० ६०
४. शतक—श्लो० ३३६
५. सत्तरि—श्लो० ४२८
६. सप्ततिका चूलिका ८५

४ पंच-संग्रह संस्कृत आचार्य अमितगति कृत :

१. बंधक—श्लोक ३५३
२. बध्यमान—श्लोक प्रकृति-स्तव में ४८
३. बंध-स्वामित्व—श्लोक कर्म-बन्ध-स्तव १०६
४. बंधकारण—३७५ श्लोकों के बाद शतक समाप्त ऐसा उल्लेख किया है,
५. बंध भेद— परन्तु अगले प्रकरण का गाथांक भिन्न नहीं दिया है किन्तु ७७६ श्लोकों के बाद "इति मोहपाकस्थानप्ररूपणा

समाप्ता" यह लिखकर आगे गुणेषु मोहसत्त्वस्थानानि आह—यह लिखकर नये अङ्क के साथ प्रकरण शुरु किया है और बीच में भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर कुल ७६ श्लोक पूरे करके "सप्ततिकाप्रकरणं समाप्तम्" लिखा है।

शतक, सप्ततिका इन दोनों प्रकरणों की समाप्ति के उल्लेखों में इनके नाम आये हैं, मूल श्लोकों में नहीं। परन्तु इन दो प्रकरणों में दृष्टिवाद का नामनिर्देश श्लोकों में हुआ है।

इसके बाद सामान्य विशेष रूप से बन्ध-स्वामित्व का निरूपण है, जो भिन्न-भिन्न शीर्षकों के नीचे ६० श्लोकों में पूरा किया है। बीच में गद्य भाग में भी विवरण किया है। ग्रन्थकार की प्रशस्ति से जाना जाता है कि १०७३ विक्रम में यह ग्रन्थ पूरा किया है।

卐 卐

कर्ता : अकलंक देव

: ३१ :

अकलंक-ग्रन्थत्रय

❖

लघीयस्त्रय ग्रन्थ में प्रथम प्रमाण-प्रवेश, नय-प्रवेश तथा प्रवचन-प्रवेश आदि प्रकरण हैं।

नय-प्रवेश की ३३वीं कारिका के उपक्रम में पुरुषाद्वैतवाद का उल्लेख करके पुरुष को निस्तरंग तत्त्व और जीवादि पदार्थों को उपप्लव कहा गया है। वास्तव में यह हकीकत वेदान्तवाद की है। आगे कारिका ३८वीं में स्पष्ट रूप से ब्रह्मवाद का निर्देश मिलता है—

"संग्रहः सर्वभेदैक्य—मभिप्रैति सदात्मना।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥" इत्यादि।

आगे प्रवचन-प्रवेश की ६९वीं कारिका में भी—

"सदभेदात्समस्तैक्य—संग्रहात् संग्रहो नयः।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात्, तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥३९॥"

ब्रह्मवाद को दुर्नय कहा गया है।

अकलंक देव के उपर्युक्त निरूपणों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका लघीयस्त्रय ग्रन्थ शंकराचार्य का ब्रह्मवाद प्रचलित होने के बाद निर्मित हुआ है। अन्य विद्वानों का यह मन्तव्य है कि लघीयस्त्रय अकलंक देव का प्रारम्भिक ग्रन्थ है। पर हम इस मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। हमारी राय में यह लघीयस्त्रय ग्रन्थ अकलंकदेव ने पिछली अवस्था में इस विचार से रचा है कि स्याद्वाद के अभ्यासी विद्यार्थी इन लघु ग्रन्थों में प्रवेश कर स्याद्वाद के आकर ग्रन्थों में सुगमता से प्रवेश कर सकें।

卐 卐

: ३२ :

प्रमाण-संग्रह

❖

कर्ता : **अकलंक देव**

प्रमाण-संग्रह भी इसी कोटि का ग्रन्थ है। इसमें ग्रन्थकर्त्ता ने सिद्धसेन, देवनन्दि और समन्तभद्र के नामों का सूचन किया है। इसके अतिरिक्त इसमें **नयचक्र** ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

卐 卐

: ३३ :

श्री तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक

कर्ता : श्री विद्यानन्दी

तत्त्वार्थसूत्र पर रची गयी अनेक टीकाओं में से विक्रमीय एकादशवीं शताब्दी के पूर्वार्ध जात आचार्य विद्यानन्दी की "तत्त्वार्थसूत्र-श्लोकवार्तिकालंकार" का तीसरा नम्बर है। यह टीका भाष्य के रूप में लिखी गई है। तत्त्वार्थ के मूल सूत्रों का विवरण लिखने के बाद उसी का सार प्रायः कारिकाओं में दिया गया है।

टीका ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग प्रथम अध्याय के पांच आह्निकों में पूरा किया है। शेष टीका ग्रन्थ दूसरे अध्याय के तीन आह्निकों और शेष आठ अध्यायों के दो दो आह्निक कल्पित करके पूरा किया है।

टीकाकार ने अपनी टीका में पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों तथा विद्वानों का नाम निर्देश किया है।

जैन विद्वानों के नामों में समन्तभद्र का नाम निर्देश मात्र है। तब अकलंकदेव, कुमारनन्दी, श्रीदत्त के नाम वादी के रूप में उल्लिखित हैं। आश्चर्य है देवनन्दी सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्ता माने जाते हैं, परन्तु ग्रन्थ भर में देवनन्दी का नाम निर्देश कहीं नहीं मिलता। अकलंकदेव ने "सिद्धिविनिश्चय" की एक कारिका में सिद्धसेन तथा समन्तभद्र नामों के साथ देवनन्दी का भी नाम निर्दिष्ट किया है। परन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी देवनन्दी का उल्लेख नहीं है।

जैनेतर विद्वानों में से टीकाकार ने उद्योतकर, शबर, भर्तृहरि, वराहमिहिर, प्रभाकर भट्ट, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर गुप्त आदि के अनेक बार नाम निर्देश किये हैं।

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ में अनेक वादों की चर्चा कर उनका खण्डन किया है। स्फोटवाद का तो बहुत ही विस्तार के साथ निराकरण किया है। इतना ही नहीं किन्तु सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक शाब्दिकों की चार भाषाओं की चर्चा करके उनका खण्डन किया है।

बौद्धों के अन्यापोहवाद की काफी चर्चा करके उसका खण्डन किया है।

वादी-प्रतिवादी के शास्त्रार्थ सभा का निरूपण तथा उनके जय, पराजय के कारणों का विशद वर्णन किया है।

केवली के कवलाहार मानने वालों को दर्शनमोहनीय कर्म बांधने वाला माना है। परन्तु स्त्री उसी भव में मोक्ष पा नहीं सकती इसकी चर्चा कहीं नहीं दीखती।

卐 卐

: ३४ :

आप्त-परीक्षा और पत्र-परीक्षा

❖

कर्ता : **श्री विद्यानन्दी**

आचार्य विद्यानन्दी ने आप्तपरीक्षा में १२४ कारिकाओं तथा टीका में आप्त पुरुष की चर्चा की है। इस ग्रन्थ में जैन जैनेतर विद्वानों के नाम निर्देश निम्न प्रकार से हुए हैं—

समन्तभद्र, अकलंकदेव, शंकर, प्रशस्तकर (वेदान्त) और भट्ट प्रभाकर आदि के नाम उल्लिखित हैं।

"देवागमालंकृतौ तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्दमहोदयैः च विस्तरतो निर्णीतं प्रतिपत्तव्यं।" इस प्रकार आप्तपरीक्षा में अपने लिये उल्लेख किया है, इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिकालंकार में भी दो एक जगह "विद्या-नन्दमहोदय" शब्द का उल्लेख करके अपने अन्य ग्रन्थ की गर्भित सूचना की है।

पत्र-परीक्षा में भी अन्य नामनिर्देशों के अतिरिक्त कुमारनन्दी भट्टारक की तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं। पत्र-परीक्षा में शास्त्रार्थ के लिए पत्रावलम्बन किये जाते थे। उन पत्रों के स्वरूप तथा पंचावयवादि वाक्यों का स्वरूप लिखा है।

卐 卐

: ३५ :

कर्ता : समन्तभद्र

आप्त-मीमांसा

❖

वृत्ति–वसुनन्दि, अष्टशती-अकलंक

आप्तमीमांसा की मूल कारिकायें ११५ हैं, जो "देवागम नभोयान-चामरादिविभूतयः" इस पद्य से शुरु होती हैं। मीमांसा में आचार्य ने आप्त-पुरुष की विस्तृत विचारणा की है और उनके सिद्धान्त प्रमाण नय आदि का समर्थन किया है। साथ-साथ अन्यान्य दार्शनिक मन्तव्यों का निरसन भी किया है।

मूल कृति में कर्ता ने अपना नाम सूचन नहीं किया है, फिर भी टीकाकारों ने इसका कर्ता समन्तभद्र माना है और उन्हें सबहुमान वन्दन किया है।

टीकाकार वसुनन्दी ने आचार्य कुलभूषण को नमस्कार कर टीका का प्रारम्भ किया है और अकलंक ने समन्तभद्र को ही नमस्कार कर मीमांसा को शुरु किया है।

"अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो०" इस कारिका के विवरण में अकलंक ने ब्रह्म-प्राप्ति के सम्बन्ध में उल्लेख किया है।

श्री वसुनन्दि ने अपनी टीका में धर्म-कीर्ति, मस्करि पूरण का भी उल्लेख किया है।

श्री समन्तभद्र का समय इतिहासवेत्ताओं की दृष्टि में ईसा की छठी शताब्दी तथा पट्टावली के अनुसार दूसरी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है, ऐसा सम्पादक ने प्रस्तावना में उल्लेख किया है।

हमारी राय में आचार्य समन्तभद्र विक्रमीय पंचम शताब्दी के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

卐 卐

: ३६ :

प्रमाण-परीक्षा

❖

लेo : विद्यानन्दी

प्रमाण-परीक्षा में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के मान्य प्रमाणों की चर्चा करके सत्य ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है। इस परीक्षा में ग्रन्थकार ने भट्टारक कुमारनन्दि, अकलंकदेव आदि आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं और न्यायवार्तिककार उद्योतकर, बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर; समन्तभद्र, शाबर भाष्य, प्रभाकर, भट्ट, बृहस्पति, कणाद आदि ग्रन्थकारों के भी उल्लेख किये हैं।

आचार्य विद्यानन्द ने कुमारनन्दी के नाम के साथ दो स्थानों पर भट्टारक शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि विद्यानन्द के समय में "भट्टारक" युग आरम्भ हो चुका था।

卐 卐

: ३७ :

प्रमेयकमलमार्तण्ड

कर्ता : प्रभाचन्द्र

❖

इस ग्रन्थ में कुल छः परिच्छेद हैं—१. प्रमाणपरिच्छेद, २. प्रत्यक्ष-प्रमाणपरिच्छेद, ३. परोक्षप्रमाणपरिच्छेद, ४. प्रमाण-विषय-फल निरूपण परिच्छेद, ५. प्रमाणाभास परिच्छेद, ६, नय-नयाभासाधिकार परिच्छेद। लेखक की शैली प्रौढ़ है। खण्डनात्मक पद्धति से भिन्न-भिन्न विषयों का निरूपण कर लगभग बारह हजार श्लोक प्रमाणात्मक यह ग्रन्थ निर्मित किया है।

यद्यपि ग्रन्थ में ऐतिहासिक सूचनों का संग्रह विशेष नहीं है, फिर भी कुछ उल्लेखनीय बातें अवश्य हैं, जो नीचे सूचित की जाती हैं—

"प्रमेयकमलमार्तण्ड" माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख सूत्रों पर विस्तृत भाष्यात्मक टीका है। माणिक्यनन्दी का सत्ता-समय सम्पादक वंशीधरजी शास्त्री ने विक्रम संवत् ५६९ होना बताया है, जो दन्तकथा से बढ़कर नहीं। हमारी राय में माणिक्यनन्दी विक्रम की दशवीं तथा ग्यारहवीं शती के मध्यभाग के व्यक्ति हैं। ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजराजा के शासनकाल में विद्यमान थे। इससे निश्चित होता है कि इनका सत्ता-समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग अथवा उत्तरार्ध होना चाहिए।

चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के **त्रिलोकसार** ग्रन्थ की कतिपय गाथाएँ प्रभाचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ में उद्धृत की हैं। त्रिलोकसार का रचनासमय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इससे सुतरां सिद्ध है कि प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड की रचना विक्रमीय

एकादशी शती के तृतीय अथवा चतुर्थ चरण की मानी जा सकती है। सम्पादक वंशीधरजी शास्त्री के मत से विक्रम संवत् १०६० से ११९५ तक का होना निश्चित है।

प्रथम परिच्छेद में ग्रन्थकार ने सूक्ष्मा, अनुपश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन चार भाषाओं का संक्षेप में स्वरूप बतलाया है।

द्वितीय परिच्छेद के अन्त में लेखक ने केवली-कवलाहार का खण्डन किया है और स्त्रीनिर्वाण का भी सविस्तार खण्डन किया है। साथ में सवस्त्र निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता और नैर्ग्रन्थ्य विना मुक्ति नहीं हो सकती, इन दो विषयों के सम्बन्ध में लिखी गई युक्तियों में ऐसी कोई भी युक्ति या तर्क दृष्टिगोचर नहीं होता, जो इनकी मान्यता को सिद्ध कर सके।

तृतीय परिच्छेद में बौद्धों के अपोह-सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। शब्दाद्वैतवादियों के स्फोट के सम्बन्ध में प्रतिपादन तथा लौकिक वैदिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में जैनों का मन्तव्य प्रतिपादित किया है।

अन्तिम प्रशस्ति में ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दी को गुरु के रूप में याद किया है और अपने को पद्मनन्दि सैद्धान्तिक का शिष्य और श्री रत्ननन्दि का पदस्थित बताया है। धाराधीश भोजराज के राज्यकाल में माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्रों पर यह विवरण समाप्त करने का ग्रन्थकार ने सूचन किया है।

卐 卐

: ३८ :

भद्रबाहु-संहिता

❖

भद्रबाहुसंहिता का प्रथम भाग पढ़ने से ज्ञात हुआ कि यह ग्रन्थ बहुत ही अर्वाचीन है। मुनि जिनविजयजी इसे बारहवीं तेरहवीं शताब्दी का होने का अनुमान करते हैं, परन्तु यह ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। इसकी भाषा बिल्कुल सरल और हल्की कोटि की संस्कृत है। रचना में अनेक प्रकार की विषय सम्बन्धी तथा छन्दो-विषयक अशुद्धियां बताती हैं कि इसको बनाने वाला मध्यम दर्जे का भी विद्वान् नहीं था। "सोरठ" जैसे शब्दप्रयोगों से भी इसका लेखक पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शती का ज्ञात होता है। इसके सम्पादक श्री नेमिचन्द्रजी इसे अष्टमी शताब्दी की कृति अनुमान करते हैं, परन्तु यह अनुमान केवल निराधार ही है।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुखतार ने इसे सत्रहवीं शती के एक भट्टारकजी के समय की कृति बतलाया है, जो हमारी सम्मति में ठीक मालूम होता है।

卐 卐

: ३६ :

हरिवंश पुराण और इसके कर्ता आचार्य जिनसेन

(१) कथावस्तु का आधार : : :

प्रस्तुत पुराण के सम्पादक पण्डित श्री पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य का अभिप्राय है कि "हरिवंश-पुराण" का कथावस्तु जिनसेन को अपने गुरु "कीर्तिषेणसूरि" से प्राप्त हुआ होगा, परन्तु यह अभिप्राय यथार्थ नहीं है। सामान्य रूप से "हरिवंश-पुराण" का विषय "महापुराण और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्रों" के अन्तर्गत "नेमिनाथ चरित्र" और "कृष्ण वासुदेव" आदि के चरित्रों के प्रसंगों पर तो आता ही है परन्तु जिनसेन ने "हरिवंश" की उत्पत्ति के प्रारम्भ से ही "वसुदेवहिण्डी" के नाम से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध "वसुदेव-चरित" के आधार से ही सब प्रसंगों को लिखा है। "वसुदेव-हिण्डी के प्रथम काण्ड" से तो अनेक वृत्तान्त लिये ही हैं, परन्तु "मध्यम काण्ड" के आधार से भी अनेक प्रकार के तपों का निरूपण किया है जो अधिकांश श्वेताम्बरमान्य आगमों में भी प्रतिपादित हैं।

पुराणकार ने पुराण के प्रथम सर्ग में निम्नोद्धृत श्लोकों में पुराण का विषय निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है—

"लोकसंस्थानमत्रादौ, राजवंशोद्भवस्ततः ।
हरिवंशावतारोऽतो, वसुदेवविचेष्टितम् ॥७१॥
चरितं नेमिनाथस्य, द्वारवत्या निवेशनम् ।
युद्धवर्णन-निर्वाणे, पुराणेऽष्टौ शुभा इमे ॥७२॥"

अर्थात्—"तीन लोक का आकार प्रथम बताकर फिर राजवंशोत्पत्ति; उसके बाद हरिवंशोत्पत्ति, वसुदेव का भ्रमण, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका नगरी का निर्माण, युद्ध का वर्णन और नेमिनाथ आदि का निर्वाण, ये आठ अर्थाधिकार इस पुराण में कहे जायेंगे । ७१ । ७२ ।'

लेखक ने सर्वप्रथम तीन लोकों का जो निरूपण किया है वह जैन-शास्त्रोक्त है । शेष अर्थाधिकार राजवंशोत्पत्ति, हरिवंशोत्पत्ति, वसुदेव की प्रवृत्ति, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका का बसाना, युद्ध का वर्णन और निर्वाण का वर्णन "चउपन्न महापुरिसचरिय" और "वसुदेव-हिण्डी" इन प्राचीन ग्रन्थों के ऊपर से लिये गये हैं ।

(२) प्रतिपादन शैली : : :

सम्पादकों ने आचार्य जिनसेन की इस कृति के सम्बन्ध में अपना अभिप्राय बहुत ही अच्छा व्यक्त किया है । परन्तु हमको इनके विचारों से जुदा पड़ना पड़ता है, यह दुःख का विषय है । पर इसका कोई प्रतिकार भी तो नहीं । सम्पादकों ने इनकी हर एक प्रवृत्ति और परिपाटी पर सन्तोष व्यक्त किया है, परन्तु मुझे इनकी प्रतिपादन-शैली पर सन्तोष नहीं । जहां तक मुझे लेखक की लेखिनी का अनुभव हुआ है, इससे यही कहना पड़ता है कि आपकी लेखिनी परिमार्जित नहीं । पढ़ने पर यही लगता है कि आचार्य धार्मिक सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त व्याकरण पढ़ कर "हरिवंश" की रचना में लगे हैं, इसीलिये लेख में अलंकार और रसपोषण का कहीं दर्शन नहीं होता । युद्ध जैसे प्रसंग में भी "वीर" अथवा "अद्भुत" रसों का नाम-निशान नहीं होना—इसका अर्थ यही हो सकता है कि लेखक ने अपनी साहित्यिक योग्यता प्राप्त करने के पहले ही इस पुराण की रचना कर डाली है । इसीलिये कहीं कहीं तो लेख भ्रान्ति-जनक भी हो गया है, जैसे—

"युधिष्ठिरोऽर्जुनो ज्येष्ठो, भीमसेनो महाबलः ।
नकुलः सहदेवश्च; पञ्चैते पाण्डुनन्दनाः ।। (२)" (४५ सर्ग)

अनजान पढ़ने वाले मनुष्य को ऊपर के श्लोक से पाण्डवों के ज्येष्ठादि क्रम में यह भ्रान्ति हुए विना नहीं रहेगी कि पांच पाण्डवों में युधिष्ठिर, अर्जुन, महाबली भीम, नकुल और सहदेव ये क्रमशः ज्येष्ठ कनिष्ठ थे। इस भ्रान्ति को ध्यान में लेकर यदि नीचे लिखे अनुसार श्लोक बनाकर पांच पाण्डवों का निरूपण करते तो कैसा स्वाभाविक होता ?

"युधिष्ठिरो भीमसेनोऽर्जुनश्चापि यथाक्रमम् ।
नकुलः सहदेवश्च; पञ्चैते पाण्डुनन्दनाः ॥"

(३) लेखक ऐतिहासिक, भौगोलिक सीमाओं के अनुभवी नहीं : : :

तीसरे सर्ग के ५ श्लोकों में कवि ने पंचशैलपुर और पंचशैलों का वर्णन किया है। वे कहते हैं—'पंचशैलपुर श्रीमुनिसुव्रत जिन के जन्म से पवित्र बना हुआ है, जो शत्रु की सेना के लिये, पांच पर्वतों से परिवृत होने से दुर्गम है। पांच शैलों में !"पूर्व की तरफ ऋषिगिरि'' है जो चतुरस्र और जल-निर्झरों से युक्त है। यह पर्वत दिग्गज की तरह पूर्व दिशा को सुशोभित करता है। "वैभार पर्वत जो त्रिकोणाकार" है, दक्षिण दिशा को आश्रित हुआ है। इसी प्रकार "विपुल पर्वत भी त्रिकोणाकार" है और नैर्ऋत कोण के मध्य में रहा हुआ है। प्रत्यंचा चढ़ाए हुए धनुष की तरह !"बलाहक" नामक चतुर्थ पर्वत उत्तर, वायव्य, पश्चिम इन तीन दिशाओं में व्याप्त है और पांचवां "!पाण्डुक" पर्वत ईशान कोण में स्थित है।

कवि ने जिसको पंचशैलपुर कहा है वह अर्वाचीन राजगृह नहीं। क्योंकि राजगृह नगर का निवेश राजा बिम्बिसार के पिता प्रसेनजित के समय में हुआ है, जब कि मुनि सुव्रत तीर्थङ्कर का जन्म राजगृह के निर्माण के पूर्व ही हो चुका था। उस समय पांच पर्वतों के बिचला नगर राजगृह अथवा पंचशैलपुर नहीं कहलाता था, किन्तु वह "गिरिव्रज" के नाम से प्रसिद्ध था। कवि का पंच-पर्वत-स्थिति-विषयक वर्णन भी ठीक प्रतीत नहीं होता।

भगवान् महावीर जब कभी राजगृह की तरफ जाते, तब उसके ईशान दिशा विभाग में अवस्थित "गुणशिलक" चैत्य में ठहरते थे। महावीर के

सभी गणधरों ने राजगृह के गुणशिलक उद्यान में ही अनशन करके निर्वाण प्राप्त किया था। तब महावीर के सैकड़ों साधुओं ने वैभार पर्वत और विपुलाचल पर अनशन करके परलोक प्राप्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि महावीर जहां ठहरते थे वहां से वैभार और विपुलाचल निकटवर्ती थे।

११वें सर्ग के ६५वें श्लोक में कवि ने भारत के मध्य-देशों का वर्णन करते हुए सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान्, कोशल, मोक नामक देशों को मध्यदेशों में परिगणित किया है, जो यथार्थ नहीं है। इन नामों में से पहला नाम भी गलत है। देश का नाम सोल्व नहीं किन्तु "साल्व" है और यह प्राचीनकाल में पांच विभागों में बंटा हुआ था और पश्चिम भारत में अवस्थित था। अन्य प्रमाणों से "आवृष्ट" देश के अस्तित्व का ही समर्थन नहीं होता। त्रिगर्त देश भारत के मध्यभाग में नहीं किन्तु नैर्ऋत कोण दिशा में था, ऐसा प्राचीन संहिताओं से पता लगता है। "कौशल" भी उत्तर भारत में माना गया है, मध्यभारत में नहीं और "मोक" देश तो पश्चिम में था। आज के पंजाब से भी काफी नीचे की तरफ, उसको भी मध्यभारत में मानना भूल ही है और "कुणीयस्" देश का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। "काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, माहेभ, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद" इन देशों को पश्चिम दिशा के देश माने हैं। "दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन, और विविहाल" ये विन्ध्याचल के पृष्ठ भाग में थे और "भद्र, वत्स, विदेह, कुशभंग, सैतव, वज्रखण्डिक" ये देश मध्यभारत के सीमावर्ती माने हैं।

पश्चिम दिशा के देशों में भरुकच्छ और सुराष्ट्र ये दो नाम प्रसिद्ध हैं, शेष सभी अप्रसिद्ध हैं। विन्ध्यपृष्ठवर्ति देशों में किष्किन्ध, नैषध और नेपाल के नाम भी असंगत से प्रतीत होते हैं और इनके अतिरिक्त अधिकांश नाम अप्रसिद्ध ही हैं।

आगे ५९वें सर्ग में भगवान् नेमिनाथ के विहार-वर्णन में तीर्थङ्कर के अतिशयों का वर्णन करते हुए लिखा है कि जहां तीर्थङ्कर विचरते हैं

उस भूमिभाग में ईति उपद्रवादि नहीं होते। अहोरात्रादि समय शुभ बन जाता है और "अन्धे रूप देखते हैं, बहरे शब्द सुनते हैं, गूंगे स्पष्ट बोलते हैं और पंगुजन भी जोरों से चलने लगते हैं।" इस निरूपण में कवि ने ७७वें श्लोक में अन्धे रूप देखते हैं इत्यादि जो कथन किया है वह शास्त्रानुसारी नहीं है। तीर्थङ्करों के पुण्य अतिशयों के कारण ईति उपद्रवादि का शान्त होना, नई अशुभ घटनाओं का न होना और ऋतुओं का अनुकूल होना आदि सब ठीक हैं, परन्तु अन्धे व्यक्ति का देखना, बधिर का सुनना, गूंगे का बोलना और पंगु का चलना इत्यादि बातें अतिशय-साध्य नहीं हैं। ऐसी असम्भवित बातों को सम्भवित मानकर तीर्थङ्करों के खरे प्रभाव पर भी लोगों की अश्रद्धा उत्पन्न करना है।

भगवान् नेमिनाथ को सुराष्ट्रा, मत्स्य, लाट सूरसेन, पटच्चर, कुरु जाँगल, कुशाग्र, मगध, अंग-बंग, कलिंगादि अनेक देशों में विहार करा कर कवि मलय देश के भद्दिलपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन में पहुंचाते हैं, परन्तु जैन सूत्रों के आधार से भगवान् नेमिनाथ का विहार सुराष्ट्रा के अतिरिक्त उत्तर भारत के देशों में ही हुआ था। भगवान् स्वयं और उनके शिष्य थावच्चा-पुत्रादि हजारों साधु काश्मीरी घाटियों, हिमालय की श्वेत पहाड़ियों और उनके निकटवर्ती नगरों में विचरते थे। थावच्चापुत्र मुनि, उनके शिष्य शुक परिव्राजक और उनके हजार शिष्य उन्हीं धवल पहाड़ियों पर जो पुण्डरीक पर्वत के नाम से पहिचानी जाती थी, अनशन करके निर्वाण प्राप्त हुए थे। तीर्थङ्कर नेमिनाथ गिरनार पर्वत पर और उनके अनेक शिष्य सौराष्ट्र स्थित "शत्रुञ्जय" पर्वत पर अनशन करके सिद्ध हुए थे। इस परिस्थिति में नेमिनाथ के अंग, वंग आदि सुदूरपूर्ववर्ती देशों में विहार करने का वर्णन करना संगत नहीं हो सकता।

कवि ने तीर्थङ्कर नेमिनाथ को अंग, वंग तक ही नहीं दक्षिण में सुदूर द्रविड़ प्रदेश तक भ्रमण करा दिया है। कृष्ण वासुदेव ने जब पाण्डवों को अपने देश से निर्वासन की आज्ञा दी, तब उन्होंने सकुटुम्ब दक्षिण में जाकर मल्ल देश में मथुरा नामक नगरी बसा कर वहाँ का राज्य करने लगे। कालान्तर में तीर्थङ्कर नेमिनाथ पल्लव देश की तरफ विचरे और

पाण्डवों को प्रतिबोध देकर अपने श्रमण शिष्य बनाए। आचार्य जिनसेन कर्णाटक की तरफ से पश्चिम भारत में आये थे, परन्तु उनके हृदय में दक्षिण भारत के लिये मुख्य स्थान था। इसीलिये इन्होंने दक्षिणापथ की तरफ तीर्थङ्कर को विहार करा कर उस भूमि को पवित्र करवाया; परन्तु उस प्रदेश को पल्लव लिखकर आपने अपने भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान की कमजोरी प्रदर्शित की है। क्योंकि दक्षिण मथुरा के आस-पास का प्रदेश नेमिनाथ के समय पल्लव नाम से प्रसिद्ध होने का कोई प्रमाण नहीं है। दक्षिण प्रदेश में पल्लवों की चर्चा विक्रम की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में शुरु होने और आठवीं शती तक उनका उस प्रदेश में राज्य व्यवस्थित रूप से चलने की इतिहास चर्चा करता है। इस परिस्थिति में नेमिनाथ के समय में मदुरा तथा काञ्जिवरं के आस-पास के प्रदेश की "पल्लव" नाम से प्रसिद्धि नहीं हुई थी और न उस प्रदेश में तब तक सभ्यता का ही प्रचार हुआ था। पाण्डवों के पाण्ड्यमथुरा में भगवान् नेमिनाथ के श्रमणों में से एक स्थविर उस प्रदेश में विहार करके गए थे और उन्हीं के उपदेश से पाण्डवों ने श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली थी और बाद में वे सब सौराष्ट्र की तरफ विहार कर गये थे। जब वे आधुनिक सौराष्ट्र स्थित "शत्रुञ्जय" पर्वत के आस-पास पहुँचे तो उन्होंने सुना कि "उज्जयन्त" पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ का निर्वाण हो चुका है। इस पर से पाण्डवों ने भी शत्रुञ्जय पर जाकर अनशन कर लिया और निर्वाण प्राप्त हुए। श्वेताम्बर साहित्य में नेमिनाथ के विहार और पाण्डवों के प्रतिबोध का वृतान्त उपर्युक्त मिलता है।

(४) आचार्य जिनसेन यापनीय : ।

आचार्य जिनसेन मूल में यापनीय संघीय थे ऐसा हरिवंश के अनेक पाठों से ध्वनित होता है। इन्होंने पुराण की प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—

"व्युत्सृष्टाऽपरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये,
व्याप्तः श्री जिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधेः पुनः।

दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितः श्रीपर्वतः सर्वतो,
व्याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात् पृथिव्यां चिरम् ।।"

'जिसने अन्य संघों की परम्पराओं को त्याग दिया है ऐसे बृहत् पुन्नाट संघ के वंश में व्याप्त हरिवंशपुराण रूप '(श्रीपर्वत" की भवान्तर में बोधिलाभार्थ कवि जिनसेन ने ग्रन्थ-रचना द्वारा सर्व दिशाओं में प्रसिद्ध किया जो पृथ्वी पर सदा स्थिर रहे ।

ऊपर के पद्य में कवि ने दो बातों की सूचना की है—

(१) यह कि कवि जिनसेन के पुन्नाट संघ का पहले यापनीय, कूर्चक, श्वेताम्बर आदि अनेक अन्य संघों के साथ सम्पर्क था जो जिनसेन की पुराणरचना के पहले ही टूट गया था ।

(२) हरिवंश पुराण का कथावस्तु पुन्नाट संघ के वंश में से प्राप्त किया है ।

(१) कवि की अन्य संघों से सम्बन्ध विच्छेद होने की बात बताती है कि प्रस्तुत पुराण का रचनाकाल विक्रम की ११वीं शती के प्रारम्भ का है, पहले का नहीं । क्योंकि विक्रम की दशवीं शती के पूर्वार्ध तक "यापनीय संघ" उन्नति पर था । "अमोघ वर्ष" जैसे इसके सहायक थे, आचार्य "पाल्यकीर्ति (शाकटायन)" जैसे इसके उपदेशक थे । उस समय में यापनीयों का सम्बन्ध अन्य संघों से बना हुआ था । यही कारण है कि उस समय में केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति का समर्थन करने वाले प्रकरण बने थे, परन्तु उसके बाद धीरे धीरे यापनीय संघ का ह्रास होता गया और परिणामस्वरूप विक्रम की १२वीं शती तक इसका अस्तित्व ही नामशेष हो गया था । नग्नता के नाते अधिकांश यापनीय संघ दिगम्बर परम्परा में सम्मिलित हो गया था । कूर्चक आदि छोटे सम्प्रदाय श्वेताम्बरों के अन्तर्गत हो गये । परिणाम यह आया कि इस समय के बाद के लेखों अथवा ग्रन्थों की प्रशस्तियों में से यापनीय संघ और कूर्चक संघ ये नाम अदृश्य हो गये । आचार्य जिनसेन के अनेक उल्लेखों से प्रमाणित होता है

कि पहले वे यापनीय संघ के अन्तर्गत थे। यापनीय श्रमण, कल्पसूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर जैनसूत्रों को मानते थे। इसी कारण से इन्होंने अपने इस पुराण में श्वेताम्बर सूत्र ग्रन्थों के संस्कृत में नाम निर्देश किये हैं। इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो गाथाओं और उनके चरणों के संस्कृत भाषान्तर तक कर दिये हैं।

दशम सर्ग के १३४, १३५, १३६, १३७, १३८ तक के पाँच श्लोकों में अंगबाह्य श्रुत का वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि "दशवैकालिक सूत्र" साधुओं की गोचरचर्या की विधि बतलाता है। "उत्तराध्ययन" सूत्र वीर के निर्वाणगमन को सूचित करता है। "कल्प-व्यवहार" नाम का शास्त्र श्रमणों के आचारविधि का प्रतिपादन करता है और अकल्प्य सेवना करने पर प्रायश्चित्त का विधान करता है। "कल्पाकल्प" संज्ञक शास्त्र कल्प और अकल्प दोनों का निरूपण करता है। "महाकल्प सूत्र" द्रव्य-क्षेत्रकालोचित साधु के आचारों का वर्णन करता है, "पुण्डरीक" नामक अध्ययन देवों की उत्पत्ति का और "महापुण्डरीक" अध्ययन देवियों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाला है और "निषद्यका" नामक शास्त्र प्रायश्चित्त की विधि का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार अंगबाह्य श्रुत का प्रतिपादन किया।

कवि जिनसेन का उपर्युक्त निरूपण अर्धसत्य कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई कोई बात श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार है। तब कोई उसके विरुद्ध भी, "दशवैकालिक" के विषय में इनका कथन श्वेताम्बरीय मान्यतानुगत है, तब उत्तराध्ययन के सम्बन्ध में जो लिखा है वह यथार्थ नहीं। उत्तराध्ययन में महावीर के निर्वाण गमन सम्बन्धी कोई बात नहीं है, परन्तु कल्प सूत्र में ३६ अपृष्ट व्याकरण के अध्ययनों की जो बात कही है, उसके ऊपर से उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन मानकर वीर के निर्वाण गमन की बात कह डाली है। 'कल्प व्यवहार" नामक शास्त्र को एक समझ कर इसका तात्पर्य आपने समझाया, परन्तु वास्तव में "कल्प" तथा "व्यवहार" भिन्न-भिन्न हैं। पहले में प्रायश्चित्तों की कल्पना और दूसरे में उनके देने की मुख्यता है।

"कल्पिका-कल्पिक" नामक शास्त्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अवश्य था परन्तु उसका विच्छेद बहुत काल पूर्व हो चुका है। "महाकल्प" भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अवश्य था; परन्तु इसका भी विच्छेद हुए लगभग १५०० वर्ष हो चुके हैं। देवों तथा देवियों की उत्पत्ति का निरूपण करने वाले ग्रन्थों को जिनसेनसूरि क्रमशः "पुण्डरीक" तथा "महापुण्डरीक" नाम देते हैं, परन्तु यह मान्यता भी आपकी सुनी सुनायी प्रतीत होती है। जहां तक हमने देखा है श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में उपर्युक्त नाम वाले ग्रन्थ नहीं हैं। कवि ने प्रायश्चित्तविधि को बताने वाला "निषद्यका" नाम का शास्त्र बताया है। यह नाम दिगम्बरों में प्रसिद्ध है, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इस ग्रन्थ को "निशीथ" कहते हैं।

१८वें सर्ग के ३७वें श्लोक में "दशवैकालिक" के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध का संस्कृत रूपान्तर बनाकर ज्यों का त्यों रख दिया है।

"दशवैकालिक" की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो" जिनसेनसूरि का उक्त गाथार्ध का संस्कृत-अनुवाद— "धर्मो मंगलमुत्कृष्टमहिंसा संयमस्तपः"।

उक्त प्रकार के पुराणान्तर्गत अनेक प्रतीकों से ज्ञात होता है कि आचार्य जिनसेन और इनके पूर्व गुरु यापनीय संघ में होंगे; अन्यथा श्वेताम्बरों में प्रचलित ग्रन्थ सूत्रों के नाम और उनके प्रतीक इनके पास नहीं होते। मालूम होता है जिनसेन के समय तक इनका श्वेताम्बरीय सम्बन्ध पर्याप्त रूप से छूट चुका था इसीलिये कई सूत्रों की परिभाषाओं के सम्बन्ध में आपने अतथ्य निरूपण किया है। इनके बाद के वसुनन्दी आदि टीकाकार आचार्यों ने वट्टकेर कृत "मूलाचार" की श्वेताम्बरीय सूत्र गाथाओं की व्याख्या करने में बहुत ही गोलमाल किया है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों दोनों सम्प्रदायों के बीच पार्थक्य बढ़ता ही गया।

यद्यपि "जिनसेन" हरिवंशपुराण का कथावस्तु बृहत् पुन्नाट संघ के वंश में से उपलब्ध होने की बात कहते हैं, परन्तु वस्तुतः "हरिवंश का

"कथावस्तु वसुदेवहिण्डी और महापुरुषचरित्र" आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों के आधार से लिया है। यह बात "हरिवंश के कथावस्तु का आधार" नामक शीर्षक के नीचे लिखी जा चुकी है।

(५) जिनसेन के पूर्ववर्ती विद्वान् : : :

आचार्य जिनसेनसूरि ने अपने पुराण के प्रथम सर्ग में अपने पूर्ववर्ती कतिपय विद्वानों का स्मरण किया है, जिनमें समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, शान्तिषेण, प्रभाचन्द्र, प्रभाचन्द्र के गुरु कुमारसेन, वीरसेन गुरु और जिनसेन स्वामी आदि प्रमुख हैं। इनमें आचार्य समन्तभद्र, सूक्तिकार सिद्धसेन, व्याकरण ग्रन्थों के दर्शी देवनन्दी, वज्रसूरि आदि के नाम आने स्वाभाविक हैं। क्योंकि ये सभी आचार्य हरिवंशकार जिनसेन के निसन्देह पूर्ववर्ती थे, परन्तु कतिपय नामों का इस पुराण में स्मरण होना शंकास्पद प्रतीत होता है। कुमारसेन, वीरसेन, महापुराण के कर्ता "जिनसेन और प्रभाचन्द्र" का नाम "हरिवंश पुराण" में आना एक नयी समस्या खड़ी करता है। क्योंकि "महापुराण" के कवि जिनसेन अपने ग्रन्थ में हरिवंशपुराणकार जिनसेन की याद करते हैं; तब "हरिवंश पुराण" में पुन्नाट संघीय कवि जिनसेन, जिनसेन स्वामी की कीर्ति "पार्श्वाभ्युदय" नामक काव्य में करते हैं। इसी प्रकार "हरिवंशपुराण" में "न्यायकुमुदचन्द्रोदय" के कर्ता प्रभाचन्द्र और उनके गुरु आचार्य कुमारसेन का नामोल्लेख होना भी समयविषयक उलझन को उत्पन्न करने वाला है।

भट्टारक वीरसेन ने भी हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन का अपने ग्रन्थ में स्मरण किया है, इसी प्रकार आचार्य वीरसेन ने अपने ग्रन्थ में प्रभाचन्द्र का नाम निर्देश किया है और प्रसिद्ध कवि "धनंजय" की "नाममाला" का अपने ग्रन्थ में एक पद्य उद्धृत किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र और कवि धनञ्जय मालवा के राजा भोज की राजसभा के पण्डित थे। इन सब बातों पर विचार करने से आचार्य वीरसेन भट्टारक, हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन आदि के सत्ता-समय की वास्तविकता

पर अन्धकार फैल जाता है। यदि भट्टारक वीरसेन और पुन्नाट संघीय जिनसेन समकालीन थे तो इन्होंने अपने अपने ग्रन्थों में एक दूसरे के नाम निर्देश कैसे किये ? क्योंकि धवला टीकाकार वीरसेन स्वामी सुदूर दक्षिणापथ में मूड़बिद्री की तरफ विचरते थे और टीकाओं का निर्माण कर रहे थे, तब हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन भारत की पश्चिम सीमा पर **वर्द्धमान नगर** में रहकर "हरिवंशपुराण" की रचना कर रहे थे और इन दोनों आचार्यों की कृतियों की समाप्ति में भी तीन वर्षों से अधिक अन्तर नहीं है। इस परिस्थिति में उक्त आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों में एक दूसरे का उल्लेख होना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

हरिवंशपुराण में आचार्य प्रभाचन्द्र और इनके गुरु कुमारसेन के नाम उपलब्ध होते हैं। इन गुरु-शिष्यों का सत्ता-समय विक्रम की ११वीं शती का द्वितीय चरण हो सकता है।

कवि धनञ्जय जो "धनञ्जयनाममाला" के कर्ता थे और भोज राजा के सभा-पण्डित, इनका समय भी विक्रम की ग्यारहवीं शती के द्वितीय चरण से पहले का नहीं हो सकता।

आचार्य जिनसेन ने अपने "हरिवंशपुराण" के निर्माणकाल में किस दिशा में कौन राजा राज्य करता था इसका निम्नलिखित पद्य में निरूपण किया है—

> "शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां,
> पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
> पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतिनृपे वत्सादिराजेऽपरां;
> सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥"

अर्थात्—जिनसेन कहते हैं—'७०५ संवत्सर बीतने पर उत्तर दिशा का इन्द्रायुध नामक राजा रक्षण कर रहा था। कृष्ण राजा का पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण दिशा का रक्षण कर रहा था। अवन्तिराज पूर्व दिशा का पालन कर रहा था, पश्चिम दिशा का श्रीवत्सराज शासन कर रहा था

और सूरमण्डल अर्थात् सौराष्ट्र-मण्डल का विजयी वीर वराह-धरणी वराह रक्षण कर रहा था।

"कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे,
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरः।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाग्रजनिता प्राजार्चनावर्चने,
शान्तेः शान्तिगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥

अर्थात्—'उस समय कल्याणों से बढ़ते हुए श्री वर्धमानपुर में "नन्नराज वसति" नामक पार्श्वनाथ जिनालय में हरिवंशपुराण को अधिकांश पूरा किया था और शेष रहा हुआ पुराण का भाग "दोस्तटिका" नामक स्थान में शान्तिदायक शान्तिनाथ के चैत्य में रहकर पूरा किया।

आचार्य जिनसेन उक्त ५२वें पद्य के चतुर्थ चरण में सौराष्ट्र-मण्डल के शासक का नाम "वराह" लिखते हैं। पुराण के सम्पादक वराह के साथ "जय" शब्द जोड़कर उसका नाम "जयवराह" बनाते हैं, जो असंगत है। क्योंकि "जयवराह" नामक सौराष्ट्र का शासक कोई राजा ही नहीं हुआ। जिनसेन ने "वराह" शब्द का प्रयोग "धरणिवराह" के अर्थ में किया है, परन्तु "धरणीवराह" के सत्तासमय के साथ पुराणकार का समय संगत न होने के कारण धरणीवराह को छोड़कर "जयवराह" को उसका उत्तराधिकारी होने की कल्पना करते हैं, जो निराधार है। "वराह" यह कोई जातीय नाम नहीं, किन्तु "धरणीवराह" का ही संक्षिप्त नाम "वराह" है।

जिनसेन के उपर्युक्त पद्य में सूचित "इन्द्रायुध" राजा का समय विक्रम संवत् ८४०, वत्सराज पुत्र द्वितीय नागभट का राज्य विक्रम संवत् ८५७–८६३ तक विद्वान् मानते हैं। श्रीवल्लभ का समय विक्रम संवत् ८२७ के लगभग अनुमान करते हैं, तब "धरणीवराह" जो चापवंशीय राजा था उसका सत्ता-समय शक संवत् ८३६ में माना गया है जो विक्रम संवत् ९७१ के बराबर होता है। इस प्रकार हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन का निर्दिष्ट समय इतिहाससंगत नहीं होता।

उपर्युक्त तमाम असंगतियों के निराकरण का उपाय हमको एक ही दृष्टिगोचर होता है और वह है जिनसेन के शक संवत को "कलचुरी संवत्" मानना। आचार्य जिनसेन उसी प्रदेश से विहार कर वर्द्धमान नगर की तरफ आये थे कि जहाँ कलचुरी संवत् ही प्रचलित था। इस दशा में हरिवंशपुराणकार द्वारा कलचुरी संवत् की पसन्दगी करना बिल्कुल स्वाभाविक है। कलचुरी संवत् ईशा से २४९ और विक्रम से ३०६ के बाद प्रचलित हुआ था।

(१) जिनसेन के "हरिवंशपुराण" की समाप्ति ७०५ कलचुरी संवत्सर में हुई थी। इसमें ३०६ वर्ष मिलाने पर विक्रम वर्ष १०११ आयेंगे[1]। इससे "धरणीवराह" और जिनसेन के समय की संगति भी हो जाती है। पुन्नाट संघीय जिनसेन की तरह ही भट्टारक वीरसेन तथा उनके शिष्य स्वामी जिनसेन का समय भी कलचुरी संवत्सर मान लेने पर इनके ग्रन्थों में होने वाले प्रभाचन्द्र, कवि धनञ्जय आदि के निर्देशों की भी संगति बैठ जायगी।

जिस हैहय राजवंश की तरफ से कलचुरी संवत् प्रचलित हुआ था, उसका शृङ्खलाबद्ध इतिहास वि० सं० ९२० के आसपास से मिलता है और इसके पूर्व का कहीं कहीं प्रसंगवशात् निकल आता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि विक्रम की दशवीं शती में कलचुरी संवत् का सब से अधिक व्यवस्थित प्रचार चल पड़ा था। हैहयों के देश में ही नहीं गुजरात के चौलुक्य, गुर्जर, सेन्द्रक और त्रैकूटक के राजाओं के ताम्रपत्रों में भी यही

---

(१) हैहयों का राज्य बहुत प्राचीन समय से चला आता था, परन्तु अब उसका पूरा पूरा पता नहीं लगता। उन्होंने अपने नाम का स्वतन्त्र संवत् चलाया था जो कलचुरी संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु उसके चलाने वाले राजा के नाम का कुछ पता नहीं लगता। उक्त संवत् वि० सं० ३०६ आश्विन शुक्ला १ से प्रारम्भ हुआ और १४वीं शताब्दी के अन्त तक वह चलता रहा। कलचुरियों के सिवाय गुजरात (लाट) के चौलुक्य गुर्जर सेन्द्रक और त्रैकूटक वंश के राजाओं के ताम्र-पत्रों में भी यह संवत् लिखा मिलता है। (भारत के प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग पृ० ३८)

संवत् लिखा जाता था। इससे भी निश्चित होता है कि जिनसेन का ७०५ वर्ष परिमित शक-संवत् वास्तव में कलचुरी संवत् है।

उपर्युक्त मान्यता के अनुसार पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता-समय विक्रम की ११वीं शती तक पहुँचता है जो ठीक ही है। क्योंकि हरिवंशपुराण में ऐसी अनेक बातों के उल्लेख मिलते हैं, जो जिनसेन को विक्रम की ११वीं शती के पहले के मानने में बाधक होते हैं। इस प्रकार के कतिपय उल्लेख उपस्थित करके पाठकगण को दिखायेंगे कि आचार्य जिनसेन की ये उक्तियाँ उन्हें अर्वाचीन प्रमाणित करती हैं।

पुराण के नवम सर्ग में निम्नलिखित समस्यापूर्ति उपलब्ध होती है, जैसे—

"दृष्टं तैमिरिकं कैश्चिदन्धकारेऽपि तादृशे।
स्पर्धमेव हि चन्द्राक्षैः शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥१०६॥"

इस श्लोक का "शतचन्द्रं नभस्तलम्" यह समस्या-पद विक्रमीय १२वीं, १३वीं शती के पूर्ववर्ती किसी साहित्यिक ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इससे जाना जाता है कि उक्त समस्या-पद विक्रम की ११वीं शती के पहले का नहीं है।

पुराण के १४वें सर्ग के २०वें श्लोक में—

"हिन्दोलग्रामरागेण, रक्तकण्ठा धरश्रियः।
दोलाद्यान्दोलनक्रीडा; व्यासक्ताः कोमलं जगुः ॥२०॥"

इस प्रकार हिन्डोल राग दोलान्दोलन क्रीड़ा आदि शब्द अर्वाचीनता-सूचक हैं। प्राचीन साहित्य में सप्तस्वरों का विवरण अवश्य मिलता है, परन्तु हिन्दोल राग, दोलान्दोलन क्रीड़ा आदि शब्द हमने १२वीं शती के पहले के किसी भी साहित्यिक अथवा संगीत के ग्रन्थों में नहीं देखे।

हरिवंश के ४०वें सर्ग के—

"प्रशस्ततिथि-नक्षत्र-योग-वारादि लब्धयः ।
सुलब्धसुकुला भूपा, जग्मुरल्पैः प्रयाणकैः ।।२४।।"

उपर्युक्त श्लोक में तिथि, नक्षत्र, योग के अतिरिक्त "वार" शब्द का प्रयोग किया गया है जो ग्रन्थ की अर्वाचीनता का सूचक है। क्योंकि नयी पद्धति का भारतीय ज्योतिष विक्रम की १०वीं शती के पहले लोकमान्य नहीं हुआ था। सर्वप्रथम तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त प्रचलित थे, फिर करण आया परन्तु वार को कोई नहीं पूछता था। करण के बाद "लग्न" शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त होने लगा, जो नवमी शती के किसी किसी लेख-ग्रन्थ में मिलता है और वार शब्द तो नवमी शती तक भी किसी लेख या प्रशस्ति में दृष्टिगोचर नहीं होता। विक्रम की दशवीं शती के एक-दो लेखों में एक-दो स्थानों में वार शब्द दृष्टिगोचर हुआ है। इससे इतना कह सकते हैं कि "हरिवंशपुराण" की रचना के समय में वार शब्द प्रयोग में आने लगा था।

हरिवंश के ५८वें सर्ग के श्लोक में आया हुआ अविद्या शब्द शंकराचार्य के ब्रह्मवाद के प्रचार के बाद का है। शंकराचार्य का सत्ता-समय विक्रम की नवमी शती में माना गया है। इससे ज्ञात होता है, आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद का सार्वत्रिक प्रचार होने के बाद, आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण की रचना की है।

हरिवंश के ६६वें सर्ग में भारत में दीपावली प्रचलित होने के कारण बताये हैं और तब से दीपावली भारत में होने का लिखा है। दीपावली की इस कथा से भी जिनसेन का यह पुराण अर्वाचीन ठहरता है। श्वेताम्बर साहित्य में दीपावली की कथा १२वी शती के पहले की उपलब्ध नहीं होती।

हरिवंश के कवि आचार्य जिनसेन ने २४ तीर्थङ्करों के शासनदेव-देवियों का सूचन किया है और "अप्रतिचक्रा" तथा "ऊर्जयन्तस्थ अम्बादेवी" का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं बल्कि ग्रह, भूत, पिशाच, राक्षस

आदि जो लोक-विघ्नकारी हैं उनको जिनेश्वर शासनदेवगण अपने प्रभाव और शक्ति से शान्त करें और इच्छित कार्य की सिद्धि दें, ऐसी हरिवंश-पुराणकार ने पढ़ने वालों के लिये आशंसा की है। इस प्रकार देवताओं की आशा और विश्वास १०वीं ११वीं शती के पूर्वकालीन जैन श्रमणों में नहीं था।

पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन की गुरु-परम्परा—

आचार्य जिनसेन ने "हरिवंशपुराण" के अन्तिम सर्ग में अपनी गुर्वावली के नामों की बड़ी सूची दी है। इस सूची के प्रारम्भिक लोहार्य तक के नाम "त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति" आदि अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु इनके आगे के विनयधर, श्रुतगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवीर्य, बलमित्र, देवमित्र, सिंहबल, वीरवित्त, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती और जितदण्ड ये १४ प्रकीर्णक नाम शंका से रहित नहीं हैं। क्योंकि प्रस्तुत पुराण के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ या शिलालेख में इन नामों का क्रमिक उपन्यास नहीं मिलता और इनके आगे के नन्दिषेण से जिनसेन पर्यन्त के १८ अव्यवच्छिन्न सेनान्त नाम हैं। इस नामावली में भी हमको तो कृत्रिमता की गन्ध आती है, क्योंकि सेनान्त नामों की इतनी लम्बी सूची अन्यत्र नहीं मिलती। आचार्य जिनसेन ने अपने "हरिवंशपुराण" में शक संवत् ७०५ का उल्लेख किया है, अर्थात् इस संवत्सर में "हरिवंश-पुराण" की समाप्ति सूचित की है। इनके पूर्ववर्ती सेनान्त नामों में नन्दिषेण यह नाम १८वाँ होता है। प्रति नाम के पीछे उनके सत्ता-समय के २५ वर्ष मान लिये जाएँ, तो भी नन्दिषेण का समय जिनसेन के पहले ४५० वर्ष पर पहुंचता है। परन्तु प्राचीन शिलालेखों तथा ग्रन्थों में सेनान्त नामों का कहीं नाम-निशान नहीं मिलता।

इस विषय में डा० गुलाबचन्द्रजी चौधरी लिखते हैं—

"यद्यपि लेखों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मूलगुण्ड से प्राप्त नं० १३७ (सन् ६०३) में हुआ है, पर इसके पहले नवमी शताब्दी के उत्तरार्ध (सन् ८६८ के पहले) में उत्तरपुराण के रचयिता गुणचन्द्र ने अपने गुरु

जिनसेन और दादागुरु वीरसेन को सेनान्वयी कहा है। पर जिनसेन और वीरसेन ने "जयधवला" और "धवला टीका में" अपने वंश को पंचस्तूपान्वय लिखा है। यह "पंचस्तूपान्वय" ईसा की पांचवीं शताब्दी में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साधुओं का एक संघ था। यह बात पहाड़पुर (जिला राजशाही, बंगाल) से प्राप्त एक लेख से मालूम होती है। पंचस्तूपान्वय का सेनान्वय के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख गुणभन्द्र ने अपने गुरुओं के सेनान्त नामों को देखते हुए किया है। इससे हम कह सकते हैं, गुणभद्र के गुरु जिनसेनाचार्य इस गण के आदि आचार्य थे।"

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित होता है कि 'सेन-गण' और 'सेनान्त' नामों का जन्म विक्रम की १०वीं शती में हुआ था। इस दशा में हरिवंशपुराणकार जिनसेन की गुरु-परम्परा-नामावली पर कहां तक विश्वास किया जाय इस बात का निर्णय पाठकगण स्वयं कर सकते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में गणधर सुधर्मा से देवर्द्धिगणि पर्यन्त २७ श्रुतधरों में ६८० वर्ष पूरे होते हैं, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय इन्द्रभूति से लोहाचार्य पर्यन्त के २८ पुरुषों में ६८३ वर्ष व्यतीत करता है और इसमें ३ केवलियों के ६५, ५ चतुर्दश पूर्वधरों के १००, ११ दश पूर्वधरों के १८३; ५ एकादशांगधरों के २२०, ४ आचारांगधरों के ११८ सब मिलाकर ६८३ वर्ष पूरे किये जाते हैं। यह कालगणना स्फुट और निःसन्देह नहीं है। दिगम्बरीय मान्यतानुसार इन्द्रभूति गौतम भी केवलियों में परिगणित हैं। श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार गौतम को और इनके ८ वर्ष केवलि-पर्याय के हटा देने पर शेष नाम २७ और सत्ता-समय के वर्ष ६७५ रहते हैं जो कम ज्ञात होते हैं। गुरु-शिष्य क्रम से गिनने से ६—७ नाम बढ़ते हैं, मुकाबिले में वर्ष घटते हैं। पर अनुयोगधरों के क्रम से वर्षों का घटना गणना की अनिश्चितता का सूचक है। गुरु-शिष्य के क्रमानुसार देवर्द्धि ३४वें पुरुष थे, पर अनुयोगधर क्रम से २७वें पुरुष और समय दोनों क्रमों में वही है ६८० वर्ष परिमित। इस हिसाब से दिगम्बरीय गणना के आधार से २८ युगप्रधानों का समय ६८३

वर्ष होना कम है। आचार्य जिनसेन की गुर्वावली के हर नाम गुरु शिष्य क्रम से मान लिये जायें तो भी इनके सत्ता-समय के वर्ष प्रति पीढ़ी २५ मानने पर भी ८०० मानने पड़ेंगे। ६८३–८००–१४८३ होंगे, इनमें से ४७० वर्ष बाद देने पर शेष १०१३ रहेंगे और इस परिपाटी से भी पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता-समय विक्रम की ग्यारहवीं शती का प्रथम चरण ही सिद्ध होगा।

निबन्ध-निचय

चतुर्थ खण्ड

卐 卐

वैदिक साहित्य
का
अवलोकन

卐

: ४० :

श्री कौटिलीय-अर्थशास्त्र

आचार्य चाणक्यप्रणीत

❖

"कौटिल्य-अर्थशास्त्र" मौर्य चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री श्री कौटिल्य-प्रसिद्ध नाम चाणक्य की संस्कृत कृति है। इसमें राजनीति का सांगोपांग निरूपण किया गया है। राज्य, अमात्य, पुरोहित, मंत्रीमण्डल तथा भिन्न भिन्न कार्याध्यक्षों के निरूपण बड़ी सूक्ष्मता से किये हैं। देश की आबादी, आय-व्यय के मार्ग, देश-व्यवस्था को अच्छे ढंग से करने के अनेक तरीके, प्रकट तथा गुप्तचर दूतों के प्रकार, उनकी कार्यप्रणालियाँ, सैन्य के विभाग, स्कन्धावारनिवेश, युद्ध के समय अनेक प्रकार के सैन्य-व्यूह और शत्रु को परास्त करने के लिये अनेक उपायों का निरूपण किया गया है। इतना ही नहीं, दीवानी तथा फौजदारी कार्यों के निपटारे के लिए, दीवानी; फौजदारी न्यायों का बड़ी छानबीन के साथ निरूपण किया है। जहां जहां अन्य आचार्यों के मतभेद पड़ते थे, वहां उनके मतों का नामपूर्वक उल्लेख करके अपना मन्तव्य प्रकट किया है। बार्हस्पत्य, औशनस, पाराशर्य, अर्थशास्त्रों को मानने वालों का निर्देश तो स्थान-स्थान पर किया ही है, परन्तु अन्य अर्थशास्त्रकारों के मतों का भी अनेक स्थानों पर निर्देश किया है। भारद्वाज, विशालाक्ष, कौणपदन्त, पिशुन, पिशुनपुत्र तथा आचार्य का मतनिर्देश करके समालोचना की है। सब से अधिक "इति आचार्याः, नेति कौटिल्यः" इत्यादि आचार्य के नाम का बार-बार उल्लेख कर उनसे अपना विरोध प्रकट किया है। इन नामोल्लेखों से पाया जाता है कि कौटिल्य के समय में इन सभी आचार्यों के बनाये हुए प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रतिपादन करने वाले "अर्थशास्त्र" विद्यमान होंगे। उक्त

नाम के आचार्यों द्वारा निर्मित "अर्थशास्त्र" अब विद्यमान होंगे या नहीं यह कहना कठिन है। शुक्रनीति तथा बृहस्पतिनीति के प्रतिपादक जो छोटे-छोटे ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब पढ़े हैं, परन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के सामने उनका कोई महत्त्व नहीं। कौटिल्य ने अपना यह ग्रन्थ पन्द्रह अधिकरणों, १५० अध्यायों और १८० प्रकरणों में पूरा किया है। ग्रन्थ का कलेवर ६००० अनुष्टुप् श्लोकों के बराबर गद्य से सम्पूर्ण बना दिया है।

ग्रन्थ के अधिकरणों के शीर्षकों के पढ़ने से ही पाठकगण को अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा कि कौटिल्य ने इस ग्रन्थ में किन किन विषयों का प्रतिपादन किया है।

अधिकारों के शीर्षक—

(१) विनयाधिकरण
(२) अध्यक्ष-प्रचाराधिकरण
(३) धर्मस्थीयाधिकरण
(४) कण्टकशोधनाधिकरण
(५) योगवृत्ताधिकरण
(६) मण्डलयोनिअधिकरण
(७) षाड्गुण्य अधिकरण
(८) व्यसनाधिकारिकाधिकरण
(९) अभियास्यत्कर्माधिकरण
(१०) संग्रामिकाधिकरण
(११) संघ-वृत्ताधिकरण
(१२) आबलीयसाधिकरण
(१३) दुर्गलम्भोपायाधिकरण
(१४) औपनिषदिकाधिकरण
(१५) तन्त्रयुक्ति-अधिकरण

अर्थशास्त्र की पुस्तक के अन्त में "चाणक्यसूत्र" मुद्रित हैं, जिनके पढ़ने से चाणक्य की राजनीति का अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। "ये

धर्म को दयामूलक मानते हैं और सुख का मूल धर्म को"। फिर भी इनकी दृष्टि में अर्थवर्ग सब से आगे है, ऐसा इनके अनेक उल्लेखों से जान पड़ता है। इतना ही नहीं, चाणक्य-सूत्रों में अनेक ऐसे सूत्र हैं जिन्हें जीवन में उतारकर मनुष्य सुखी ही नहीं एक नीतिज्ञ पुरुष बन सकता है। इन सूत्रों के पढ़ने से पाठकों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता।

卐 卐

: ४१ :

सांख्यकारिका

ईश्वरकृष्ण–विरचिता

माठरवृत्तिसहिता

"सांख्य-कारिका" सांख्यदर्शन का मौलिक बोध कराने के लिए बहुत ही उपयोगी कृति है, जो सांख्यदर्शन के प्राचीन "षष्ठितन्त्र" सिद्धान्त के अनुसार बनाई गई है। इसमें कुल ७३ कारिकाएँ हैं।

"सांख्य-कारिका" को "माठरवृत्ति" के निर्माण के समय तक सांख्य-दर्शन का संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार से था—

बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच भूत तथा तन्मात्राएँ, पाच स्थूल शरीर, प्रकृति और पुरुष इन २५ तत्त्वों के ज्ञान से सांख्य-दर्शन में आत्मा का अपवर्ग अर्थात् मोक्ष माना गया है। जब तक आत्मा अपना स्वरूप नहीं जान पाता तब तक वह आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तापों को अनुभव करता है। जन्म-मरण के दुःखों को भोगता रहता है। आठ प्रकार के देवगति सम्बन्धी, पांच प्रकार के पशुपक्षी स्थावरादि तिर्यञ्च गति सम्बन्धी और एक विध ब्राह्मण से लेकर चण्डाल तक के मनुष्य भव सम्बन्धी सुख-दुःखों को भोगता है। देवगति में सात्विक गुणों की प्रधानता रहती है। तिर्यग्गति में तमोगुण की और मनुष्यगति में रजोगुण की प्रधानता और शेष दो गुणों की गौणता रहती है।

सांख्य-दर्शन का आत्मा अथवा पुरुष प्रतिशरीर भिन्न होता है। वह कर्त्ता न होने पर भी प्रकृति के विकारों में फंसा होने से औपचारिक रूप से सुख-दुःख का भोक्ता माना गया है।

सांख्य-दर्शन काल, स्वभाव अथवा ईश्वर को जगत्कर्त्ता नहीं मानता। जगत् की रचना, प्रकृति के विकारों से होती रहती है।

सांख्य-दर्शन में कतिपय शब्द जैन पारिभाषिक शब्दों से मिलते-जुलते हैं, जैसे—"सम्यग्-ज्ञान, केवल-ज्ञान" आदि। मोक्ष के लिए "कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष" आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है।

सांख्य-दर्शन का प्रतिपादक शास्त्र "षष्टितन्त्र" कहलाता है। इसका कारण (६०) साठ पदार्थों का प्रतिपादन है। वे साठ पदार्थ ये हैं—(१) अस्तित्व, (२) एकत्व), (३) अर्थत्व, (४) पारार्थ्य, (५) अन्यत्व, (६) निवृत्ति, (७) योग, (८) वियोग, (६) पुरुषबहुत्व, (१०) स्थितिः। पांच विपर्यय, २८ अशक्ति, ६ तुष्टि, ८ सिद्धि। इन साठ (६०) पदार्थों का वृत्तिकार ने वृत्ति में परिचय दिया है।

सांख्य-दर्शन में प्रमाण तीन माने गये हैं—प्रत्यक्ष (चाक्षुषज्ञान), अनुमान (शेष इन्द्रिय जन्य) और आगम (ब्रह्मादि वाक्यात्मक वेद, सनकादि वाक्यात्मक शास्त्र आप्त वाक्य)।

मूल कारिकाकार ईश्वरकृष्ण एक प्राचीन दर्शनकार हैं। इनका निश्चित समय जानने में नहीं आया। वृत्तिकार माठराचार्य का समय विक्रम की पांचवीं शती का उत्तरार्ध होना अनुमान करते हैं, यह इनका पूर्ववर्ती समय का स्तर है। इससे अर्वाचीन हो तो आश्चर्य नहीं। वृत्ति में उपनिषत्कारों के वेदान्त का एक दो स्थल पर उल्लेख अवश्य आया है, परन्तु शंकराचार्य के ब्रह्मवाद का प्रचार होने के पूर्व की यह वृत्ति है यह निश्चित है।

माठराचार्य वैदिक यज्ञादिक के कट्टर विरोधी थे, ऐसा इनके "यूपं छित्त्वा" इत्यादि श्लोकों के पढ़ने से ज्ञात होता है। फिर भी माठराचार्य ने "पातञ्जल योगशास्त्र" की बातों के उल्लेख किये हैं, इससे ज्ञात होता है ये पतञ्जलि के मत से अनुकूल थे।

माठराचार्य ने अपनी वृत्ति में सांख्य-दर्शन के उपदेशकों की परम्परा इस प्रकार लिखी है—"महर्षि कपिल—आसुरि—पंचशिख—भार्गव—उलूक—वाल्मीकि—हारित—देवल" इत्यादि से ज्ञान आया तथा ईश्वरकृष्ण ने प्राप्त किया।

卐 卐

: ४२ :

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य

शंकराचार्य विरचित

❖

शांकर भाष्य बादरायण (महर्षि व्यास) कृत ब्रह्म-प्रतिपादक सूत्रों पर विस्तृत भाष्य है। इसे शारीरिक मीमांसा-भाष्य भी कहते हैं; इसके प्रथम अध्याय में निर्गुण सगुण आदि ब्रह्म के स्वरूप का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया है।

दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य, कणाद, योगादि दर्शनों की चर्चा करके, उनसे ब्रह्मवाद का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया है। दूसरे पाद में सांख्य; कणाद, परमाणुवाद, ईश्वरकारणिक, चार्वाक, मीमांसक और बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, आर्हत दर्शन के स्याद्वाद, सप्तभंगी, भागवत, पाशुपत मतों की मीमांसा करके सब को दोषयुक्त बताया है। तीसरे पाद में महाभूतों की उत्पत्ति, सृष्टिसर्ग-प्रलय आदि बातों की मीमांसा की है और इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अभिप्राय व्यक्त करने वाले उपनिषद्-वाक्यों का समन्वय करने की चेष्टा की गई है। आश्मरथ, औडुलोमि, काशकृत्स्न आदि आचार्यों के मतों का निर्देश करके, जिनके साथ अपने मत का साम्य देखा उसे श्रुति-सम्मत ठहराया और अन्यान्य मतों की उपेक्षा की है। चतुर्थ पाद में इन्द्रियादि पदार्थों का निरूपण करने वाले परस्पर विरोधी श्रुतिवाक्यों का समाधान करने की चेष्टा की गई है।

तीसरे अध्याय के प्रथम पाद में, जीव के परलोकगमन सम्बन्धी चर्चा करके वैराग्य का प्रतिपादन किया है। दूसरे पाद में "तत्" तथा "त्वम्" शब्दों की व्याख्या की है। तीसरे के तीसरे पाद में भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं के मन्तव्यों का निरूपण करते हुए उनके पारस्परिक

विरोधों का समन्वय करने की कोशिश की है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म के बहिरंग साधनों की और आश्रमों की चर्चा कर उनकी आवश्यकता बताई है।

चौथे अध्याय के चारों पदों में निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म की उपासना और उससे होने वाले स्वर्गीय तथा मुक्त्यात्मक फलों का प्रतिपादन किया है।

आचार्य की प्रतिपादन शैली प्रौढ़ है। अपने मन्तव्य के विरुद्ध जो जो बातें और सिद्धान्त दीख पड़े उन सभी का खण्डन किया है। इस खण्डन में सब से अधिक कटाक्ष सांख्य दर्शन पर किये हैं, तब सबसे कम आर्हत, भागवत और पाशुपत सम्प्रदायों पर। अपना दर्शन निर्विरोध और व्यवस्थित बनाने के लिए पर्याप्त श्रम किया है। लगभग सभी उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मण ग्रन्थों को छान डाला है। उनमें प्रयुक्त पारस्परिक विरुद्ध सिद्धान्तों को एक मत बनाने के लिए पर्याप्त श्रम किया है, फिर भी इस प्रयास में वे अधिक सफल नहीं हो सके हैं। कई वाक्यों तथा शब्दों की व्याख्या करने में इन्होंने केवल अपनी कल्पना से काम लिया है। "वैदिक-निरुक्त, निघण्टु और लौकिक शब्दकोषों" की सहायता न होने और कल्पना मात्र के बल से शब्दों का अर्थ लगाकर किया गया समन्वय अथवा विरोधों का परिहार कहां तक सफल हो सकता है, इस बात पर पाठकगण स्वयं विचार कर सकते हैं।

आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में अधिकांश नामोल्लेख प्राचीन वैदिक आचार्यों के ही किये हैं, फिर भी कुछ उल्लेख ऐसे भी आये हैं कि उल्लिखित व्यक्ति विक्रम की ७ शती के परवर्ती हैं। अष्टम शताब्दी के "जैनाचार्य हरिभद्रसूरि, भट्टाकलंक, कुन्दकुन्दाचार्य" आदि के ग्रन्थों में बौद्धों के विज्ञान-वाद आदि का खण्डन प्रचुर मात्रा में मिलता है, परन्तु आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद का नामोल्लेख तक उन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। हाँ दशवीं तथा ग्यारहवीं शती के जैन दार्शनिक ग्रन्थों में ब्रह्माद्वैतवाद का खण्डन अवश्य मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि शंकरांचार्य का

सत्तासमय विक्रम की अष्टम शती के बाद और दशवीं शती के पहले होना चाहिए। प्रस्तुत भाष्य के पुस्तक के टाइटल पेज के पास ही इनका फोटु दिया है जिस पर इनका उद्भव काल ८४५ बताया है। फोटो पर का संस्कृत लेख नीचे उद्धृत किया जाता है—

"अथैतेषां श्रीमच्छंकरभगवत्पादानां प्रादुर्भावसमय: कलिगताब्दा: ३८, ८६ वैक्रम: संवत् ८४५ निर्णीतमिदं शंकरमन्दारमन्दरसौरभे—

"प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या–
मेकादशाधिक-शतोनचतु: सहस्त्याम् ।।"

ऊपर के लेख से यह निश्चित हो जाता है कि "शंकराचार्य का जन्म नवमी शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ और प्रस्तुत भाष्य तथा अन्यान्य ग्रन्थ रचनाएँ विक्रम की नवमी शती के अन्त में हुई हैं।" इसमें विशेष शंका नहीं रहती।

卐 卐

: ४३ :

स्मृतिसमुच्चय

स्मृतिसमुच्चय पुस्तक में कुल २७ स्मृतियाँ हैं, जिनके अवलोकन का सार क्रमशः नीचे मुजब है—

(१) अंगिरा-स्मृति :

अंगिरा-स्मृति प्राचीन मालूम होती है, १६८ श्लोकों में समाप्त हुई है।

(२) अत्रि-संहिता :

अत्रि-संहिता यों तो प्राचीन ही ज्ञात होती है, फिर भी अंगिरा-स्मृति के पीछे की ही हो सकती है। इसका कर्ता दाक्षिणात्य ब्राह्मण हो तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि एक स्थल पर मागध, माथुर, कानन (कान्य-कुब्जी) आदि ५ ब्राह्मणों को अपूज्य होने का उल्लेख किया है। इस संहिता में कुल ४०० पद्य हैं।

(३) अत्रि-स्मृति :

अत्रिस्मृति में कुल अध्याय ६ और श्लोक १५४ हैं।

(४) आपस्तम्ब-स्मृति :

आपस्तम्ब-स्मृति में कुल अध्याय १० और श्लोक २०१ हैं।

(५) औशनस-स्मृति :

इस स्मृति में कुल ५१ श्लोक हैं। इसमें चार वर्ण के स्त्री-पुरुषों के अनुलोम प्रतिलोम संयोग से उत्पन्न होने वाली अनेक जातियों का निरूपण किया है।

(६) गोभिल-स्मृति :

इस स्मृति के तीन प्रपाठकों और कण्डिकाओं के मिलकर ४६१ श्लोक हैं।

(७) दक्ष-स्मृति :

इस स्मृति के सात अध्याय हैं और कुल श्लोक २२१ हैं।

(८) देवल-स्मृति :

देवल-स्मृति में कुल ६० श्लोक हैं। यह प्राचीन भी ज्ञात होती है।

(९) प्रजापति-स्मृति :

इस स्मृति में कुल १९८ श्लोक हैं। स्मृति में एक स्थान पर दिन-वार का उल्लेख होने से यह स्मृति नवमी शती के आसपास की अथवा पीछे की भी हो सकती है।

(१०) बृहद्यम-स्मृति :

इस स्मृति में १८२ श्लोक हैं तथा ५ अध्याय हैं।

(११) बृहस्पति-स्मृति :

इस स्मृति में ८० श्लोक हैं तथा पुरानी भी लगती है।

(१२) यम-स्मृति :

इस स्मृति में ९९ श्लोक हैं।

(१३) लघु विष्णु-स्मृति :

इसमें ११४ श्लोक हैं तथा ५ अध्याय।

(१४) लघु शंख-स्मृति :

इसमें ७१ श्लोक हैं।

(१५) (लघु) शातातप-स्मृति :

इसमें १७३ श्लोक हैं।

(१६) लघु हारीत-स्मृति :

इसमें ११७ श्लोक हैं।

(१७) लघ्वाश्वलायन-स्मृति :

इसमें २४ प्रकरण हैं तथा ७४२ श्लोक हैं।

(१८) लिखित-स्मृति :

इस स्मृति में ६६ श्लोक हैं।

(१६) वसिष्ठ-स्मृति :

इसमें ३० अध्याय और ७७६ श्लोक हैं।

(२०) वृद्ध शातातप-स्मृति :

इसमें ६८ श्लोक हैं।

(२१) वृद्धहारीत-स्मृति :

इसमें ११ अध्याय तथा २७६१ श्लोक हैं।

हारीत-स्मृति संभवतः दाक्षिणात्य वैष्णव सम्प्रदायों की उत्पत्ति के बाद की ग्यारहवीं बारहवीं शती की बनी हुई प्रतीत होती है। इसमें गोपीचन्दन का भी उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं अन्य वैदिक शैव, सम्प्रदायों पर भी स्थान-स्थान पर कटाक्ष किये हैं और उन्हें **लोकायतिक** तक कह डाला है।

(२२) वेदव्यास-स्मृति :

केवल चार अध्याय तथा २७५ श्लोक हैं।

(२३) शंखलिखित-स्मृति :

इसमें ३२ श्लोक हैं।

(२४) शंख-स्मृति :

पृ० ३७५—"षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो, जाते वै जातकर्म च।
आशौचे च व्यतिक्रान्ते, नामकर्म विधीयते ॥२॥"

इसमें श्लोक ३७३ हैं और १८ अध्याय हैं।

(२५) शातातप-स्मृति :

इस स्मृति में २६५ श्लोक हैं तथा छः अध्याय हैं और विषय कर्मविपाक है।

(२६) संवर्त-स्मृति :

इसमें २३० श्लोक हैं ।

(२७) बौधायन-स्मृति :

इसमें १६६५ श्लोक हैं; चार प्रश्नों में पूरी हुई है । जिसकी समाप्ति में "बौधायनधर्मशास्त्रम् समाप्तम्" ऐसा उल्लेख है । यह वास्तव में धर्मशास्त्र ही है, चार वर्ण के धर्म तथा आचार का इसमें बहुत ही विशद रूप से वर्णन किया गया है । यह स्मृति अन्य स्मृतियों की अपेक्षा विशेष प्राचीन ज्ञात होती है ।

卐 卐

: ४४ :

आह्निक - सूत्रावली

पृ० १२२—अष्टत्रिंशदुपचारा-ज्ञानमालायाम् :

"अर्घ्यं पाद्यमाचमनं मधुपर्कमुपस्पृशम् ।
स्नानं नीराजनं वस्त्र-माचामं चोपवीतकम् ॥
पुनराचमनं भूषा-दर्पणालोकनं ततः ।
गन्ध-पुष्पे धूपदीपौ, नैवेद्यं च ततः क्रमात् ।
पानीयं तोयमाचामं, हस्तवासस्ततः परम् ॥
(हस्तवासः—करोद्वर्तनम्)।
ताम्बूल-मनुलेपं च, पुष्पदानं ततः पुनः ॥
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं, स्तुतिं चैव प्रदक्षिणाः ।
पुष्पाञ्जलि-नमस्कारावष्टत्रिंशत्समीरिताः ॥"

षोडशोपचार-पूजामन्त्राः बृहत्पाराशरसंहितायाम् :

आद्ययावाहयेद्देवमृचा तु पुरुषोत्तमम् ।
द्वितीययासनं दद्यात्पाद्यं चैव तृतीयया ॥
अर्घश्चतुर्थ्या दातव्यः पंचम्याऽऽचमनं तथा ।
षष्ठ्या स्नानं प्रकुर्वीत, सप्तम्या वस्त्रधौतकम् ॥
यज्ञोपवीतं चाष्टम्या, नवम्या गन्धमेव च ।
पुष्पं देयं दशम्या तु, एकादश्या च धूपकम् ॥
द्वादश्या दीपकं दद्यात्त्रयोदश्या निवेदनम् ।
चतुर्दश्या नमस्कारं, पंचदश्या प्रदक्षिणाः ॥
षोडश्योद्वासनं कुर्याच्छेषकर्माणि पूर्ववत् ।

तच्च सर्वं जपेद्भूयः पौरुषं सूक्तमेव च ॥

पृ० १२३—"सिद्धार्थमक्षतांश्चैव, दूर्वां च तिलमेव च ।
यव "गन्ध" फलं पुष्प-मष्टाङ्गं त्वर्घ्यमुच्यते ॥"

पृ० १३८—देवप्रतिमायां नित्यस्नानविचारः प्रयोगपारिजाते :

प्रतिमा-पट्ट-यन्त्राणां, नित्यस्नानं न कारयेत् ।
कारयेत् पर्वदिवसे यदा वा मलधारणम् ॥

पृ० १३९—पंचामृतम् :

धन्वन्तरिः गव्यमाज्यं, दधि क्षीरं समाक्षिकं ।
शर्करान्वितमेकत्र दिव्यं पंचामृतं परम् ॥

पृ० १४१—देवे गन्धानुलेपनम्, कालिकापुराणे वाचस्पतौ :

चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा, दाहकर्षित एव वा ।
रसः संमर्दजो वापि, प्राण्यङ्गोद्भव एव वा ॥
गन्धः पंचविधः प्रोक्तो, देवानां प्रीतिदायकः ।

पृ० १४२—'पूजायां ग्राह्यपुष्पाणि' स्मृत्यन्तरे :

समित्पुष्प-कुशादीनि, ब्राह्मणः स्वयमाहरेत् ।
पंकजं पंचरात्रं स्याद्दशरात्रं च बिल्वकम् ॥
एकादशाहं तुलसी, नैव पर्युषिता भवेत् ।
जाती शमी कुशाः कंगु मल्लिका करवीरजम् ॥
नागपुन्नागकाऽशोक-रक्तनोलोत्पलानि च ।
चम्पकं बकुलं चैव, पद्मं बिल्वं पवित्रकम् ॥
एतानि सर्वदेवानां; संग्राह्याणि समानि च ।

पृ० १४३—'वर्ज्यपुष्पाणि' भविष्ये :

कृमिकीटावपन्नानि, शीर्णपर्युषितानि च ।
स्वयं पतितपुष्पाणि, त्यजेदुपहृतानि च ॥

(पाद टिप्पणिकायाम् (१) अयं नियमस्तु षडंगुलोर्ध्वप्रतिमादिषु बोद्धव्यः । यदि षडंगुलन्यूना प्रतिमा वर्तते तर्हि तां नित्यमेव स्नापयेत् ।)

मुकुलैर्नार्चयेद्देवमपक्वं न निवेदयेत् ।
शूद्रानीतैः क्रयक्रीतैः, कर्म कुर्वन्पतत्यधः ।।

पृ० १४४—'दीपम्' कालिकापुराणे :

न मिश्रीकृत्य दद्यात्तु, दीपं स्नेहे घृतादिकम् ।
घृतेन दीपकं नित्यं, तिलतैलेन वा पुनः ।।
ज्वालयेन्मुनिशार्दूल ! सन्निधौ जगदीशितुः ।
कार्पासवर्तिका ग्राह्या, न दीर्घा न च सूक्ष्मका ।।

आह्निक-सूत्रावलि कर्मकाण्ड का एक संग्रह ग्रन्थ है। इसका निर्माण पं० विट्ठलात्मज नारायण ने सन् १६५३ में किया है तथा श० सं० १८७५ में। आज तक इसकी ग्यारह आवृत्तियां निकल चुकी हैं ।

शुद्धिपत्रक :

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
भट्टौ	भट्टी	३	२
सता	सत्ता	३	२६
वृत्ति	वृत्ति	६	१
चाय	चार्य	८	१३
अनुष्टुप	अनुष्टुप्	६	६
भाषा में	भाषा के	६	८
वृतान्त	वृत्तान्त	६	१०
विधपिक्ष	विधिपक्ष	११	२१
पहीं	नहीं	१३	२२
पतद्गृह	पतद्ग्रह	१४	२६
रजोहर	रजोहरण	१५	१०
जाहिर	जाहिरात	२३	२२
भक्ति	शक्ति	२५	८
लभ का	लभ को	२५	१०
जार्णो	जीर्णो	२८	४
क्रूर	कर	२८	१६
बिम्बों	बिम्बों के	२६	५
शिल	शिला	२६	१०
उत्तेजिन	उत्तेजित	३०	२२
अस्थिर	अस्थि	३१	२३
किसो	किसी	३४	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
सम्यक्क	सम्यक्	३६	१
चरित्र	चारित्र	३६	१
यन्त्रों	मन्त्रों	३६	१८
चरित्र	चारित्र	३७	१
चिनेभ्य:	जिनेभ्य:	३७	६
गुरू	गुरु	३७	७
गुरू	गुरु	३७	८
करों	करो	३७	६
प्रतिष्डित	प्रतिष्ठित	३७	१६
उज्ववल	उज्ज्वल	३७	१८
जिर्जरा	निर्जरा	३७	१६
हीकार	ह्लींकार	३७	२१
गुरू	गुरु	३७	२३
गुरू	गुरु	३७	२५
प्रज्ञष्या	प्रज्ञप्त्या	३७	२७
निदिष्ट	निर्दिष्ट	३८	१०
पैत्रिक	पैतृक	३८	१५
सांक्षिप्त	संक्षिप्त	३८	१८
वेढ़िका	वेदिका	३८	२१
पुकार	प्रकार	३६	२३
संविन्ग	संविग्न	४०	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
खोचड़ी	खीचड़ी	४१	१
कोडी	कोडी	४१	१५
बर्ष	वर्षों	४१	२५
वषों	वर्षों	४२	६
पट्ट	पट्ट	४२	२६
प्रचिलत	प्रचलित	४३	४
टिल	टल	४३	८
टिल	टल	४३	१०
श्लाक	श्लोक	४३	१६
चतुर्विशति	चतुर्विंशति	४३	१७
हुए ने	हुए वे	४४	२
खन को	खन की	४४	१९
होते	होना	४४	२३
पइट्ठियु	पइट्ठिउ	४५	१२
उ स य	उ सा य	४५	२४
झना	झना	४६	१
किरिटो	किरिटी	४६	१७
बार	बारह	४७	६
परि	पारि	४७	११
प्रची	प्राची	४७	१२
स्थान	स्थानों	४७	१८
हृता	हृता:	४८	१
सत्तर	सत्र	४८	१८
कुरुकुल्ल	कुरुकुल्ला	५०	३
कुरू	कुरु	५०	८
ह्रीं श्री	ह्रीं श्रीं	५०	२४
ह्रीं	ह्रीं	५०	२७
कीनि	कीर्त्ति	५१	६
ग्राम	ग्रामा	५१	२२
वक्र	चक्र	५२	६
प्राम्भिक	प्रारम्भिक	५२	२७
वारूण	वारुण	५३	१
म्बिल ती	म्बिल की	५३	१७
है, कि	है, न कि	५३	२१
वह	यह	५४	१५
पदी	पद	५४	१७
माहत्म्य	माहात्म्य	५६	२
पदाथो	पदार्थों	५७	१
निन्द्यादि	निन्द्वादि	५७	६
साघता	साधना	५७	७
सम्यक्	सम्यक्त्व	५८	२
सिद्ध	सिद्धसेन	५९	३
घोपण	घोषणा	५९	१८
गुरू	गुरु	६२	३
पन्यासो	पन्यासों	६२	७
पन्यासों	पंन्यासों	६२	९
घटाओं	घटनाओं	६२	२३
गुरू	गुरु	६३	९
जुदे	जुदा	६३	९
रण के	रण से	६३	१६
पार्टो	पार्टी	६३	१८
गुरू	गुरु	६४	१२
गुरू	गुरु	६४	१४
गुरू	गुरु	६४	१६
गुरू	गुरु	६५	११
वृतान्त	वृत्तान्त	६५	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
साधुओं का	साधुओं को	६५	१५
गुरू	गुरु	६५	१६
दैव	देव	६५	२१
संविज्ञ	संविग्न	६६	१४
संविज्ञ	संविग्न	६६	२०
ही चुको	हो चुकी	६६	२२
संविज्ञ	संविग्न	६६	२६
संविज्ञ	संविग्न	६६	२७
संविज्ञ	संविग्न	६७	२
रगों	सभों	६७	१८
इप	उग	६७	१९
नडी	नहीं	६७	२०
गुरू	गुरु	६८	१६
सम्बन्धियो	सम्बन्धियों	७०	१८
ङ्करों ने	ङ्करों के	७३	१६
कजी ने	कजी के	७५	११
गुरुत्व	गुरुतत्त्व	७७	६
तत्व	तत्त्व	७७	११
तत्व	तत्त्व	७७	१६
श्चितों	श्चित्तों	७७	२०
श्चितों	श्चित्तों	७८	४
तत्व	तत्त्व	७८	५
तत्व	तत्त्व	७८	१०
यशो	यशो	७८	२२
आध्यात्म	अध्यात्म	८०	८
कृति	कृति	८१	१०
गच्छ से	गच्छ के	८२	२१
विद्वान	विद्वान्	८३	२४
वाद की	वाद का	८४	१
ष्टुप	ष्टुप्	८५	११
ध्यायजो	ध्यायजो	८५	१२
परि	पारि	८६	२३
सत्व	सत्त्व	८७	१३
वन्द्रा	चन्द्रा	८७	१६
आन्नद	आनन्द	८८	२८
विद्वान	विद्वान्	८९	३
लक्ष्मी	लक्ष्मी	९०	१
अकेक	अनेक	९२	१५
नवम्	नवम	९२	१७
द्धात	द्घात	९४	२
शिला	शीला	९४	२
संग्रही	संगृही	९६	४
सग्रही	संगृही	९७	१२
पस्य	परस्य	९८	२५
होना	होनी	१००	१८
संग्रही	संगृही	१००	२५
पन्यास	पंन्यास	१०१	६
वर्षे	वर्षे	१०५	४
सौमे	सोमे	१०५	४
खिलने	लिखने	१०५	७
तपाच्छी	तपागच्छी	१०५	२०
साब्दे	सद्धि	१०५	२७
रप	रपा	१०५	२७
षट	षट्	१०६	२६
निशिर्न	निशिन	१०९	६
सट्ट	सट्टा	११०	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
सर	सरा	१११	१
र्थाक	र्थाके	११२	२३
उसको	उसकी	११२	२५
विम्रय	दिय	११३	२३
हाप्पभ	हापभि	११३	२३
तिइओ	तिईओ	११३	२३
ते कालि	तेकालि	११३	२५
वृत्य	वृत्य	११४	१२
ग्रहादिता	ग्रड्ढादित्ता	११४	१७
निव्वित्ति	निव्विति	११५	१४
उम्म	न उम्म	११६	११
गडइरि	गड्डुरि	११६	१२
बाला	बाना	११७	१४
रहस्य	हास्य	११८	२
बवी	बकी	११८	३
वाले	वालों	११८	१२
ऊक्त	उक्त	११८	२५
यारी को	यारी की	११९	२६
पूछं	पुछं	१२०	७
सड्डा	सड्ढा	१२०	९
पूछता	पूछाता	१२०	१९
में दर्शन			
शब्द से प्रति	में प्रति	१२४	२
ज्ञान	ज्ञानों	१२४	७
युक्त	मुक्त	१२५	३
उपयोग	प्रयोग	१२५	२१
प्ररि	परि	१२७	११
अठार	अठारह	१२८	१२
बालु	बाहु	१३२	२०
पेरिसी	पोरिसी	१३४	१५
गांधी का	गांधी की	१३६	१६
प्राकृत	प्रकृत	१३९	२०
रहा	रेहा	१४०	४
पन्यास	पंन्यास	१४१	२१
"ठ"	"ढ"	१४५	२१
भन्ते	भंते	१४६	१८
कुक्कडि	कुक्कुडि	१४६	२५
रन्तु	रंतु	१४७	९
मुसुमूरणू	मुसुमुरणू	१५२	२५
नाध	नाथ	१५८	२३
थूभरजिण	थूभजिण	१६२	४
खैत	रैवत	१६७	१
खैत	रैवत	१६७	४
खैत	रैवत	१६७	७
हत्गिता	हत्गित्ता	१६८	५
विक्रय	विक्रम	१६८	१४
सारकर	मारक	१६८	१६
करने से	करने में	१७०	१०
पवत	पर्वत	१७२	३
ठेरी	ढेरी	१७३ (टिप्प.)	१
बक्रिया	बाक्रिया	१७४	२
ककेन्द्र	शक्रेन्द्र	१८०	२७
इससे	इसके	१८२	२८
महात्म्य	माहात्म्य	१८३	२
करता	करती	१८५	१४
आये	आयी	१८५	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
बोहिय	बोधिक	१६१	२५
समस	समय	१६२	२५
म रवाड	मारवाड़	१६५	१७
याक्षिणी	यक्षिणी	१६७	१८
यशादेव	यशोदेव	२०१	११
विप्रे:	विप्रै:	२०४	१८
टीक	ठीक	२०७	२०
कहना का	कहना।	२१०	२५
तानों	तानां	२१५	२१
यदि	यति	२२०	३
पद्य	पद्म	२२०	६
सविज्ञ	संविग्न	२२०	१७
लोपो	लोपी	२२२	४
ज्जाहिर	जाहिर	२२२	१३
मलिन	मलीन	२२३	७
मत	मतों	२२३	१०
दोस	दीस	२२७	१९
बीजीइं	बीजाइं	२३०	५
आदि की	आदि को	२३२	७
प्रति	प्रती	२३८	१६
श्चित	श्चित्त	२३८	१८
श्चित	श्चित्त	२३८	१९
श्चित	श्चित्त	२३८	२०
श्चितों	श्चित्तों	२३८	२८
श्चित	श्चित्त	२३९	५
वास्तावक	वास्तविक	२३९	१०
कथाएँ	कक्षाएँ	२३९	१४
श्चित	श्चित्त	२४०	२६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
गणावच्छे०	गणावच्छे०	२४१	९
हारों को	हारों का	२४२	१६
प्राचश्चित्त	प्रायश्चित्त	२४२	२७
प्रतेच्छका०	प्रतीच्छका०	२४३	५
समुद्रक	रामुद्गक	२४६	९
रिपेयरि०	रिपेरि०	२४६	१०
समुद्रक	समुद्गक	३४६	१३
कतियों	कृतियों	२४८	१
साधुओं को	साधुओं की	२५०	११
धक्तव्य	वक्तव्य	२५३	२६
फेयर	पेयर	२५४	१
नोटिस पढकर	नोटिस सिद्धिसूरिजी को दी जिसे पढकर	२५५	२२
सांवत्सरी	संवत्सरी	२५८	१६
एक	ऐक	२५८	२४
भोतियें	भींतियें	२६१	२४
तथाप	तथापि	२६५	४
माती	जाती	२६६	१८
संग्रहीत	संगृहीत	२७०	३
खण्डगम	खण्डागम	२७२	२०
संग्रहीत	संगृहीत	२८०	११
गद्य	गद्य	२८७	२५
धनञ्जय	धनञ्जय	३०७	२५
गुणमन्द्र	गुणचंद्र	३१४	१
गुणभद्र	गुणचंद्र	३१४	७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
तर्गके	तरीके	३१६	५	पत्रों	पादों	३२५	४
ामलता	मिलता	३२६	१३	शंकरांचार्य	शंकराचार्य	३२५	२७
घृताविकम्	घृतादिकम्	३३३	४	कर्मांणि	कर्माणि	३३१	२०
ग्रोशनस	ग्रौशनस	३१६	१२	धृतेन	घृतेन	३३३	५